मैक्समूलर लिखित

हम भारत से क्या सीखें ?

●

I N D I A

WHAT CAN IT TEACH US ?

MAX MULLER

●

अनुवादक

श्री कमलाकर तिवारी

एवम्

रमेश तिवारी

प्रकाशक

इतिहास प्रकाशन संस्थान

४६२, मालवीय नगर

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण] जुलाई १९६४ [मूल्य १० रुपये

प्रकाशक
गिरिधर शुक्ल
इतिहास प्रकाशन संस्थान
४६२, मालवीय नगर
इलाहाबाद

★

प्रधान वितरक
आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४१६ अहियापुर
इलाहाबाद

★

मुद्रक—
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
२५७, मीरापुर
इलाहाबाद

मैक्समूलर का संक्षिप्त जीवन चरित्र

फ्रेडरिक मैक्समूलर का जन्म Dessau मे सन् १८२३ ई० की छठवीं दिसम्बर को हुआ था। वह विख्यात कवि विलहेम मूलर का एकलौता पुत्र था। उसके जन्म के चार वर्ष पश्चात् सन् १८२७ ई० में ही मैक्समूलर के पिता की मृत्यु हो गई। प्रारम्भ में मैक्समूलर ने सगीत में पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की, परन्तु युवावस्था में प्रवेश करते करते उस पर मेन्डेलशान का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसे संगीत को अपना व्यवसाय बनाने के निश्चय से विरत होना पड़ा। अपने अध्ययन काल मे उसके हृदय में प्राचीन भाषाओ के प्रति अभिरुचि जागृत हुई। सन् १८४१ ई० में उसने लीपजिग विश्वविद्यालय मे प्रवेश किया और संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया। पहली सितम्बर सन् १८४३ ई० में उसने पी० एच० डी० की डिग्री प्राप्त कर ली, और १८४४ में विख्यात संस्कृत नीति-कथा-सग्रह 'हितोपदेश' का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। तत्पश्चात् वह बर्लिन चला गया जहाँ उसने नियमित रूप से बॉप एवम् शेलिंग के भाषण सुने, इसी समय से भाषा विज्ञान एवम् दर्शनशास्त्र उसके प्रिय विषय बने जिनके अध्ययन में वह आजीवन रुचि लेता रहा। सन् १८४५ में वह बर्लिन से पेरिस चला गया जहाँ उसे यूजीन बरनोफ ने अत्यधिक प्रभावित किया। उसी के परामर्श से मैक्समूलर ने ऋग्वेद की आदि-प्रतिलिपि को प्रामाणिक रूप मे प्रस्तुत करने के ध्येय से आवश्यक सामग्रियों के संग्रह का कार्य आरम्भ किया। जिस समय वह इस महत् एवम् दुष्कर कार्य मे व्यस्त था, उसे अपनी आजीविका का भी प्रबन्ध करना पड़ता था, वह पाण्डुलिपियो की प्रतिलिपियाँ तैयार करके तथा अन्य ढगों से छात्रों की सहायता करके जो कुछ अर्जित कर लेता था, उसी से काम चलाना पड़ता था। सन् १८४६ में वह इंगलैण्ड गया, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड आव डाइरेक्टर्स ने Sayana के भाष्य सहित ऋग्वेद को पूर्णरूप में प्राप्त करके ले आने के लिए कम्पनी के व्यय से ही उसे भारत भेज दिया। पाण्डुलिपियों को एकत्रित करने के लिए मैक्समूलर सन् १८४८ ई० मे पुनः पेरिस गया, परन्तु इसी समय फ्रान्स में क्रान्ति हो गई, और अपनी पाण्डुलिपियों की सुरक्षा के प्रति चिन्तित होकर वह तुरन्त लन्दन लौट आया।

उसके लन्दन लौटते ही आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस ने मैक्समूलर की पाण्डुलिपियों के प्रथम अंक का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। अतः मैक्समूलर ने अब स्थायी रूप से ऑक्स

फोर्ड में ही रहना आवश्यक समझा, और इसके पश्चात् उसका शेष जीवन आक्सफोर्ड में ही व्यतीत हो गया। सन् १८५० ई० में उसे आधुनिक यूरोपीय भाषाओं का डिपुटी टेलोरियन प्रोफेसर नियुक्त कर दिया गया। सन् १८५४ में उसकी पदोन्नति हो गई और वह प्रोफेसर हो गया। सन् १८५९ ई० में उसकी 'हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिएन्ट संस्कृत लिटरेचर' प्रकाशित हुई; इस ग्रन्थ में संस्कृत साहित्य के कालानुक्रम के सम्बन्ध में प्राप्त की गई अमूल्य एवम् पर्याप्त महत्वपूर्ण खोजों का विवरण दिया गया है; ये खोजें उन अनेक संस्कृत ग्रन्थों के गहन अध्ययन पर आधारित हैं जो उस समय पाण्डुलिपियों के रूप में ही उपलब्ध थीं।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफेसर एच० एच० विल्सन की मई सन् १८६० ई० में मृत्यु हो गई। उसकी योग्यता तथा प्रकाशित ग्रन्थों के कारण उक्त रिक्त पद पर सबसे अधिक एवम् उचित अधिकार मैक्समूलर का ही था, और उसे अपनी नियुक्ति की पर्याप्त आशा भी थी, परन्तु वह एक विदेशी था, और धार्मिक प्रश्नों के प्रति उसके विस्तृत दृष्टिकोण से सभी लोग परिचित थे; इस पद के चुनाव का उत्तरदायित्व धर्माधिकारियों के ऊपर छोड़ दिया गया था। आक्सफोर्ड क्षेत्र के पादरी ने मैक्समूलर के विपक्ष में मत दिया; मैक्समूलर ने इसे अपनी योग्यता का अपमान समझा और उक्त निर्णय से उसे अत्यन्त मर्मवेदना हुई।

अब आक्सफोर्ड के पक्षपातपूर्ण वातावरण से हतोत्साहित होकर मैक्समूलर अपनी सारी योग्यता एवम् पूर्ण परिश्रम के साथ किसी अन्य संस्था में नियुक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न में लग गया। सन् १८६१ और १८६३ ई० में उसने रायल इन्स्टीट्यूशन में 'साइन्स आव लैंग्वेज' (भाषा का विज्ञान) पर कुछ भाषण दिए जिनके कारण इंग्लैण्ड में उसके अधिकारिक ज्ञान की काफी धाक जम गई तथा वह अपनी आश्चर्यजनक रूप से सरल परन्तु स्पष्ट अभिव्यक्ति तथा शुष्क विषयों को भी आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने के गुणों के कारण काफी प्रसिद्ध हो गया। सन् १८६७ ई० में उसने 'साइन्स आफ थाट' (विचार विज्ञान) पर भी भाषण दिए जिनका विषय भाषा विज्ञान की श्रेणी का ही था। सन् १८६८ ई० में उसने टेलोरियन प्रोफेसर के पद से मुक्ति प्राप्त कर ली और उसी वर्ष से तुलनात्मक भाषा विज्ञान का प्रोफेसर हो गया। अब वह तुलनात्मक माइथालोजी के विषयों पर भी विस्तृत एवम् गम्भीर लेख लिखने लगा परन्तु, यद्यपि समय के प्रभाव के आगे उक्त विषय पर लिखी गई उसकी रचनाएँ स्वयम् को स्थिर रख सकने में भले ही समर्थ नहीं हो सकीं, फिर भी उनके रचनाकाल में उनको पढ़कर लोगों के हृदय में इस विषय पर भी अध्ययन करने की उत्कंठा जागृत हुई, यही बात क्या कम महत्व रखती है? तुलनात्मक धर्मशास्त्र के क्षेत्र में भी

नेतृत्व ग्रहण करने का सम्मान उसी को प्राप्त हुआ क्योंकि वह उक्त विषय का प्रथम हिब्बर्ट लेक्चरर था। इसी पद पर रहकर उसने सन् १८७८ ई० में 'ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव रिलीजन' (धर्म की उत्पत्ति एवम् प्रगति) पर अनेक वक्तव्य दिए, और सन् १८८८ से १८९२ तक के लिए हिब्बर्ट के लेक्चरर के रूप में उसे पुनः चुन लिया गया। सन् १८७५ ई० मे कम्परेटिव फिलोलाजी (तुलनात्मक भाषा विज्ञान) के प्रोफेसर के पद का त्याग कर देने के पश्चात् उसने सम्भवतः अपने जीवन के महानतम् एवम् सर्वाधिक महत्व पूर्ण कार्य में हाथ लगाया, और वह था 'सैक्रेड बुक्स आव द ईस्ट' जैसे विशाल ग्रन्थ का आयोजन एवम् सम्पादन। इस ग्रन्थ में कुल इक्यावन अक है जिनमे से तीन सम्पूर्ण अंकों तथा दो अकों के कुछ अशों की रचना मैक्समूलर ने स्वयम् की थी।

इस महान ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् भी वह सस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन में जुटा रहा। ऋग्वेद मन १८७३ ई० से समाप्त हो चुका था, सन् १८९२ ई० मे उसका द्वितीय सशोधित संस्करण प्रकाशित किया गया। एनेक्डोटा आक्सोनियोशिया के अन्तर्गत उसने आर्यन सीरीज का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसमे से चार का प्रकाशन उसने स्वयम् किया था, तथा अन्य तीन अका की आयोजना मे सक्रिय सहयोग दिया था, इस सीरीज के सभी अक सन् १९०० ई० से पूर्व ही प्रकाशित हो चुके थे। कम्ब्रिज मे सन् १८८२ ई० में उसने 'इन्डिया, ह्वाट कैन इट टीच अस' पर जो वक्तव्य दिए थे, उन्हें सन् १८८३ ई० में पुस्तक रूप मे प्रकाशित कर दिया गया। सस्कृत के अध्ययन के लिए आक्सफोर्ड मे आए हुए विद्यार्थियों की वह प्रत्येक सम्भव सहायता करता था, और उन्हे अध्ययन के तरीकों के सम्बन्ध में उचित परामर्श देता था। उसके द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें ये हैं :—

(१) 'चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप' :—इसमें उसके अनेक लेख संग्रहीत है जिन्हें उसने विभिन्न अंग्रेजी पत्रिकाओं के लिए लिखा था, (२) 'आल्ड लैंग साइन' (खण्ड १, १८९८ ई०, खण्ड २, १८९९ ई०), इस पुस्तक का विषय प्राचीन काल के अवशेष हैं। और (३) 'ड्यूट्श लीबे' (सन् १८५७ ई०) यह एक जरमन रोमान्स है जिसका अनु बाद कई अन्य यूरोपीय भाषाओं मे हो चुका है।

एक व्यस्त पाठक एवम् अनेक विस्तृत ग्रन्थों का लेखक तथा सम्पादक होने के साथ साथ मैक्समूलर मे व्यावहारिकता का अभाव भी नही था। तत्कालीन यूरोप के लगभग समस्त प्रसिद्ध व्यक्तियो से उसका प्रगाढ़ परिचय था जिनमें अनेक मुकुटधारी भी थे। उसके सामाजिक गुणों के कारण प्रायः मैक्समूलर से सभाओं एवम् परिषदों का अध्यक्ष पद ग्रहण करने का अनुरोध किया जाता था। प्रायः सभी यूरोपीय देशो ने उसे तरह-तरह की डिग्रियो एवम् उपाधियो से सम्मानित किया था।

उसकी मृत्यु आक्सफोर्ड मे सन् १९०० ई० की २८ वीं अक्टूबर को हुई।

कैम्ब्रिज विश्व विद्यालयान्तर्गत

कार्पस क्राइस्ट कालेज के फेलो

तथा संस्कृत के प्रोफेसर

श्री ई० बी० कावेल,

एम० ए०, एल-एल० डी०

को

सादर समर्पित

प्रिय कावेल,

यदि आप द्वारा मुझे प्रोत्साहन न मिला होता तो न तो मुझे इस प्रकार भाषण करने का ही सौभाग्य मिला होता और न ये लिखे ही गये होते। इसीलिये मुझे अवश्य ही इस बात की अनुमति प्रदान करेंगे कि इन भाषणों का मुद्रित रूप मैं आपको ही समर्पित करूँ। इस समर्पण का कारण केवल यही नहीं है कि आप प्राच्य विद्याओं के उद्भट विद्वान हैं, वरन इसका कारण यह भी है कि मैं अपने तथा आपके बीच पिछले तीस वर्षों से निर्बाध चली आते रहने वाली मित्रता को इस समर्पण द्वारा और भी बल देने का इच्छुक हूँ। हमारी यह मित्रता दिनानुदिन सुदृढ से सुदृढतर होती चली आ रही है, कितनी ही बाधाओं का सफल सामना करने के पश्चात् हमें ऐसी आशा है कि हम दोनो में थोडा स्थानीय व्यवधान के होते हुये भी हमारा सौहार्द सुदृढतर ही होता जायगा।

इन भाषणों को जो म आपको समर्पित कर रहा हूँ, आप उसका यह अर्थ कदापि न लगावें कि इन भाषणों से उत्पन्न किसी भी प्रकार का उत्तरदायित्व मैं आपके कन्धों पर डाल रहा हू। नहीं, इन भाषणों म प्रस्तुत दृष्टिकोण एवम् उसके यथार्थ विषय मेरे ही हैं, तथा मै ही उनके लिये अन्तिम रूप मे उत्तरदायी रहूंगा। मे जानता हूँ कि प्राचीन भारत के धर्म और साहित्य पर मेरा जो दृष्टिकोण है, उससे आप सहमत नहीं हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि प्राचीन भारतीय साहित्य को जितना प्राचीन मैंने बताया है, उसे उतना प्राचीन मानने को कोई भी तैयार नहीं है, इस विषय में केवल म ही अपना समर्थक हू। मै आपको विश्वास दिलाता हू कि यदि साहित्य एवम् विज्ञान का भी कोई न्यायालय होता है तो, उस न्यायालय मे आप द्वारा प्रस्तुत अपने भाषणों की तथा अपने दृष्टिकोण की कटुतम् समालोचनाओं को मैं अपने दोनो की मित्रता का प्रमाण ही मानता। मुझे यह भी कहना चाहिये कि यदि आप मेरे मित्र है (और मैं अपनी मित्रता में सुदृढतम आस्था रखता हू) तो अवश्य ही आप उन मान्यताओं की आलोचना करेंगे। मैं अपने समूचे जीवन भर इसी विश्वास के साथ काम करता चला आ रहा हूँ कि चरित्रवान् तथा निर्णय सक्षम विद्वानों (स्मरण रक्खें कि केवल विद्वान ही नहीं) द्वारा की गयी मेरे कार्यों की आलोचनायें ही मेरे लिये गौरव का कारण है। आलोचनायें कटुतम् हों तो और भी अच्छा है, यदि वे खोज पूर्ण भी हों। अपने पूरे जीवन में मैंने इसी दृष्टिकोण को अपनाने

का यथासाध्य प्रयत्न किया है कि हर मूल्य पर मैं तथ्यों का सही निरूपण कर सकूं, भले ही वे स्वयम् मेरे ही विपरीत क्यों न पड़ते हों। थोथी प्रशंसा एवम् अकारण आलोचना को मैंने कभी भी ध्यान देने योग्य नहीं समझा है। जो भी विद्वान अपने कार्यों में स्वस्थ दृष्टिकोण एवम् पक्षपात हीनता से तत्पर होता है, वह प्रशंसा एवम् निन्दा से परे हो जाता है। अपना दृष्टिकोण ही उसके लिये उस अभेद्य कवच का काम देता है, जो हर प्रकार की प्रशंसा एवम् निन्दा के लिए तो अभेद्य है परन्तु प्रकाश की एक क्षीणतम किरण भी उसे अति सरलता से भेद जाती है, चाहे वह प्रकाश किरण जिस किसी भी भाग अथवा दिशा से आये। विद्वान का तो लक्ष्य है, और अधिक प्रकाश, पूर्ण सत्य, और भी अधिक तथ्यों का प्रकाशन तथा उन तथ्यों का क्रमपूर्ण पूर्वापर सम्बन्ध। बहुत से पूर्ववर्ती विद्वान अपनी लक्ष्य प्राप्ति में असफल हो चुके हैं, आगे के विद्वानों के लिये भी असफलता की सम्भावनायें हैं, परन्तु यदि वह असफल भी हो जाय तो वह जानता है कि प्रारम्भ की असफलतायें ही सफलता का मार्ग प्रशस्त करती हैं। इस क्षेत्र का यह भी एक सर्व मान्य नियम है और प्रत्येक अनुसन्धानकर्ता इस बात को जानता-मानता है कि प्रायः जिसे दुनिया पराजित घोषित कर देती है, वही वास्तविक विजेता है। अनेकानेक साधकों, विचारकों एवम् दार्शनिकों के उदाहरण हमारे सामने हैं, जिन्हें उनके समकालीन संसार ने मृत्यु दण्ड तक दे डाला, परन्तु आगे वाली पीढ़ी ने उन्हें महान् कह कर सर व आँखों पर बिठाया।

आज संस्कृतानुरागियों की जो स्थिति है, उसे आपसे अधिक कोई भी नहीं जानता। आप यह भी जानते हैं कि आज भी और निकट भविष्य में भी संस्कृत का अध्ययन करने का तात्पर्य होगा संस्कृत में अनुसन्धान करना तथा प्राप्त तथ्यों का क्रमपूर्ण निरूपण करना। स्वयम् आप की ही प्रत्येक कृति आपको प्रगति पथ में एक डग आगे की ओर ले जाती है और आपका उठने वाला प्रत्येक पग सर्वथा नवीन भूमि पर ही पड़ता है और जिस किसी भी भूमि पर आपके चरण पड़े हैं, वह न केवल आपके लिये वरन् अनेकों के लिये सुपरिचित सी हो उठी है। फिर भी आप जानते हैं कि संस्कृत साहित्य के विशाल भंडार के एक कोने से भी हम लोग अभी तक पूर्ण परिचित नहीं हो सके हैं। हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि इस क्षेत्र का अधिकांश भाग अभी तक अनुसन्धान प्रेमियों की प्रतीक्षा में आँखें बिछाये बैठा है। इसमें सन्देह नहीं कि इस क्षेत्र का अनुसन्धान असुविधा पूर्ण है, कष्टपूर्ण भी कम नहीं है, निराशाओं का भी सामना प्रायः करना पड़ सकता है, परन्तु प्रत्येक अनुसन्धान प्रेमी युवक को डा० बर्नेल के उन शब्दों में निहित सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, जो भारतीय सिविल सर्विस के एक प्रख्यात नामा सदस्य के रूप में उन्होंने कहा है, "ऐसा कोई भी कष्ट व्यर्थ नहीं जाता, जिससे दूसरों का कष्ट दूर होता हो।" हमें डा० बर्नेल की मृत्यु का अत्यधिक दुःख है। हमको आवश्यकता है ऐसे युवकों की जो कठिन श्रम कर सकें भले ही उनके श्रम के व्यर्थ चले जाने की अत्यधिक

सम्भवनायें हों। हमें ऐसे साहसी युवकों की आवश्यकता है जो न तो तूफानों से घबरायें और न यान के भग्न हो कर डूब जाने के भाव से आतंकित हों। हमें ध्यान रखना होगा कि जहाज के साथ डूब जाने वाला प्रत्येक नाविक अयोग्य ही नहीं होता। वास्तविक अयोग्य तो वह है जो जहाज डूब जाने की आशंका से संत्रस्त हो कर किनारे पर ही बैठा रहता है और सागर के जल से अपने पैरों को भी बचाता रहता है।

आज सर विलियम जोन्स के श्रमसाध्य कार्यों की आलोचना करना सरल हो गया है। हम कोलब्रुक, तथा होरेसहेमैन विल्सन के कार्यों पर भी टीका टिप्पणी कर सकते हैं और यदा कदा करते भी रहते हैं। परन्तु जरा सोचिये कि जिस क्षेत्र में पग रखते हुये आज के नवयुवक भी आतंकित हो उठते हैं, उस संस्कृत साहित्य के प्रति हमारे ज्ञान की स्थिति क्या होती, यदि उपरोक्त महाशयों ने अपने निरन्तर अध्यवसाय से इस दुर्गम मार्ग को सुगम न बना दिया होता? और यदि हमारी ज्ञान सीमा केवल इन विद्वानों द्वारा प्रकाशित क्षेत्र तक ही मर्यादित रह जाय तो संस्कृत साहित्य में निहित अक्षय ज्ञान कोष का ही हमारे लिये क्या उपयोग रह जायगा? आप जानते हैं कि नल एवम् शकुन्तला के उपाख्यानों के अतिरिक्त भी संस्कृत साहित्य में अभी न जाने कितना ज्ञातव्य शेष है। हमारे देश के उन नवयुवकों में साहसिकता का भी अभाव नहीं है, जो प्रतिवर्ष एक लम्बे समय के लिये भारत जाया करते हैं। तब हमारी कार्य प्रणाली ऐसी क्यों हो जाय कि संसार के लोग यह कहने का अवसर पायें कि इंग्लैंड में साहसी एवम् अध्यवसायी अनुसन्धान कर्ताओं की परम्परा ही समाप्त हो गयी है। हमें स्मरण रखना होगा कि भारतीय नागरिक प्रशासन (इंडियन सिविल सर्विस) के अधिकारियों की ख्याति समूचे संसार में है। हमें संसार को यह कह सकने की स्थिति में नहीं होने देना चाहिये कि जिस इंग्लैंड ने भारत की प्राचीन भाषाओं, साहित्य एवम् इतिहास में खोज करने की न केवल प्रेरणा एवम् स्फूर्ति ही दी वरन् इस क्षेत्र के कार्यकर्ताओं को सर्वाधिक अवसर एवम् सुविधायें भी प्रदान कीं, वही देश अब संस्कृत साहित्य के विद्वानों की अगली पंक्ति में नहीं रह गया है।

यदि हमारा भाषण सुनने वाले भारतीय नागरिक प्रशासन के इन छात्रों में से कुछ के भी मन में इस प्रकार का निश्चय हो गया कि वे इस प्रकार के अपवाद को अवश्य ही धो डालेंगे, यदि वे सर विलियम जोन्स के पद चिह्नों पर चलने का निश्चय करलें और वे संसार को यह दिखा देने को कटिबद्ध हो जायें कि जिस इंग्लैंड ने अपने निरन्तर किये गये प्रयत्नों द्वारा भारत पर भौतिक विजय प्राप्त की है, वह भारत पर बौद्धिक विजय का सेहरा किसी अन्य देश के सिर पर नहीं रखने देगा, तो मुझे वास्तविक आनन्द प्राप्त होगा और मैं यह समझूंगा कि जिस देश ने हमें पोषण दिया है तथा जिस देश के कितने महान् राज नीतिज्ञों एवम् कर्मचारियों ने मुझ को आगे बढ़ने का अलभ्य अवसर प्रदान किया है, उनका

ऋण मैंने बहुत अंशों में चुका दिया। इस देश ने जितना कुछ मेरे लिये किया है, वह अन्यत्र सम्भव नहीं था। यहीं आकर मेरे जीवन के अनेक स्वप्न पूरे हुये हैं। यदि इस देश ने मुझे सहारा न दिया होता तो न तो ऋग्वेद ही प्रकाशित हो सकता जो आर्यन भाषा का सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ है और न मेरे द्वारा किया गया उसका भाष्य ही। पूर्व के पवित्र ग्रंथों का अनुवाद तो अन्यत्र सम्भव ही नहीं था। यदि मेरे भाषणों का प्रभाव उप-रोक्त ढंग का हुआ तो मुझे यह समझ कर सन्तोष हो जायगा कि मैंने भी इंग्लैंड के लिये कुछ किया।

मैंने इन भाषणों का आकार प्रकार उसी रूप में रहने दिया है, जिस रूप में वे कैम्ब्रिज में दिये गये थे। मुझे उपदेशात्मक निबन्धों का भाषण रूप ही विशेष प्रिय है। जिस प्रकार प्राचीन काल के यूनान में वार्तालाप द्वारा अभिव्यंजना ही जनता के बौद्धिक जीवन की अभिव्यंजना थी और जिस प्रकार मध्य काल में मठाधीशों द्वारा दी गयी लम्बी वक्तृतायें ही विद्या का मूल हुआ करती थी, उसी प्रकार वर्तमान काल में दिये गये व्याख्यान ही लेखक को इस स्थिति में रखने योग्य होते हैं कि वह अपनी बात अपने साथियों के समक्ष स्पष्टता पूर्वक रख सके। इसमें सन्देह नहीं कि असुविधायें इसमें भी हैं। उपदेशात्मक व्याख्यानों में कितनी ही बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें पूर्णता प्रदान करने के लिये बार-बार कहा जाता है यद्यपि श्रोतागण को उनकी जानकारी होती है। कई बातें ऐसी भी होती परन्तु हम इसलिये उन्हें श्रोताओं के समक्ष नहीं रखते कि हम स्वयम् ही अपने को इस कार्य के लिये असमर्थ समझते हैं कि उन्हें स्पष्टता पूर्वक लोगों के समक्ष रख सकें।

अन्त में मैं यह भी स्वीकार कर लेना अपना कर्तव्य समझता हूं कि मैं उतना अधिक नहीं कह पाया जितना मैं कहना चाहता था। विशेष कर अपने द्वारा कही गयी कितनी ही बातों का प्रमाण भी मैं प्रस्तुत करना चाहता था और इसीलिये इस पुस्तक में मुझे स्थान स्थान पर टिप्पणियों का सहारा लेने की आवश्यकता प्रतीत हुई है, जो देखने में तो यद्यपि क्रमहीन प्रतीत होती हैं परन्तु पाठकों के मस्तिष्क के लिये वे अवश्य ही प्रेरक एवम् उत्साह दायिनी होंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

आपका स्नेह भाजन

एफ़० मैक्स मूलर

आक्सफोर्ड

दिसम्बर, १६;१८८२

अनुवादक का वक्तव्य

वर्तमान युग पुस्तकों का युग है। विद्या की नित नवीन बढ़ती शाखाओं प्रशाखाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये पुस्तकों की उपयोगिता के विषय में दो मत हो ही नहीं सकते।

हम भारतीय हैं, हमारी सभ्यता प्राचीन है, अति प्राचीन। हमारा प्राचीन अति उज्वल था और हम आज भी उससे अनेक दिशाओं में प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। आश्चर्य का विषय है कि हमारी अपनी उज्वलता का ज्ञान हमें पाश्चात्यों के माध्यम से मिल रहा है। इस विषय में हम चिरऋणी हैं और रहेंगे उन पाश्चात्य विद्वानों के जिन्होंने हमें ऐसी दृष्टि दी, जिसके बल पर हम अपने ही अतीत को देख पाने में समर्थ हो रहे हैं। पिछले दो सौ वर्षों के भीतर पाश्चात्य विद्वानों ने आर्य भाषा एवम् साहित्य में जिन बातों का पता लगाया है वे मानव ज्ञान के विकास के इतिहास पर आश्चर्य जनक प्रकाश डालती हैं।

यह बात प्रायः अठारहवीं शती के अन्तिम दशकों की है जब सर विलियम जोन्स ने कालिदास के शकुन्तला का अनुवाद करके पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान संस्कृत भाषा एवम् उसके लालित्य की ओर आकर्षित किया। उन्होंने मनुस्मृति को भी अनूदित किया परन्तु उनका ध्यान महात्मा बुद्ध के परवर्ती साहित्य में ही लगा रह गया और फलस्वरूप वे पूर्व-वर्ती साहित्य का अवगाहन न कर सके, जिसमें इतिहास की अमूल्य निधि संचित थी।

कोलब्रुक साहब का ढंग भी जोन्स जैसा ही रहा और यद्यपि उन्होंने सन् १८०५ ई० में योरप के विद्वानों का साधारण परिचय आर्य जाति के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद से कराया, किन्तु वे स्वयम् भी न जान सके कि उनकी उपलब्धि कितनी मूल्यवान् थी। इसके बाद नम्बर आता है डाक्टर एच० एच० विल्सन का, जिन्होंने यद्यपि ऋग्वेद संहिता को अँगरेजी में अनूदित किया किन्तु वे अधिकांश परवर्ती साहित्य में ही रुचि लेते रहे।

इसी समय में फ्रांस के बर्नाफ साहब ने जिन्द भाषा और वैदिक संस्कृत के पारस्परिक सम्बन्धों का पता लगाया और एक तारतम्यात्मक व्याकरण की रचना की। उनके इस कार्य ने योरप में लगभग पचीस वर्षों तक (१८२६ से १८५१) एक बड़े बौद्धिक आन्दोलन को जन्म दिया। उनके दो शिष्यों अर्थात राथ साहब तथा मैक्समूलर ने उनके कार्य को चालू रक्खा। जर्मनी के रोजन साहब ने ऋग्वेद के पहले अष्टक को लैटिन भाषा में सानुवाद प्रकाशित किया।

बाद में बाप, ग्रिम और हमबोल्ट ऐसे विद्वानों की बुद्धि इस कार्य पर लगी और उन लोगों ने सारी इन्डोआर्यन भाषाओं (संस्कृत, जिन्द, ग्रीक, लैटिन, स्लाव, टयूटन और केल्टिक) में परस्पर के सम्बन्ध का पता लगाया। उन्होंने स्थिर किया कि ये सारी भाषाएँ किसी एक ही भाषा से निकली हैं। एक भाषा का शब्द दूसरी भाषा में जाकर कैसे रूपान्तरित हो जाता है, उसका भी पता इन्हीं लोगों ने लगाया। यूरोप के अन्य विद्वानों को ये मान्यताएँ पहले तो उपहास जनक लगीं, क्योंकि वे तो माने बैठे थे कि संसार की सब उन्नति और सभ्यता का प्रारम्भ लैटिन से हुआ है: परन्तु अन्त में उन्होंने बड़े ही क्रोध और दुःख के साथ इसे कटु सत्य के रूप में स्वीकार किया।

धीरे धीरे संस्कृत में निहित निधि की जानकारी बढ़ती गयी और अधिकाधिक विद्वानों का ध्यान प्राचीन हिन्दू साहित्य की व्याख्या करने की ओर आकर्षित होने लगा। राथ साहब ने यास्क को अपनी टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया। इसके पश्चात् तो वैदिक साहित्य पर शोध ग्रन्थों का तांता लग गया, जिनकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है :—

१—राथ तथा व्हिटनी द्वारा सम्पादित	अथर्ववेद
२—राथ बोंटलिंक द्वारा प्रस्तुत	संस्कृत भाषा का कोष
३—वेबर साहब द्वारा प्रकाशित	शुक्ल यजुर्वेद तथा उसके ब्राह्मण और सूत्र
४—" " प्रस्तुत	हिन्दू साहित्य का इतिहास
५—बेनफी साहब द्वारा सम्पादित	सामवेद
६—म्योर साहब द्वारा प्रकाशित	ऐतिहासिक पाठों का संग्रह (पांच भागों में)

अन्त में प्रोफेसर मैक्समूलर ने सन् १८५९ ई० में समस्त प्राचीन संस्कृत साहित्य को तिथि क्रम से ठीक किया। इसके बाद ही उन्होंने ऋग्वेद संहिता का संस्करण किया जो सायण की टिप्पणियों के संग प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक का भारतवर्ष में बड़ी कृतज्ञता के साथ स्वागत हुआ। यह बृहद् एवम् प्राचीन ग्रन्थ तब तक जनसाधारण के लिये शास्त्रालों में बन्द था। इस ग्रन्थ के सुलभ होने से अनेक छात्रों के मन में अपना प्राचीन इतिहास एवम् धर्म जानने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। अब यह कार्य कठिन भी नहीं रह गया था।

इस समय तक भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना सुदृढ़ हो चुकी थी। सन् ५७ का विप्लव असफल रहा था और अँगरेजी शक्ति भारत में ही नहीं संसार में अजेय हो चुकी थी। भारतीय नागरिक प्रशासन (Indian Civil Service) के कर्मचारी सब अँगरेज ही होते थे। जब वे वहाँ से भारत प्रवास के लिये चलते थे तो उन्हें यही लगता

था कि उनका वनवास हो रहा है। भारतीयों को अज्ञानी, बेईमान, झूठा, जगली और अविश्वसनीय मान कर ही वे भारत के लिये प्रस्थान करते थे। मैक्समूलर ने उन्हीं छात्रों के सामने सात भाषण दिये थे। इन भाषणों में उन अनेक मान्यताओं को निर्मूल करने का सफल प्रयास किया गया है जो अँगरेजों के मन में भारत एवम् भारतीयों के विषय मे बन चुकी थीं। पुस्तक की उपादेयता समझ कर ही श्री गिरिधर शुक्ल जी ने इस पुस्तक के अनुवाद का कार्य मेरे हाथों में दिया। अब तक मैं इतिहास के दो एक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद कर चुका था और वे प्रकाशित भी हो चुके थे, फलस्वरूप इस पुस्तक के अनुवाद कार्य को हाथ में लेते हुए मुझे किसी प्रकार की हिचकिचाहट न हुई और मैने सहज रूप से ही कार्य में हाथ लगा दिया। दो चार पृष्ठों का अनुवाद करने में ही मेरी योग्यता जवाब देने लगी और हमारा शब्द कोश अक्षम सा प्रतीत होने लगा। कई बार तो ऐसी इच्छा हुई कि यत्रतत्र पुस्तक के मूल रूप को ही पाठकों के सामने रख दू परन्तु "विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारम्भ चोत्तमजनाः न परित्यतन्ति" के अनुसार मैंने भी आगे बढने का प्रयास किया और फल स्वरूप मैक्समूलर की इस अनुपम कृति का अनुवाद जैसा भी बन सका है, आपके हाथों में है।

इस कार्य में जहाँ-जहाँ उलझा हूँ, उन स्थानों का थोड़ा सा स्पष्टी करण शायद पाठकों के लिये भी आवश्यक हो, यही समझ कर अपनी सामर्थ्यानुसार कुछ शब्दों का स्पष्टी करण दे देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। अस्तु।

वेद हमारा ही है, फिर भी न जाने किन चक्करों मे फँस कर हम लोग वेद एवम् वैदिक साहित्य से बहुत दूर जा पड़े हैं—इतनी दूर कि पीछे लौट कर अपनी ही वस्तु को देख सुन लेना असम्भव सा हो चला है। यदि ऐसा न होता तो इन पंक्तियों की आवश्यकता ही क्या थी?

अनूदित पुस्तक में अनेक स्थलो पर कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द आये है, जिनका अर्थ समझने में थोड़ी कठिनाई हो सकती है। वेद एक ऐसा ही शब्द है। इतिहासों में पढ़ पढ कर हमने वैदिक सभ्यता की बातें जान ली हैं, पर स्वयम् वेद क्या हैं, इनके बारे में जन सामान्य की जानकारी नहीं के बराबर है। वास्तव मे ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम् साहित्य है। इस समय ग्रन्थाकार में उसका जो रूप प्राप्त है, उसमें १०२८ सूक्त हैं। एक एक सूक्त में प्रायः दस-दस ऋचाएँ हैं, कहीं कम भी हैं और कहीं अधिक भी। ये सूक्त १० मण्डलों में बँटे हैं। प्रथम और दशम मण्डलों में क्रमशः १६१ तथा १६११ सूक्त हैं, जिनके बारे में विश्वास किया जाता है कि ये विभिन्न ऋषियों द्वारा रचे गये गये हैं। शेष

बाद में बाप, ग्रिम और हमबोल ऐसे विद्वानों की बुद्धि इस कार्य पर लगी और उन लोगों ने सारी इन्डोआर्यन भाषाओं (संस्कृत, जिन्द, ग्रीक, लैटिन, स्लाव, ट्यूटन और केल्टिक) में परस्पर के सम्बन्ध का पता लगाया। उन्होंने स्थिर किया कि ये सारी भाषाएँ किसी एक ही भाषा से निकली हैं। एक भाषा का शब्द दूसरी भाषा में जाकर कैसे रूपान्तरित हो जाता है, उसका भी पता इन्हीं लोगों ने लगाया। यूरोप के अन्य विद्वानों को ये मान्यताएँ पहले तो उपहास जनक लगीं, क्योंकि वे तो माने बैठे थे कि संसार की सब उन्नति और सभ्यता का प्रारम्भ लैटिन से हुआ है: परन्तु अन्त में उन्होंने बड़े ही क्रोध और दुःख के साथ इसे कटु सत्य के रूप में स्वीकार किया।

धीरे धीरे संस्कृत में निहित निधि की जानकारी बढ़ती गयी और अधिकाधिक विद्वानों का ध्यान प्राचीन हिन्दू साहित्य की व्याख्या करने की ओर आकर्षित होने लगा। राथ साहब ने यास्क को अपनी टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया। इसके पश्चात् तो वैदिक साहित्य पर शोध ग्रन्थों का तांता लग गया, जिनकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है :—

१—राथ तथा ह्निटनी द्वारा सम्पादित	अथर्ववेद
२—राथ बोंटलिंक द्वारा प्रस्तुत	संस्कृत भाषा का कोष
३—वेबर साहब द्वारा प्रकाशित	शुक्ल यजुर्वेद तथा उसके ब्राह्मण और सूत्र
४—" " प्रस्तुत	हिन्दू साहित्य का इतिहास
५—बेनफी साहब द्वारा सम्पादित	सामवेद
६—म्योर साहब द्वारा प्रकाशित	ऐतिहासिक पाठों का संग्रह (पांच भागों में)

अन्त में प्रोफेसर मैक्समूलर ने सन् १८५६ ई० में समस्त प्राचीन संस्कृत साहित्य को तिथि क्रम से ठीक किया। इसके बाद ही उन्होंने ऋग्वेद संहिता का संस्करण किया जो सायण की टिप्पणियों के संग प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक का भारतवर्ष में बड़ी कृतज्ञता के साथ स्वागत हुआ। यह बृहद् एवम् प्राचीन ग्रन्थ तब तक जनसाधारण के लिये शाल-तालों में बन्द था। इस ग्रन्थ के सुलभ होने से अनेक छात्रों के मन में अपना प्राचीन इतिहास एवम् धर्म जानने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। अब यह कार्य कठिन भी नहीं रह गया था।

इस समय तक भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना सुदृढ़ हो चुकी थी। सन् ५७ का विप्लव असफल रहा था और अँगरेजी शक्ति भारत में ही नहीं संसार में अजेय हो चुकी थी। भारतीय नागरिक प्रशासन (Indian Civil Service) के कर्मचारी सब अँगरेज ही होते थे। जब वे वहाँ से भारत प्रवास के लिये चलते थे तो उन्हें यही लगता

था कि उनका वनवास हो रहा है। भारतीयों को अज्ञानी, बेईमान, झूठा, जंगली और अविश्वसनीय मान कर ही वे भारत के लिये प्रस्थान करते थे। मैक्समूलर ने उन्हीं छात्रों के सामने सात भाषण दिये थे। इन भाषणों में उन अनेक मान्यताओं को निर्मूल करने का सफल प्रयास किया गया है जो अँगरेजों के मन में भारत एवम् भारतीयों के विषय में बन चुकी थीं। पुस्तक की उपादेयता समझ कर ही श्री गिरिधर शुक्ल जी ने इस पुस्तक के अनुवाद का कार्य मेरे हाथों में दिया। अब तक मै इतिहास के दो एक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद कर चुका था और वे प्रकाशित भी हो चुके थे, फलस्वरूप इस पुस्तक के अनुवाद कार्य को हाथ में लेते हुए मुझे किसी प्रकार की हिचकिचाहट न हुई और मैंने सहज रूप से ही कार्य में हाथ लगा दिया। दो चार पृष्ठों का अनुवाद करने में ही मेरी योग्यता जवाब देने लगी और हमारा शब्द कोश अक्षम सा प्रतीत होने लगा। कई बार तो ऐसी इच्छा हुई कि यत्रतत्र पुस्तक के मूल रूप को ही पाठकों के सामने रख दूं परन्तु "विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारम्भ चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति" के अनुसार मैंने भी आगे बढ़ने का प्रयास किया और फल स्वरूप मैक्समूलर की इस अनुपम कृति का अनुवाद जैसा भी बन सका है, आपके हाथों में है।

इस कार्य में जहाँ-जहाँ उलझा हूँ, उन स्थानों का थोड़ा सा स्पष्टी करण शायद पाठकों के लिये भी आवश्यक हो, यही समझ कर अपनी सामर्थ्यानुसार कुछ शब्दों का स्पष्टी करण दे देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। अस्तु !

वेद हमारा ही है, फिर भी न जाने किन चक्करों में फँस कर हम लोग वेद एवम् वैदिक साहित्य से बहुत दूर जा पड़े हैं—इतनी दूर कि पीछे लौट कर अपनी ही वस्तु को देख सुन लेना असम्भव सा हो चला है। यदि ऐसा न होता तो इन पंक्तियों की आवश्यकता ही क्या थी ?

अनूदित पुस्तक में अनेक स्थलों पर कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द आये हैं, जिनका अर्थ समझने में थोड़ी कठिनाई हो सकती है। वेद एक ऐसा ही शब्द है। इतिहासों में पढ़ पढ़ कर हमने वैदिक सभ्यता की बातें जान ली हैं, पर स्वयम् वेद क्या हैं, इनके बारे में जन सामान्य की जानकारी नहीं के बराबर है। वास्तव में ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम् साहित्य है। इस समय ग्रन्थाकार में उसका जो रूप प्राप्त है, उसमें १०२८ सूक्त हैं। एक एक सूक्त में प्रायः दस-दस ऋचाएँ है, कहीं कम भी हैं और कहीं अधिक भी। ये सूक्त १० मण्डलों में बँटे हैं। प्रथम और दशम मण्डलों में क्रमशः १९१ तथा १९११ सूक्त हैं, जिनके बारे में विश्वास किया जाता है कि ये विभिन्न ऋषियों द्वारा रचे गये गये हैं। शेष

आठ में से हर एक को एक-एक ऋषि[1] ने रचा है। दूसरे मंडल को गृत्समदने, तीसरे को विश्वामित्र ने, चौथे को वामदेव ने, पाँचवें को अत्रि ने, छठें को भारद्वाज ने, सातवें को वशिष्ठ ने, आठवें को कण्व ने और नवें को अंगिरा ने बनाया है, ऐसी मान्यता है। ऋग्वेद में कुल १०४०२ ऋचाएँ (कुछ लोगों की राय में १०६२२) हैं। शब्दों की संख्या एक लाख तिरपन सहस्त्र आठ सौ छब्बीस है तथा इसमें कुल ४ लाख बत्तीस हजार अक्षर हैं।

इस पुस्तक में ब्राह्मण, 'सूत्र ग्रन्थों' एवम् 'उपनिषदों' की भी चर्चा यत्र तत्र आयी है। अतः इनका भी परिचय दे देना अप्रासंगिक न होगा।

ब्राह्मणः—वेद के मूल को समझाने के लिये जो व्याख्या कृष्ण यजुर्वेद में दी गयी है, उसे ब्राह्मण कहते थे, अतः उन सभी को ब्राह्मण ग्रन्थ कहने लगे जिनमें व्याख्याओं का संग्रह होता था। इस प्रकार ऋग्वेद में दो ब्राह्मण हैं अर्थात् ऐतरेय ब्राह्मण और कौशीतकि ब्राह्मण। इन ग्रन्थों को देखने से प्रतीत होता है कि ये दोनों एक ही ग्रन्थ की दो विभिन्न प्रतियाँ हैं, जिन्हें क्रम से ऐतरेय और कौशीतकि के लोग उपभोग में लाते थे। ऐतरेय के अन्तिम १० अध्याय कौशीतकि में नहीं हैं।

सामवेद के पंचविंश ब्राह्मण, सामश, ब्राह्मण और सुप्रसिद्ध छान्दोग्य है।

श्याम यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण है और शुक्ल यजुर्वेद या वाजसनेयी संहिता का एक बड़ा भारी ब्राह्मण है, जिसे सतपथ ब्राह्मण कहते हैं।

अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण है जो बहुत थोड़े समय का बना हुआ प्रतीत होता है।

[1] हम लोग आज ऋषि शब्द को जिस अर्थ में ग्रहण करने लगे हैं, वैदिक काल में इस ऋषि शब्द को उस अर्थ में नहीं प्रयोग करते थे। न तो उनकी कोई जाति विशेष होती थी और न ही वे अपना जीवन संसार से अलग रह कर तपस्या और ध्यान में बिताते थे। इसके विपरीत ऋषि लोग संसार के व्यवहारी व गृहस्थ पुरुष ही होते थे, जो पशुओं के स्वामी होते थे, युद्ध करते थे, कृषि करते थे और धन, पशु, युद्ध में विजय, पुत्रप्राप्ति एवम् परिवार की मंगल कामना के लिये देवताओं से प्रार्थना किया करते थे। वास्तव में प्रत्येक कुटुम्ब का मुखिया ही ऋषि होता था और देवताओं की प्रार्थना अपने घर में ही रह कर किया करता था। वे लोग भी सांसारिक मनुष्य थे जो सर्व साधारण में मिले जुले रहते थे, उनमें विवाहादि करते थे और सम्पत्ति के स्वामी होते थे। इस सम्बन्ध में कुछ ऋचाओं का उद्धरण दे देना अप्रासंगिक न होगा। एक युद्धप्रिय ऋषि 'एक ऐसे पुत्र की कामना करता है जो युद्ध में शत्रुओं को जीते' (५,२३,२), दूसरे ऋषि (६,२०,१) धन तथा खेत के लिये, एक तीसरे ऋषि (९,६९,८) धन और स्वर्ण के लिये और एक चौथे ऋषि (६,२८,५) पशु के लिये प्रार्थना करते दिखाई पड़ते हैं।

आरण्यक—ऋग्वेद के कौशीतकि और ऐतरेय आरण्यक हैं। श्याम यजुर्वेद का तैत्तिरीय आरण्यक है। सत्पथ ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय को बाजसनेयी संहिता का आरण्यक कहते हैं। सामवेद और अथर्व वेद के आरण्यक नहीं हैं। सायन के अनुसार आरण्यको का उपभोग बनो में होता था और ब्राह्मणों का उपभोग यज्ञों में होता था। आरण्यकों की महत्ता इस लिये है कि वे उन धार्मिक विचारों के विशेष भण्डार हैं जो उपनिषद् कहलाते हैं।

उपनिषद्—ऋग्वेद के ऐतरेय और कौशीतकि के उपनिषद हैं। सामवेद के छान्दोग्य और केन उपनिषद हैं। शुक्ल यजुर्वेद के ईश, और बृहदरण्यक हैं। कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय, कठ, श्वेताश्वतर और अथर्ववेद के मुण्डक, प्रश्न और माण्डुक्य उपनिषद हैं। ये बारह प्राचीन उपनिषद हैं। इन्हीं की उपयोगिता पर लिखते हुए प्रसिद्ध जर्मन लेखक दार्शनिक शायेन हावर' ने लिखा है कि 'प्रत्येक पद से गहरे और नवीन विचार उत्पन्न होते हैं। सब में उत्कृष्ट, पवित्र और सच्चे भाव वर्तमान हैं। भारतीय वायुमंडल हमें चारों ओर से घेरे रहते हैं। संसार में किसी विद्या का अध्ययन इतना लाभ जनक और हृदय को उच्च विचारों की ओर प्रेषित करने वाला नहीं है जैसा कि उपनिषदों का। उपनिषद ही मेरे जीवन को शान्ति देते रहे हैं और मृत्यु के समय भी वे ही मुझे शान्ति देंगे।'

सूत्रग्रन्थ—इस प्रकार की शाखाओं प्रशाखाओं के होते रहने से वैदिक साहित्य अत्यधिक विशाल हो गया है। कालान्तर में इन समस्त साहित्यों का अध्ययन असम्भव जान पड़ने लगा। अब इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि इस विशाल साहित्य को संक्षिप्त किया जाय। फलतः सूत्रग्रन्थ रचे गये और बड़े बड़े ग्रन्थों को सूत्रों में कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि इन्हें कंठस्थ करने में सुविधा होने लगी। वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् ईश्वर कृत माने जाते हैं परन्तु सूत्रग्रन्थों को पौरुषेय माना गया है। जिन सूत्रों में वैदिक वलिदानों के सम्बन्ध की रीतियाँ वर्णित हैं, उन्हें श्रौत सूत्र कहते हैं। इनमें ऋग्वेद के दो सूत्र अर्थात् आश्वलायन और सांख्यायन, सामवेद के तीन अर्थात् मासक लात्यायन और द्राह्यायन, कृष्ण यजुर्वेद के चार अर्थात् बौद्धायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशिन और शुक्ल यजुर्वेद के पूरे पूरे सूत्र प्राप्त हैं।

इनके अतिरिक्त धर्म सूत्र भी हैं। श्रौत सूत्रों में हम अपने को बलिदान करते हुए देखते हैं और धर्म सूत्रों में नागरिकों की भाँति रहते हुए। इन्हीं धर्मसूत्रों को आगे चल कर पद्यमय स्मृतियों में रूपान्तरित कर दिया गया। मनु के सूत्र का तो अब पता ही नहीं चलता किन्तु डाक्टर बुहलर ने ऋग्वेदके वाशिष्ठ सूत्र, सामवेद के गौतम सूत्र, कृष्ण यजुर्वेद के बौद्धायन और आपस्तम्ब सूत्रों का अनुवाद प्रकाशित कराया है। गृह्यसूत्र इन दोनों

से अलग हैं जिनमें घरेलू कार्यों, सम्बन्धी एवम् यज्ञों का विधान बताया गया है। इन सब ग्रन्थों के नाम मात्र से पता चलता है कि समाज के प्रत्येक जनके हृदय पर उनके धार्मिक, सामाजिक एवम् स्मृति युक्त धर्मों को अंकुरित करने के लिये हिन्दुओं ने जैसा उद्योग किया था उससे बढ़ कर उद्योग संसार की किसी अन्य जाति ने नहीं किया है।

प्राति शास्त्रः—शिक्षा शास्त्र अर्थात् उच्चारण करने का शास्त्र। इस शास्त्र के नियम पहले आरण्यकों में और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। कालान्तर में इस शास्त्र पर और भी अच्छे ग्रन्थ बने, जिन्हें प्रातिशास्त्र कहते हैं। अपने वेद की प्रत्येक शाखा के सम्बन्ध में उनके उच्चारण के नियम हैं। ऋग्वेद का प्रातिशास्त्र शौनक ऋषि का बनाया हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद का प्रातिशास्त्र कात्यायन का बनाया हुआ कहा जाता है। कृष्ण यजुर्वेद और अथर्व वेद के भी एक-एक प्रातिशास्त्र हैं, परन्तु अब उनके ग्रन्थ-कारों का नाम नहीं मिलता। सामवेद के भी किसी प्रातिशास्त्र का पता नहीं चलता।

वेदान्त—हिन्दुओं के मत ने दर्शन शास्त्र और व्याकरण में तो अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया ही है, उन्होंने भौतिक पदार्थ और जीव, सृष्टि की उत्पत्ति और पुनर्जन्म के गूढ़ से गूढ़ विषयों का वर्णन सांख्य दर्शन में उपनिषदों की भाँति अनुमान के रूप में नहीं वरन् अविकल शास्त्रीय नियमों और तर्कशास्त्र के अकाट्य सिद्धान्तों के साथ दिया है। अन्य लोगों ने भी सांख्य दर्शन का अनुकरण करके जीव और मन, सृष्टि एवम् सर्जक के भेदों को जानने की दिशा में प्रयत्न करने लगे। किन्तु कुछ विद्वान् ऐसे भी थे जो इन विचारों के प्रचार से संत्रस्त होकर इसकी विरुद्ध दिशा में प्रयास करने लगे। उनके प्रयासों का फल उस वेदान्त के रूप में प्राप्त हुआ जो उपनिषदों के मत की पुनरुल्लेख करता है और जो वर्तमान समय में हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों का मूल है। वेदान्त की शिक्षा का सार यह है "सचेतन ज्ञान मय जीव ही सृष्टि का कारण है, सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मन् से है, सृष्टि का फल भी ब्रह्मन् ही है, आत्मा कर्म करने वाला है, आत्मा उस परमात्मा का अंश है (२,३,१५) आत्मा एक सूक्ष्म शरीर से घिरी रहकर एक रूप से दूसरे रूप में जन्म लेता है, पाप करने वाले सात नर्कों में फल भोगते हैं, परमात्मा अगम्य है और वह बिना भेद के एक ही है" वेदान्त के अनुसार 'ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। वही सृष्टि के अस्तित्व, नित्यत्व और प्रलय का मूल कारण है, सृष्टि की रचना उसकी इच्छा मात्र से होती है, सब वस्तुएँ अपनी सम्पूर्णता पर उसी में मिल जाती हैं सम्पूर्ण परमात्मा एक ही, एक मात्र अस्तित्व वाला, सम्पूर्ण, अखण्ड, अनन्त, अपरमित, अचल, सब का स्वामी, सत्य, बुद्धि, ज्ञान और सुख है।'

इस पुस्तक का महत्व एक और कारण से है। भारत में अंगरेजों ने दो सौ वर्ष तक शासन किया। इस अवधि में उन्होंने ने भी शकों, हूणों तथा मुसलमानों के समान भारतीय संस्कृति को ठेस पहुंचाने का प्रयास किया। अपने इस प्रयास में वे आंशिक रूप से सफल भी हुये तथा मैकाले जैसे अल्पज्ञानी तथा दम्भी अंगरेजों ने भारतवर्ष में एक ऐसी जाति को, जन्म दिया जो खून से तो भारतीय थी परन्तु आदतों तथा विचार से अंगरेज। मैकाले के समान अंगरेजो तथा उनसे प्रभावित भारतीयों ने भारतीय संस्कृति को आधार हीन तथा अतिशयोक्तिपूर्ण माना, उसे अव्यावहारिक कहा और उसको उखाड़ फेंकने का सशक्त प्रयास किया। इस वर्ग के पास पैसा या, शक्ति थी तथा था दम्भ करने के लिये चमक दमक पूर्ण पश्चिमी भौतिकता का सस्ता ज्ञान। परन्तु क्या वे अपने प्रयास में सफल हुये ?... क्यों नहीं हुये इसका प्रमुख कारण यह था कि भारतीय धर्म तथा संस्कृति का मूल भारतीयों के दिमाग में नहीं उनकी नसों में है, उनके संस्कारों में हैं। पश्चिमी दर्शन के समान भारतीय दर्शन एक पक्षीय नहीं है। भारतीय संस्कृति की विचारधारा (Theory) तथा आचारधारा (Practice) में साम्य है। हम जो सोचते हैं वही करते हैं। अथवा कम से कम वैसा ही करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण स्वरूप सिद्धान्त में यह सभी कहते हैं कि युद्ध में भी मानवोचित व्यवहार को स्थान मिलना चाहिये, परन्तु इसे आचार रूप में अपनाया केवल भारत ने। भारतीयों ने इसे माना ही नहीं व्यवहार की कसौटी पर भी कसा है।

एक यूनानी लेखक के शब्दों में, "हिन्दू धर्म का आचार निर्माणकारी प्रभाव इतना विशाल था कि केवल उच्च वर्ग के ही नहीं, नीची से नीची जाति के लोग भी शास्त्रोचित युद्ध की सूक्ष्म से सूक्ष्म परम्पराओं का पालन करते थे। रात को युद्ध करना था छिपकर कर बार करना वे जानते ही न थे। हिन्दू वास्तविक बीर थे तभी तो वे शत्रु के प्रति भी बैर भाव नहीं मानते थे।"

इतने विकट प्रहारों के सम्मुख-पहाड़ सी खड़ी भारतीय संस्कृति की अजरता, अमरता का दूसरा कारण है उसकी आध्यात्मिकता। इस प्रसंग में हम कुछ विशेष न कह कर स्वामी विवेकानन्द के विचार को ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं :—

"यदि मनुष्य के पास संसार की प्रत्येक वस्तु है, पर आध्यत्मिकता नहीं है तो उससे क्या लाभ। × × × वे (हिन्दू लोग) जानते हैं कि इस भौतिक सृष्टि के मूल में वह सत्य तथा दिव्य आत्म तत्व निहित है, जिसे कोई पाप कलुषित नहीं कर सकता, कोई दुराचार भ्रष्ट नहीं कर सकता, और कोई दुर्वासना गन्दा नहीं कर सकती। जिसे आग जला नहीं सकती और पानी भिगो नहीं सकता। जिसे गर्मी सुखा नहीं सकती और

मृत्यु मार नहीं सकती। उनकी दृष्टि में मनुष्य की यह प्रकृति–आत्मा उतना ही सत्य है जितना कि एक पाश्चात्य व्यक्ति के इन्द्रिय तोष के लिये कोई भौतिक पदार्थ। इसी विचार धारा में वह शक्ति निहित है, जिसने उनको शताब्दियों के उत्पीड़न, वैदेशिक आक्रमण तथा अत्याचारों के बीच अजेय रक्खा है। आज भी हिन्दू राष्ट्र जीवित है और उसमें भयंकर से भयंकर विपत्ति के दिनों में भी आध्यात्मिक महापुरुषों का जन्म होता ही रहता है। सैकड़ों वर्षों तक लहरों पर लहरे—प्रत्येक वस्तु को तोड़ती-फोड़ती हुई देश को आप्लावित करती रही है, तलवारें चली हैं और अल्लाहो अकबर के गगन भेदी नारे लगे हैं। किन्तु वे बाढ़ें चली गई और राष्ट्रीय आदर्शों में परिवर्तन न कर सकीं। हजार वर्षों के असंख्य कष्ट और संघर्षों में यह हिन्दू जाति मर क्यों न गई? यदि हमारे आचार विचार इतने अधिक खराब हैं तो क्यों कर हम लोग अब तक पृथ्वी तल से मिट नहीं गये? क्या भिन्न भिन्न वैदेशिक विजेताओं ने हमें कुचल डालने में किसी बात की कमी रक्खी? तब क्यों न हिन्दू बहुत से अन्य देशों की भाँति समूल नष्ट हो गये? भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता। अमर है और उस समय तक रहेगा जब तक यह विचारधारा पृष्ठ भूमि के रूप में रहेगी, जब तक उसके लोग आध्यात्मिकता को नहीं छोड़ेंगे।"

यह आध्यात्मिकता भारतीयों को कुछ यों ही नहीं मिली थी उसको प्राप्त करने के लिए भारतीय ऋषियों ने अपने समस्त सम्भव साधनों का उपयोग किया था। यह श्रम किसी एक व्यक्ति का नहीं समूचे देश का था। ईसाई मत जो भी है ईसा के प्रयास से है। इस्लाम भी एक मुहम्मद साहब की शिक्षा पर आधारित है—परन्तु हिन्दुत्व का पोषण किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा नहीं हुआ है। यदि संकुचित दृष्टिकोण न रक्खा जाय तो विश्व का कोई भी मनीषी उससे इन्कार नहीं कर सकता कि भारत भूमि ही ऐसी है जिसमें ज्ञान सूर्य का प्रकाश सर्व प्रथम अवलोकित हुआ, जहाँ ज्ञान, तप, त्याग तथा वैराग्य ने भारतीयों को मनसा, वचसा, कर्मणा का पालन किया, जहाँ पूर्वैतिहासिक काल से ही लोग ज्ञान, कर्म भक्ति की त्रिवेणी में स्नान कर रहे हैं।

भारत ही वह देश है जिसने समस्त प्रकार की ज्ञाननिधि को गागर में भर दिया है; जिसने विश्व को अट्ठारह विद्या तथा चौंसठ कलाओं का प्रकाश प्रदान किया है, जिसने ईश्वर और जीव सम्बन्धी समस्त समस्याओं को सुलझाया है, जिसने अपने लोगों को हमेशा यही सिखाया है कि दुख सहना देवत्व है और दुख देना आसुरी प्रवृत्ति है। जिसने कभी भी अपनी दया को धर्म के नियन्त्रण में नहीं रक्खा है जो अच्छे कार्य में विश्वास रखता है अच्छी जाति में नहीं। इस धर्म में सन्तों की पूरी लाइन है जो आकर भारतीय संस्कृति के उत्थान में अपना योग दान करते रहे हैं।

हिन्दू राष्ट्र ने एक हजार वर्ष की अग्नि परीक्षा द्वारा अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी है। शक, हूण, यवन, सब आये और अपनी तलवार तोड़ गये परन्तु भारतीयता उससे अप्रभावित ही रही—भले ही उनका देश उन विदेशियों से आक्रान्त हुआ। इसका कारण है हमारी पूर्व चर्चित वही आध्यात्मिकता जिसने हमेशा आत्मा की रक्षा करने की शिक्षा दी है शरीर की नहीं। हिन्दू लोग शरीर को महत्व ही नहीं देते उनके लिए शरीर बदलना ही मृत्यु है—देहान्त शब्द से स्पष्ट यही भासित होता है। हम तो यह विश्वास करते हैं कि जब हमारा शरीर हमारे आत्मा के अयोग्य हो जाता है—आत्मा उसे बदल देता है, जैसे हम गन्दे वस्त्रों को बदल लेते हैं। [1]

अपने आत्मा की अमरता का विश्वास ही भारतीय संस्कृति का पोषक है। हिन्दू जानता है कि इस दृश्यमान जगत् के मूल में, उसकी जड़ में, इसके अणु-अणु में एक अद्वितीय, पूर्ण, अपरिच्छिन्न—अनादि और अनन्त-नित्य अविनाशी आत्मा है और वही मैं हूँ—

'यो ऽ सावसौ पुरूषः सो ऽ हमस्मि' (यजुर्वेद ४०।१६)

उसका विश्वास है कि उसे हवा सुखा नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, काल उसकी सत्ता समाप्त नहीं कर सकता और आग उसे जला नहीं सकती। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में पलित व्यक्ति कभी भी आपतियों से घबराता नहीं, सुख और दुख को समान रूप से स्वीकार करता है और बिना फल की आशा के कर्मों में रत रहता है।

हिन्दू संस्कृति का स्वरूप आशावादी है। आशा पूर्ण आस्तिकता उसकी बपौती हैं— शून्यवादी नास्तिकता से वह अप्रभावित है—वह 'अस्ति-अस्ति' ('है, 'है,') में विश्वास रखता है। कुछ ऐसी हवा सी चल पड़ी है कि लोग भारतीय संस्कृति को काल्पनिक प्रभावों से पूर्ण मानने लगे हैं। वे [अधिकांश अपनी संस्कृति से अनभिज्ञ भारतीय तथा भारतीयों को समझ पाने में असमर्थ विदेशी] यह कहते नहीं थकते कि भारतीय दार्शनिक स्वप्नद्रष्टा थे। मै यदि उनको ऐसे भारतीय दार्शनिकों के उदाहरण देने लगूं तो शायद एक पृथक ग्रन्थ की रचना करनी पड़ जाय जिन्होने सिर्फ यह सिद्ध करने के लिए सर्वस्व त्यागी हो गये हैं कि 'एक आत्मा ही सत्य है और सब जगत् मिथ्या है' (ब्रह्म सत्यम जगत् मिथ्या') उन्होंने समृद्ध राज्यों को ठुकराया है, अपने पास सामान्य व्यक्तियों के अनुरूप वस्त्र भोजन भी नहीं रक्खा, पत्तियाँ चबा कर अपनी ज्ञान पिपासा की पूर्ति की और अपने प्रयासों से अधिकांश भारतीयों को वह उच्च मानसिक स्तर प्रदान किया कि वे 'आत्म-दर्शन' से कम किसी वस्तु से सन्तुष्ट ही नहीं होते। अपने उच्च आदर्शों एवम् ज्ञान से

[1] जीर्णानि वस्त्राणि यथा विहाय,

उन्होंने भारतीयों को वह गुण प्रदान किये हैं जिनसे युक्त एक साधारण, अपढ़ हिन्दू भी किसी पूर्ण प्रशिक्षित विदेशी को अपने सामने नत मस्तक करने में पूर्ण समर्थ हैं।

भारतीय संस्कृति किसी की बपौती नहीं है। धर्माधर्म एवम् कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में हमने कभी भी संख्या को महत्व नहीं दिया है। भारतीय यह जानते हैं कि ऐसा भी सम्भव है कि अधिकांश लोग गलत राह पर हों और एक अकेला व्यक्ति ही सही हो। उनका निश्चित मत है कि एक आत्मवेत्ता ही धर्म निर्णय के लिये पर्याप्त है असंख्य अनात्मज्ञ नहीं—

चत्वारो वेद धर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्य मेव वा ।
सा ब्रूते यंगस धर्मः स्यादे को वाध्यात्म वित्तमः ।।

(याज्ञवल्क्य स्मृति १।६)

अव्रतानाम मन्त्राणां जातिमात्रोपि जीविनाम् ।
सहस्त्रशः समेतानाम् परिषत्वं न विद्यते ।।

(मनुस्मृति १२।११४)

वैदिक धर्म के चार ज्ञाता तथा तीन विद्याओं को जानने वाले अनेक जनों से युक्त सभा धर्म सभा कहलाती है। धर्म सभा जो कहे वह धर्म है यदि एक अध्यात्मज्ञाता कुछ कहता है तो वह भी धर्म है परन्तु और ज्ञान रहित हजारों ब्राह्मण मिल कर भी धर्म सभा का रूप नहीं ले सकते।

भारतीय संस्कृति एक और मामले में भी अन्य संस्कृतियों की तुलना में विशिष्ट है। इस संस्कृति में धर्म और जीवन का पारस्परिक सम्बन्ध इतना अधिक है कि दोनों को अलग करना प्रायः असम्भव है। भारत में अनेक विदेशी शक्तियों का आवागमन हुआ परन्तु इस सत्य को पहचानने वाले सर्व प्रथम अंग्रेज लोग ही थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति की जड़ को देखा, समझा और मुसलमानों के समान तलवार का सहारा न लेकर कूटनीति का सहारा लिया। वे हिन्दू संस्कृति से सशङ्क थे क्योंकि यह पहले ही अनेकों संस्कृतियों को आत्मासत् कर चुकी थी। वे यह जानते थे कि युद्ध में पराजित हिन्दू सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अब भी अपने को अंग्रेजों से उत्कृष्ट मानते हैं। अतः उन्होंने अपने चालाक दिमाग से एक ऐसा मायामय जाल रचा जिससे स्वयं हिन्दू संस्कृति के अन्दर से ही उसका विरोध होने लगा। उन्होंने देश भर में अंग्रेजी शिक्षा का जाल बिछाया। इस जाल में आने वालों को बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये। इस प्रलोभन से लोगों का प्रवाह इस ओर बढ़ा और हिन्दू संस्कृति पर कुठाराघात करने वाले अज्ञानी हिन्दू प्रशिक्षित किये जाने लगे।

उन्हें इस बात का विश्वास दिलाया जाने लगा कि उनकी संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति से हीन है। परिणामतः दास को अपनी दासता में ही परमानन्द का अनुभव होने लगा, और और विजेता की विजय हो गई। उनकी शिक्षा का असर यह हुआ कि अंग्रेजी प्रणाली से पढ़ने वाले संस्कृति के विद्वानों ने भी भारतीय रीति-नीति के अनुरूप संस्कृत साहित्य का निर्माण नहीं किया। उनके साहित्य पर भी पाश्चात्य प्रभाव है। पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके पालित भारतीय विद्वानों ने वेद तथा उपनिषद् पर ऐसे उलझे मतों का निरुपण किया कि भारतीय नवयुवकों के मस्तिष्क फिर गये। उनके मन में धर्म-ग्रन्थों के प्रति सम्मान की हीनता प्रकट होने लगी। स्कूलों में सिखाया गया कि 'भारत में आर्य भी विदेशी हैं—इसलिये कि उनको यह अभिमान न हो सके कि यह सुजला, सुफला, शस्य श्यामला भारत भूमि उनकी जन्म स्थली है। नवशिक्षितों को/प्रमाद-सा हो गया कि भारत भूमि पर सब विदेशी हैं। इसी भाँति उनको विश्वास दिलाया गया कि भारतीयों का कोई इतिहास नहीं है; धर्म लड़ाई की जड़ है, ईश्वार नाम की कोई वस्तु नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि उन्होंने हिन्दू संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रत्येक सम्भव उपाय किया परन्तु उसकी आधार-शिला आज भी पहाड़-सी अड़ी हुई है। इसी प्रसंग में स्वामी विवेकानन्द का यह कथन स्थिति को स्पष्ट कर देता है—

"वर्तमान (उन्नीसवीं) शताब्दी के प्रारम्भ में, जब कि पाश्चात्य प्रभाव भारत में आने लग पड़ा था, जबकि पाश्चात्य विजेता हाथ में तलवार ले ऋषियों की सन्तानों को यह दिखलाने आये थे कि वे असभ्य हैं, थोथे स्वप्न देखने वाले लोगों की एक जाति हैं, उनका धर्म कोरी दन्त कथा है; आत्मा, परमात्मा और प्रत्येक वस्तु जिसके लिए वे प्रयास करते आये हैं, निरे-निरर्थक शब्द हैं, साधना और अनन्त त्याग के हजारों वर्ष व्यर्थ रहे हैं, तब विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले नवयुवकों के मन में यह प्रश्न उठने लगा। क्या इस समय तक का राष्ट्रीय जीवन असफल रहा है; क्या उनको पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार पुनः श्री गणेश करना होगा, अपनी प्राचीन पुस्तकों को फाड़ डालना होगा, दर्शन शास्त्रों को जला डालना होगा, धर्मोपदेशकों को भगा देना पड़ेगा और मन्दिरों को तोड़ डालना होगा ?' क्या पाश्चात्य जिन्होंने तलवारों एवं बन्दूकों द्वारा अपने धर्म का प्रदर्शन ही नहीं किया था वरन् यह भी कहा था—'तमाम पुरानी बातें निरी रूढ़िवाद और मूर्ति पूजा हैं।' पाश्चात्य शिक्षण पद्धति द्वारा शिक्षाप्राप्त बालकों में ये विचार बचपन से समाने लगे। फिर सन्देहों के उत्पन्न होने में आश्चर्य ही क्या था ? फलतः रूढ़िवाद को सत्य की कसौटी पर कसने के स्थान पर सत्य की कसौटी ही यह हो गई कि [इस विषय में]-'पश्चिम क्या कहता है।' ब्राह्मण विदा हों, वेद जला दिये जायँ, क्योंकि पश्चिम ने यही कहा है।"

जब किपलिंग ने यह कहा था कि 'पूर्व-पूर्व ही है और पश्चिम, पश्चिम । दोनों का कभी मेल नहीं हो सकता' तो उसके सत्य को वह जानता था । दोनों की मान्यताओं मे, विचारों में, सत्यों में जमीन आसमान का अन्तर है । पाश्चात्य दर्शन के अनुसार सर्वोच्च व्यक्ति वह है जिसके पास अधिक से अधिक भौतिक सम्पत्ति है । भारतीय दर्शन सर्वोच्च मानता है जिसने नित्य तत्व की उपलब्धि के लिये सब अनित्य वस्तुओ का मनसा त्याग कर दिया हो । जहा से पाश्चात्य धारा की समाप्ति होती है, वहाँ से हमारी धारा शुरू होती है । पाश्चात्य जन हिन्दुओं को कल्पना शील मानते हे क्योकि वह दिमाग से परे की बातों को सोचता तथा करता है और भारतीय मन के अनुसार वे बालक हैं जो अपनी नासमझी के कारण नित्य आत्मा को त्याग अनित्य भोगों की ओर प्रवृत्त हैं ।

सक्षेप में हिन्दू संस्कृति आध्यात्मिकता की अमर आधार शिला पर स्थित है । इसी लिये सब संकटों को पार कर वह सदा अविचल रहती आयी है और जब तक हमारी यह आधारशिला कायम रहेगी, उसकी अमरताओं को आँच नहीं आ सकती ।

कोई भी संस्कृति अमर क्यो होती है ? वह काल द्वारा ग्रसित होने मे बच कैसे जाती है ? इस प्रश्न का उत्तर जानने के इच्छुक व्यक्ति को चाहिये कि वह हिन्दू संस्कृति की अमरता का कारण समझे—क्योंकि यही एक ऐसी संस्कृति है जिसे समय ने प्रभावित नहीं किया है या बहुत ही कम किया है ।

अमरता और स्वाधीनता तराजू के दो पहलू हैं । वही संस्कृति अमर है जो अपने जनो को विशुद्ध स्वाधीनता प्रदान करती है, और भारतीय संस्कृति इस गुण से युक्त है । इस प्रसंग में एक उदाहरण स्थिति को स्पष्ट कर देगा—

बात उस समय की है जब हमारे देश में पाश्चात्य शासन तो था पर हम शुद्ध रूप मे भारतीय ही थे । उन्हीं दिनों कलकत्ता बन्दरगाह पर एक जहाज आ लगा । उसमे साधारण वस्तुओं से लेकर विलासिता सम्बन्धी उच्चतम् कोटि की विलायती सामग्री भरी हुई थी । पश्चिमी सौदागरों ने लाख प्रयास किया कि वे अपना विलायती माल भारत में बेच लें परन्तु उन्हें इस प्रयास में मुंह की खानी पड़ी और वह जहाज जिस प्रकार आया था उसी प्रकार लौट भी गया । उस समय भारतीय प्रशासन के सचिव, लार्ड मैकाले ने प्रतिज्ञा की कि मैं भारत में एक ऐसी जाति को उत्पन्न करूँगा जो खून से तो भारतीय होगी परन्तु स्वभाव व आदत से अंग्रेज । अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए ही उसने देश में पाश्चात्य शिक्षा का संगठन किया और परिणामस्वरूप—चाय, चुरुट और बिस्कुट से लेकर विलासिता की कीमती वस्तुओं का भारी संख्या मे आयात भारत में शुरु हुआ और हो रहा है ।

समस्या यह है कि उस आये हुये जहाज को वापस लौटाने में किसका हाथ था ? कौन सी शक्ति उन्हें विलायती माल न खरीदने की सलाह देती थी ? हमारी यही हिन्दू संस्कृति। उसकी स्वाधीनता का मूल मन्त्र ही उसी पर आधारित है। प्राचीनकाल में चीन से भी वस्त्र हमारे देश में आता था परन्तु उसकी भी खपत हमारे देश में न हो सकी क्योंकि हिन्दू संस्कृति ने किसी भी विदेशी वस्तु से धार्मिक अनुष्ठान न करने की ही शिक्षा दी है—

न स्यूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः।
मूषिकोत्कीर्ण जीर्णेन कर्म कुर्यान्द्विचक्षणः॥

अर्थात्, सिले हुये, जले हुये खास कर विदेशों में बुने हुये वस्त्रों से बुद्धिमान पुरुष कोई धार्मिक अनुष्ठान न करे।

महाभारत के वन पर्व में पाण्डुराजा की मृत देह को शुक्ल देशीय वस्त्र द्वारा ढका होने की बात लिखी मिलती है। हिन्दू संस्कृति कहती है कि 'भारत भूमि में उत्पन्न वस्तु ही पवित्र और उपकारी है। भारत के फलफूल, भारत की अन्नलता, भारत की औषधि, सभी सुन्दर, पवित्र और व्यवहार योग्य हैं। हिन्दू संस्कृति को साधारण दृष्टि से देखने वाला भी यह समझ सकता है कि विदेशी मुद्रा एवम् वस्तुओं को वह त्याज्य मानती है। साधारण पाठक इसे स्वार्थपरता या अदूरदर्शिता तथा आत्मश्लाघात्मक अतिशयोक्ति का नाम दे सकते हैं परन्तु उन्हें यह जान लेना चाहिये कि वह किसी प्रकार का 'बायकाट' नहीं है वरन् उसके अन्दर स्वाधीनता का मूल मन्त्र छिपा हुआ है। स्वदेश का धन स्वदेश में ही पड़ा रहने देने की एक शिक्षा है। मजा यह है कि इस प्रकार के निर्देश द्वारा उसने हिन्दुओं को विशेष की भावना से पीड़ित होने की भी सम्भावना न रक्खी। उसने हिन्दुओं को इस प्रकार आत्म निर्भरता की शिक्षा दी। उन्हें यह समझने का प्रयास किया कि सिर्फ देश की स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं वरन् उसकी आत्म निर्भरता भी आवश्यक है। क्योंकि उनकी यही आत्म निर्भरता स्वाधीनता को जन्म देती है—जिससे अमरता का अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

हिन्दू संस्कृति ने किस प्रकार हिन्दुओं को स्वाधीनता का पाठ दिया इसे जानने के लिये सर्व प्रथम हमें जान लेना चाहिये कि स्वाधीनता क्या है। बिना यह जाने कि आखिर यह स्वाधीनता है क्या, हम लोग इस विषय पर वार्तालाप आरम्भ कर देते हैं यह उचित नहीं ह। मैजिनी ने कहा था 'स्वाधीनता शब्द के वास्तविक अर्थ का विचार न करके स्वाधीनता की रट लगाना, पीड़ित क्रीत दास की मनोवृत्ति के सिवा कुछ नहीं है।'

परन्तु जब हम स्वाधीनता का अर्थ समझने का प्रयास करते हैं तो परेशान हो जाना पड़ता है। वास्तव में जैसा कि एडमण्ड बर्क महोदय ने कहा था कि "स्वाधीनता शब्द

एक भावात्मक शब्द है। दूसरे भावों के समान यह भी प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। स्वाधीनता का ज्ञान बहुत कुछ अनुभव सिद्ध विषयों के साथ जुड़ा रहता है तथा प्रत्येक जाति अपनी कतिपय प्रिय वस्तुओं की धारणा को लेकर स्वाधीनता के रूप में गठित करती है, जिसकी पूर्णता के ऊपर सुख के मानदण्ड की कल्पना की जाती है।''

वास्तव में स्वाधीनता का कोई सर्वमान्य स्वरूप नहीं है। यह देश तथा काल के अनुसार स्थिर होता है। अंग्रेज अपने ऊपर कर लगाने के अधिकार को ही स्वाधीनता मानते हैं। परन्तु स्वाधीनता के बारे में हिन्दू दृष्टिकोण इससे विपरीत है। हिन्दू स्वाधीनता तथा 'अपनी संस्कृति की रक्षा को समानार्थी मानते हैं। दूसरे शब्दों में स्वाधीनता शब्द को राष्ट्र, संस्कृति, पार्थिव वस्तुयें, मनोराज्य की वस्तुयें, भोग्य तथा भोक्ता एक साथ मिलकर प्रभावित करते हैं। हम राष्ट्र की तुलना में संस्कृति को बड़ा मानते हैं जो राष्ट्र का ही दूसरा रूप है। हम पार्थिव राज्य से मनोराज्य को तथा भोग्य से भोक्ता को श्रेष्ठ मानते हैं, आधुनिक पाश्चात्य प्रभावित विचारधारा राष्ट्र को संस्कृति से श्रेष्ठ मानती हैं, परन्तु यदि तर्क द्वारा उसके मत की जाँच की जाय तो उनकी भूल स्पष्ट हो जायगी। हिन्दू संस्कृति की उसी दूरदर्शिता के कारण देश के पराधीन होने पर भी हम अन्दर से स्वाधीन रहे। हमारी आन्तरिक स्वाधीनता इतनी शक्तिमयी थी कि सन १८५८ में रानी विक्टोरिया को अपने घोषणा पत्र में कहना पड़ा कि ब्रिटिश सरकार हिन्दू संस्कृति को किसी भी प्रकार क्षति नहीं पहुंचायेगी। हमारी इसी अजेय आन्तरिक स्वाधीनता की भावना ने हमारी बाह्य स्वाधीनता को प्राप्त करने के मार्ग को पुनः प्रशस्त किया। यदि हमने अपनी संस्कृति को जीवित न बनाये रक्खा होता तो हमारी आज की स्वाधीनता कभी न आ पाती।

आज का इस्लाम जगत संस्कृति के इस प्रभाव को समझ चुका है और इसीलिए उसने 'पाकिस्तान' को धार्मिक आधार प्रदान किया है। आश्चर्य तो यह है कि इस्लाम और इसाई धर्मों के पास संसार को देने योग्य सामग्री का पूर्ण अभाव है परन्तु फिर भी वे सारे विश्व में अपनी श्रेष्ठता का नगाड़ा पीटते रहते हैं और समस्त विश्व को अपनी ज्ञान किरण से प्रकाशित करने वाली हिन्दू संस्कृति स्वयं अपने समर्थकों की भ्रान्ति का निवारण भी नहीं कर पा रही है। आज का हिन्दू स्वाधीनता के नाम पर पराधीनता की ओर बढ़ रहा है। हमारी संस्कृति का आधार था हमारा वर्णाश्रम धर्म। आश्रम धर्म में वैयक्तिक स्वतन्त्रता, वर्ण धर्म में सामाजिक स्वतन्त्रता तथा वर्णाश्रम धर्म में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का मूल मन्त्र है। आश्रम धर्म हमारी अपनी विशिष्टता है। इसकी उपयोगिता सिर्फ हिन्दू संस्कृति ने समझी। स्वाधीनता के इस स्वरूप का चिन्तन और इसका व्यावहारिक प्रयोग सिर्फ हिन्दुओं ने किया है। जो मायामोह के आधीन है, शुभाशुभ कर्मों के

अधीन है, काम क्रोधादि सरीखे सबल शत्रुओं के अधीन है, विलास-वासना के अधीन है, वे स्वाधीन कैसे हो सकते हैं। वास्तविक आश्रम धर्म के पालन के लिये व्यक्ति को वेश-भूषा की आवश्यकता, भोजन की बाध्यता नहीं—इसकी अपेक्षा स्वाधीनता का श्रेष्ठ आदर्श और क्या हो सकता है। जो सब प्रकार बन्धनों से मुक्त है—वही स्वतन्त्र है। ब्रह्मचर्य धर्म हमारी शारीरिक और मानसिक तुष्टता की पूर्ति करता है। गृहस्थाश्रम हमको कर्त्तव्य और परम्परा की रक्षा करने का उपदेश देता है—व्यक्ति से समाज बनता है—अतः ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रम की श्रेणी से होकर जाने वाले स्वस्थ और सबल मनुष्यों से निर्मित समाज स्वस्थ और शक्तिशाली होगा और यह सर्वमान्य नियम है कि शक्तिशाली ही स्वाधीन हो सकता है।

हिन्दू संस्कृति कभी भी स्वेच्छाचरिता को स्वाधीनता नहीं मानती। प्रत्येक आश्रम के नियम है। सर्व बन्धन मुक्त सन्यासी भी स्वेच्छाचारी नही होता। हा, गृहस्थों के समान वे नियमों के अधीन नहीं होते—वरन् नियम ही उनके आदर्शों पर आधारित होते है।

गृहस्थाश्रम मे जीवन मरण, श्राद्ध, आदि सम्बन्धी अनुष्ठानों को करते करते मनुष्य के मनमें अनासक्ति की जिस भावना का प्रवेश होता है उसी से वैयक्तिक स्वाधीनता की नींव पड़ती है। मनु ने कहा है—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः॥

(मनु ४।१५९)

जो कर्म पराधीन हैं या दूसरों के प्रयास से सिद्ध होते हों उनका त्याग करना चाहिये और जो कर्म स्वाधीन अथवा अपनी शक्ति से पूरे हो सकते हैं उनको करना चाहिये। इसी प्रकार सभी आश्रम वालों को स्वाधीनता का पाठ पग-पग पर दिये गये हैं—

"सर्वभूतेषु चात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्य माधिगच्छति॥

(मनु १२।९१)

अर्थात् जो सब भूतों में आत्मा को देखते हैं—तथा जिन्हें आत्मा में सब भूत उपलब्ध दीखते है। वही आत्मदर्शी पुरुष स्वराज्य को प्राप्त होते हैं।

हिन्दू संस्कृति की जितनी आलोचना उसके वर्ण धर्म के लिये हुई है, उतनी उसके किसी अन्य अंग के लिये नहीं, परन्तु उस व्यवस्था के उद्देश्य को देखने का प्रयास

कभी भी नहीं किया गया। राष्ट्रीयता का सबसे बड़ा आदर्श यही तो है कि राष्ट्र अपने नागरिकों की कार्य शक्ति का पूरा पूरा लाभ उठा सके। उच्चतम कार्य शक्ति के उपभोग के लिये श्रम विभाजन क्या महत्व रखता है यह अर्थशास्त्र के विद्यार्थी ही समझ सकते हैं। हिन्दू संस्कृति ने प्रत्येक वर्ग को सामाजिक स्वाधीनता प्रदान की है। हिन्दू ब्राह्मण तथा क्षत्रिय की सामाजिक स्वाधीनता में एक दूसरे का हस्तक्षेप नहीं है। शूद्र तथा वैश्य भी अपनी सामाजिक अड़चनों को सुलझाने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं। तेली और जुलाहे अपने अपने व्यवसाय के स्वयम स्वामी थे। एक कर्म कर के ही अपने जीवन की सारी आवश्यकतायें पूरी हो जाती थीं। गाधी जी ने कुटीर उद्योगधन्धो को अपने स्वराज्य की प्राप्ति का महान अस्त्र बनाया था। वह कोई नवीन वस्तु नहीं थी। मनु संहिता के अध्याय ११ में गृहशिल्प को श्रेष्ठ कर्म माना है और यान्त्रिकता की निन्दा की है क्योंकि वह मानव को मानवोचित गुणों से दूर करती है। कर्मकारो को उनकी पुश्तैनी कुशलता से वंचित कर देती है। उनकी स्वाधीनता के मार्ग में पत्थर डालती है। जिस वर्ण धर्म को हिन्दू सस्कृति का सफल प्रयोग कहा जा सकता है वह अन्य सस्कृतियों के लिये मात्र कल्पना के विषय है। यह कहना भी कि हिन्दू संस्कृति ने किसी वर्ग विशेष को ही सम्मान का अधिकारी बनने दिया है, गलत है। क्योंकि ऐसे उदाहरणों से इतिहास भरा है जब निम्न वर्ग के कदमों पर उच्च वर्णों ने श्रद्धा के फूल चढ़ाये है। इस प्रकार उसकी धार्मिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता के मार्ग को प्रशस्त किया है।

हिन्दू संस्कृति के अलावा कोई सभ्यता ऐसी नहीं जो कह सके कि उसने अपने अनुयायियों को श्रेष्ठ आर्थिक सुस्थिरता प्रदान की हो। उसने ही सर्व प्रथम श्रेष्ठ पुरुष के गुणों को रुपया कमाने की कला से न बाध कर, उसके व्यय करने की कला से निर्धारित कर दिया। कोई भी धन कुबेर अपने ऐश्वर्य को क्यों पुण्य कार्य में व्यय करने के लिये विवश रहता है। क्यों धर्मशालाये बनवाता है, क्यो अनाथालय का निर्माण करता है। क्यों मंदिरों का निर्माण कराता है। इसको जानने के लिये हिन्दू सस्कृति का सहारा लेना पड़ेगा। रुपये कमाने तथा संग्रह करने की आजादी दे कर भी धन के व्यय द्वारा विभाजन ठीक उसी प्रकार है जैसे विप्लव को रोकने के लिये शक्ति अर्जन पर नियन्त्रण न रखकर उसके प्रयोग पर पूरा नियन्त्रण रक्खा जाय।

अन्त में प्लेटो के इस कथन को हिन्दू संस्कृति के ऐसे सपूतो के लिए उपस्थित करके हम अपने वक्तव्य को समाप्त करते है जिन्होंने उसको समझने का प्रयास किये बिना ही उसकी आलोचनाओं में उसकी निन्दा में सक्रिय सहयोग दिया है। जो मनुष्य अपने देश के प्रति घृणा उत्पन्न करता है, उससे बढकर पापी कोई दूसरा नहीं। ऐसे मनुष्य का मर जाना ही श्रेयस्कर है।

× × ×

कृतज्ञ हैं हम मैक्समूलर महोदय के जिन्होंने हमें (कुछ अंशों में ही सही) स्वयं हमारी वस्तु को देखने योग्य दृष्टि हमें प्रदान की। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम स्वयं अपनी ही वस्तु को दूसरों की आँखों से देख रहे हैं।

अनुवाद मूल विषय के अनुकूल ही करने का मैंने भरसक प्रयत्न किया है, फिर भी कोई त्रुटि रह गई हो तो इसके लिये सहृदय पाठकों के समक्ष क्षमा प्रार्थी हूँ। यदि हिन्दी संसार ने इसे अपनाया तो मेरा श्रम सार्थक है।

इलाहाबाद
२१-५-६४

कमलाकर तिवारी

विषय सूची

हम भारत से क्या सीखें ?

प्रथम भाषण

जिस समय मुझे कैम्ब्रिज क बोर्ड आफ हिस्टारिकल स्टडीज की ओर से भारतीय नागरिक प्रशासन (इण्डियन सिविल सर्विस) के छात्रों के समक्ष उनके लिये उपयोगी विषय पर भाषण देने का निमन्त्रण मिला तो मुझे यह समझ कर कुछ हिचकिचाहट अवश्य हुई कि थोड़े से भाषणों मे मैं उन छात्रों को ऐसा कुछ बता भी पाऊँगा या नहीं, जो उन्हे परीक्षा में सफलता प्राप्त करने मे सहायता प्रदान करेगी। आजकल के विश्वविद्यालयों का यदि एक-मात्र नहीं तो प्रमुखतम लक्ष्य यही हो गया है कि वे अपने छात्रों को परीक्षा पास करने मे समर्थ बना दें और मेरी राय में परीक्षा पास करने का और अच्छी तरह पास करने का महत्व जितना भारतीय प्रशासन के छात्रों के लिये है, उतना शायद किसी भी अन्य छात्र को नही।

यद्यपि मैं यह सोचकर थोड़ा सकुचित अवश्य हो रहा था कि थोड़े से भाषणों में मे जो कुछ कह पाऊँगा, क्या वह किसी भी प्रकार उन छात्रों के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगा जो लन्दन की इन परीक्षाओं को पास करने की तैयारी पहले से ही नहीं कर पाये हैं, फिर भी मे इस तथ्य की ओर से भी आखें नही मूद ले सकता था कि विश्वविद्यालयों का उद्देश्य केवल इतना ही नहीं है कि वे परीक्षाओं के लिये मात्र सोपान का काम देते रहें, बल्कि उनका उद्देश्य यह भी है कि कुछ ऐसी भी बातें हैं, जिनकी शिक्षा इन विश्व-विद्यालयों में दी जा सकती है दी जानी चाहिये, बल्कि इससे थोड़ा और आगे बढ कर मै कहूँगा कि मुझे विश्वास है कि इन्हीं बातो को पढ़ाने के लिये ही विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिये। इनके स्नातकों को केवल इसी प्रकार का न होना चाहिये कि वे बाजार में अच्छे मूल्य पर बिकें बल्कि उन्हें ऐसा भी होना चाहिये कि छात्र जीवन में प्राप्त ज्ञान उनके छात्रोत्तर जीवन के लिये उपयोगी हो सके और यही उपयोगिता ही हमारे दैनन्दिन कार्यों मे रस उत्पन्न करती है, इसी से अपने को सौंपे गये कार्यों के प्रति हममें प्रेमभावना का सचार होता है और इससे भी आगे बढ़कर आनन्द एवम् आह्लाद की सृष्टि करता है। यदि किसी विश्वविद्यालय ने अपने स्नातकों को वह ज्ञान उपयोगी ढग से

दिया है, यदि उसने अपने छात्रों के मन मे इस प्रकार के ज्ञान की तनिक भी प्रेरणा दे दी है, यदि उस विश्वविद्यालय के छात्रो में यह योग्यता आ गयी है कि वे अपने शेष जीवन में कठिनाइयों पर यदि विजय न भी प्राप्त कर सके तो कम से कम हँसते हुये साहस पूर्वक उनका सामना तो कर सकें और इस प्रकार जीवन की अनेक उलझनों को सुलझाने के लिये प्रयत्नशील हो सकें तो मेरा विश्वास है कि उस विश्वविद्यालय ने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया है। उसने अपने छात्रों को ऐसा ज्ञान दे दिया है जो उन्हें आने वाले जीवन मे निरंतर सुख, शान्ति एवम् शौर्य प्रदान करके उन्हे समाज एवम् ससार के प्रथम वर्गीय महापुरुषों मे स्थान दिला देने मे समर्थ हैं, भले ही वे वर्तमान काल के विश्वविद्यालयों की प्रचलित परीक्षा-व्यवस्था में सफलता न प्राप्त कर सकें।

यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि जिस कार्य पद्धति के सहारे हमारे छात्र परीक्षाओं म पास होते हैं, एक के बाद दूसरी परीक्षा को कूदते-फाँदते चले जाते ह, तथा जिस प्रकार की रटन्त पद्धति से वे नाना प्रकार की बातों को अपने मस्तिष्क म ठूस लेते ह और जिस ढग का ज्ञानार्जन आज हमारे समाज में पूर्णमान्यता प्राप्त कर चुका है, यह सब एक साथ मिलकर हमारे मन में कर्म के प्रति प्रेम तथा रुचि नहीं वरन उदासीनता एवम् घृणा की ही सृष्टि करते हैं। उनका उद्देश्य अवश्य ही कुछ और था, परन्तु उनका परिणाम सम्भावना के एकदम विपरीत होने लगा है। इन छात्रों के मन में कर्म की भूख के स्थान पर कर्म के प्रति उदासीनता तथा मानसिक अरुचि सी उत्पन्न होने लगी है। ये लक्षण अवश्य ही शुभ नहीं है।

उपरोक्त ढग का आशा के विरुद्ध प्रभाव का परिणाम किसी अन्य के लिये उतना भयावह नहीं है, जितना भारतीय नागरिक प्रशासन के छात्रों के लिये। भारतीय-नागरिक-प्रशासन परीक्षा के योग्य सिद्ध करने वाली परीक्षा के पास कर लेने के पश्चात् अर्थात् यह प्रमाणित कर चुकने के पश्चात् कि हमारे पब्लिक विद्यालयों मे जो विषय इतिहास, गणित तथा विज्ञान इत्यादि पढ़ाये जाते हैं तथा वहां जिस प्रकार के उदारतापूर्ण वातावरण में शिक्षा दी जाती है, उन सब का पूरा लाभ वे उठा चुके है तथा तत्सम्बन्धी समूची सामान्य सूचनायें वे प्राप्त कर चुके हैं तथा बाद के जीवन में वे विशेष व्यावसायिक अध्ययन की क्षमता प्राप्त कर चुके हे, उन्हें सहसा अपने प्राचीन मित्रों, विषयों एवम् परिचित ज्ञान क्षेत्रों से अलग हो जाना पड़ता है और उन्हे ऐसे नये विषय पढ़ने को बाधित होना पड़ता है जो उनके लिये न केवल विदेशी एवम् विचित्र ही होते हैं, वरन् वे अरुचिकर भी हो सकते हैं। विचित्र वर्णमालायें सीखनी पड़ती हैं, विचित्र भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना होता है, नये-नये तथा नये-नये ढग के नाम सामने आते हैं, अपरिचित कानूनों का सामना करना पड़ता है, सर्वथा नवीन साहित्यों का अध्ययन करना पड़ता है और सब से अरुचिकर बात यह होती है कि यह सब उन्हें स्वयम् की रुचि के कारण नहीं,

वरन् बाध्यता के कारण पढना पड़ता हैं। चूकि भारत मे जाने पर उन्हें इन विषयो के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है अतः उनके लिये इन विषयो का पढना उनकी आवश्यकता पर निर्भर है, न कि उनकी रुचि पर। उनके लिये पूरे दो वर्षों का कोर्स निश्चित कर दिया जाता है, पुस्तकों का चयन हो जाता है, विषय निर्धारित कर दिये जाते है, सिलसिलेवार परीक्षायें ली जाती हें और यदि कोई विद्यार्थी किसी भी जिज्ञासावश कोर्स के बाहर जाकर कुछ पढना भी चाहे तो उसे अपने सुनिश्चित पथ से दाये बायें जाने को कौन कहे देखने का भी अवसर नहीं मिलता। यदि उसने परीक्षा की ओर कम ध्यान देकर किसी अन्य बात पर मन लगाया तो उसके असफल हो जाने का भय उसे हर दम संत्रस्त किये रहता है।

मै जानता हूँ कि परीक्षाओं के इस जाल से बाहर निकलने का कोई भी उपाय नहीं है। सामान्य परीक्षा व्यवस्था के विरुद्ध भी कुछ कहने की मेरी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल इतना ही चाहता हूँ कि इन परीक्षाओं का संचालन बुद्धिमत्तापूर्वक किया जाय। मै स्वयम् भी कभी परीक्षक रह चुका हूँ और उस अवधि में प्राप्त अनुभव के बल पर मैं विश्वासपूर्वक कहने को तैयार हूँ कि परीक्षार्थियो का ज्ञानाधिक्य अद्भुत होता है, परन्तु परीक्षा की कापियो में जो तारीखों का सिलसिला, राजकीय वंशों एवम् नामों की विस्तृत सूचियाँ, विभिन्न युद्धों के कारण तथा परिणाम, कितने ही क्रिया कलाप, परिगणनों के कितने ही आकडे तथा और भी कितनी ही बातें लिख कर छात्रगण रख देते है, उनमें उनका हृदय कहाँ रहता है। केवल परीक्षा के दृष्टिकोण से पढी हुई बाते उनमें लिखी होती है, उनमे न तो स्वतंत्र चिन्तन होता है और न निजी अध्ययन। अधिकांश उत्तर पुस्तिकाओं के देखने से पता चलता है कि इन उत्तरों में जो कुछ है पुस्तकों का ही है तथा छात्रों का अपना कुछ भी नहीं है। इन परीक्षाओं के परिणाम भी कम उत्साहवर्द्धक नहीं होते। प्रति वर्ष एक बड़ी संख्या मे छात्रगण इन परीक्षाओ को पास कर नाना प्रकार के कार्यों में लगते रहते हैं, फिर भी सच्चे ज्ञान की दृष्टि से इन छात्रों द्वारा दिये गये उत्तरों मे कुछ भी नहीं होता। इनके उत्तरो मे जो अशुद्धियाँ होती हैं, उनमे उनकी अज्ञानता का ही परिचय मिलता है न कि उनकी प्रतिभा का। आप लोगो को यह जानकर आश्चर्य होगा कि प्रतिभावानों की त्रुटियो भी प्रतिभापूर्ण होती हें। यह सारा कार्य बाध्यता के कारण किया गया प्रतीत होता है या यों भी कह सकते हे कि वे शुद्ध उद्देश्यपूर्ति के रूप में किये गये होते है न कि अध्ययन के प्रति उनकी रुचि के रूप में। अपने कार्यों के प्रति प्रेम का दर्शन तो शायद ही किसी छात्र की उत्तर-पुस्तिका में होता हो। अध्ययन के प्रति हार्दिक भावना का भी उनमें स्पष्ट अभाव रहता है।

प्रश्न होता है कि आखिर ऐसा क्यों होता है या ऐसा क्यों होना चाहिये ? ऐसा क्यों होता है कि ग्रीक एवम् लैटिन भाषाओं एवम् साहित्यों का अध्ययन, उनके काव्य,

उनके जीवन दर्शन, कानून तथा उनकी कला सभी कुछ हमें सहधर्मों से प्रतीत होते हैं, वे हमे अपने से ज्ञात होते हैं, वे हममें एक प्रकार के उत्साह की सृष्टि करते हैं, हम उनको आदरणीय भी मानते हैं, परन्तु जब हम संस्कृत साहित्य के अध्ययन की बात करते हैं या भारत के काव्य, जीवन दर्शन, कानून तथा कला के अध्ययन की प्रेरणा देते हैं तो हमारी बात लोगो को कुछ विचित्र सी जान पड़ती है, अधिकाश लोग भारत विषयक अध्ययन को कुतूहल जनक समझते हैं, या बेकार समझते हैं तथा अर्थहीन समझने वाले लोगो की भी कमी नहीं है।

कितनी विचित्र बात है कि उपरोक्त प्रकार की भावना का दर्शन जितना इंग्लैंड में होता है, उतना अन्य किसी भी देश मे नहीं। मजे की बात यह है कि भारत के साथ जितना घनिष्ठ सम्बन्ध इंग्लैंड का है, उतना किसी भी अन्य देश का नही। फ्रांस, जर्मनी, इटली, यहाँ तक कि डेन्मार्क, स्वीडेन तथा रूस मे भी लोगो के मन में भारत नाम के ही प्रति एक अजीब प्रकार का मोह है, एक अभूतपूर्व आकर्षण है। जर्मन भाषा की सर्वाधिक सुन्दर कविताओं में 'ब्राहमेनन' का भी स्थान है जिसे स्कर्ट नामक प्रख्यात कवि ने भारत के ब्राह्मणों की विद्वत्ता पर लिखी है। मेरी राय म स्कर्ट की इस कविता में विचार-गम्भीरता, रचना सौष्ठव तथा अर्थगौरव जितनी पूर्णता को पहुँच सका है, गोथे के 'वेस्ट आयस्लिशर डिवान' म भी उस पूर्णता के दर्शन नहीं होते। जर्मनी म जो विद्वान व्यक्ति संस्कृत साहित्य का अध्ययन करता है वह प्राचीनों की ज्ञानगरिमा एवम् उनके रहस्य ज्ञान का अधिकारी समझा जाता है, लोग उसके सामने श्रद्धा से सर झुकाते हैं तथा विद्वानों की श्रेणी मे उसका विशेष आदर किया जाता है। लोग समझते हैं कि उसने अनेक अज्ञात रहस्यों का भेदन कर । जिस व्यक्ति ने भारत भ्रमण कर लिया है या केवल बम्बई, मद्रास और कलकत्ते को देख लिया है, उसकी बातों को लोग इस प्रकार रुचि लेकर सुनते हैं, जैसे वे मार्कोपोलो का भ्रमण-वृतान्त सुन रहे हों। इसके विपरीत इंग्लैंड में संस्कृत का अध्ययन करने वालों को लोग बकवादी समझते हैं, यदि कोई भारतीय नागरिक प्रशासन का कर्मचारी एलिफैंटा की गुफाओं की शोभा का वर्णन करे या भारत के भव्य मन्दिरों की चर्चा करे, तो उसे तिरस्कृत होने का भय बना रहता है।

यह सत्य है कि प्राच्य विषयों के जानकार कुछ थोड़े से विद्वान हमारे देश में हैं और उन्होंने इंग्लैंड में थोड़ा यश भी अर्जित कर लिया है, परन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिये कि उनका यह यश स्वयम् उनकी असाधारण प्रतिभा के कारण उन्हें मिला है न कि प्राच्य विद्याओं के जानकार होने के रूप में। मुझे विश्वास है कि उनमें इस प्रकार की असाधारण प्रतिभा थी कि यदि वे किसी दूसरे पक्ष में गये होते तो उनका यश कई गुना अधिक होता। भारतीय साहित्य के अध्ययन ने उन्हें जितना यश दिया उससे उनकी

प्रतिभा की तुलना नहीं करनी चाहिये। आपको एक बात और भी बता दूं कि भारतीय विद्याओं को सीखने से, भारतीय साहित्य के अनुशीलन से व्यक्ति के मन में जो तद्विषयक प्रशंसा एवम् आत्मबोध की भावना का उदय होता है, वह उसे यश-कामना से परे कर देता है। उसके चित्त से यश की कामना ही मिट जाती है, और उसके अध्ययन का एक मात्र लक्ष्य रह जाता है ज्ञान की प्राप्ति एवम् ज्ञान की साधना। आप सब समझ गये होंगे कि मैं सर विलियम जोन्स की बात कह रहा हूँ जिनको डा० जान्सन ने "मानवबन्धुओं में सर्वाधिक विस्तृत दृष्टिकोणों वाला मानव" कहा है। थामस कोलब्रुक भी इसी प्रकार के एक व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने जीवन काल का एक विशिष्ट भाग केवल प्राच्य विद्याओं के अध्ययन में लगा दिया। इनके अतिरिक्त वैलेन्टाइन, बुचनन, कैरो क्राफर्ड, डेविस, इलिफ्ट, एलिस, हॉटन, लीडेन, मैकेन्जी, मार्सडेन, मूर, प्रिंसेप, रनेल, टर्नर, यूफेम, वानश, वारेन, विलकिंस, विल्सन इत्यादि विद्वानों ने भी इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रशंसनीय कार्य किया है, परन्तु प्राच्य विद्यानुरागी जनों के अतिरिक्त वे किसी भी अन्य मंडली में विख्यात नहीं हो सके, और आजकल के जो पुस्तकालय पाश्चात्य विद्याओं एवम् विज्ञान के भंडार समझे जाते हैं, उनमें उपरोक्त लेखकों की शायद ही कोई कृति दिखाई पड़े। यह इंग्लैंड का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है ?

न जाने कितनी बार ऐसा हुआ है कि जब मैंने आजकल के नवयुवकों को विशेष कर भारतीय नागरिक प्रशासन के छात्रों को सर्वप्रथम एवम् सर्व प्रमुख रूप से संस्कृत पढ़ने का आग्रह किया है तो मुझसे कहा गया है कि 'हमारे संस्कृत पढ़ने से हमको क्या लाभ हो सकता है ? हमारे स्वयम् के साहित्य में शकुन्तला एवम् मनुस्मृति के अनुवाद तो प्राप्य है। हितोपदेश का अनुवाद भी हम पा लेते हैं। तब इसके अतिरिक्त संस्कृत में है ही क्या, जिसे जानने के लिये हम संस्कृत पढ़ने का कष्ट उठावें ? कालिदास के काव्य उत्तम हो सकते हैं, मनु के विधान कुतूहलजनक हो सकते हैं और हितोपदेश की कहानियाँ भी सुन्दर तथा उपदेश पूर्ण हो सकती हैं, परन्तु तब भी आप संस्कृत साहित्य की तुलना ग्रीक साहित्य से नहीं कर सकते। आप यह नहीं कह सकते कि हम व्यर्थ में संस्कृत पढ़ कर ऐसे संस्कृत ग्रन्थों की प्रामाणिक प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत करके उनका सम्पादन करें, जो हमें किसी भी प्रकार से ऐसा ज्ञान नहीं दे सकते, जिसे हम पहले से ही न जानते हों। यदि वे कुछ दे भी सकते हैं तो वह ऐसा ज्ञान है जिसे प्राप्त करने की हमें तनिक भी न तो इच्छा है और न परवाह है।

इस प्रकार के विश्वास से मुझे अतीव दुःख होता है और मेरे व्याख्यानों का मुख्य उद्देश्य यही होगा कि आप लोगों के मन में जमे हुये उपरोक्त प्रकार के विश्वास को मैं दूर कर दूं। मैं चाहता हूँ कि संस्कृत साहित्य के विषय में जो एक प्रकार की भ्रान्ति

सभी लोगो मे घर किये हुये है, उसे हटा दू और यदि मै उस भ्रान्ति को अनावृत करने मे असमर्थ हो जाऊँ तो भी कम से कम उस भावना मे कुछ सुधार तो कर ही दू। मैं यह सिद्ध करने का प्रयत्न नही करूंगा कि संस्कृत साहित्य इतना ही अच्छा है, जितना ग्रीक साहित्य। हमे यह पता नहीं चलता कि किसी भी वस्तु या साहित्य के गुण निर्धारण मे हम हमशा तुलना ही क्यों करते हैं। ग्रीक साहित्य के अध्ययन का अपना उद्देश्य है और संस्कृत साहित्य के अध्ययन का अपना उद्देश्य है, परन्तु जिसका मुझे विश्वास है और मे चाहता हू कि आप भी मेरे विश्वास के सहभागी बनें, वह यह है कि यदि समुचित भावना के साथ संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया जाय तो हम पता चलेगा कि वह सब प्रकार की रस-सामग्री से पूर्ण है, उसमे मानव की परिमार्जित रुचियों की सर्व सुन्दर अभिव्यंजना है तथा उसमे हमें ऐसी शिक्षायें सुलभ हो जाती है, जो ग्रीक साहित्य में खोजे से भी नहीं मिलेंगी। यह एक ऐसा साहित्य है जो हमें हमारे अवकाश के क्षणों का पूर्ण मूल्य दे सकता है। विशेषकर भारतीय नागरिक प्रशासन के छात्रों के लिये तो वह आवश्यक ज्ञान का पूर्ण भंडार ही है। यदि इस साहित्य का समुचित अध्ययन आप लोग करें तो आप उन पच्चीस वर्षों म अपने को भारत म एक विदेशी के रूप में नहीं पायेंगे, जिसमे आपको भारत मे एक विशिष्ट अधिकारी के रूप मे रहना है। आप जब भी भारत जाते हे और जितने दिनों भारत मे रहते ह उतने दिना आपको ऐसा अनुभव होता रहता है जैसे आप विदेशियो के बीच मे एक विदेशी ह। यदि आप संस्कृत साहित्य का अध्ययन करके भारत मे जायँ तो आप को विदेशीपन की भावना तो नहीं ही सतावेगी उस दशा में आपको ऐसा प्रतीत होगा जैसे आप स्वदेश मे ही स्वजनों के ही बीच रह रहे हों, न कि विदेश में विदेशियो के बीच। ऐसे व्यक्ति के लिये भारत में ऐसे कार्यों की कमी न होगी जो लाभदायक तो होगे ही, मनोरंजक एवम् रुचि के अनुकूल भी प्रमाणित होंगे, हॉ केवल कार्य करने की इच्छा और लगन आवश्यक है। मै आप सब को विश्वास दिलाता हू कि भारत जैसा कर्मक्षेत्र न तो यूनान ही है और न इटली ही, न तो मिश्र के पिरामिड ही इतने ज्ञानदायक हैं और न बेबिलोन के राजप्रासाद ही।

अब शायद आप लोग समझ गये होंगे कि मैंने इन भाषणों का शीर्षक "हम भारत से क्या सीखें" क्यो रक्खा है। यह सत्य है कि हमारे देश में बहुत कुछ ऐसा है जिसे भारत को हमसे सीखना पड़ेगा और आज भी पड़ रहा है, परन्तु यह भी सत्य है कि बहुत सी बातें ऐसी भी है और वे बातें महत्वपूर्ण हे, जिनमें भारत हमारा गुरु हो सकता है। यदि हम सच्चे सत्यान्वेषी हैं, यदि हम में ज्ञान प्राप्ति की भावना है और यदि हम ज्ञान का सच्चा मूल्यांकन करना जानते हे, तो हमें इस तथ्य को मानना ही पड़ेगा कि सहस्राब्दियों से पीड़ित प्रताड़ित एवम् जंजीरों में जकड़े हुये भारत में भी हमारा गुरु

बनने की पूर्ण क्षमता है। आवश्यकता है केवल सच्चे हृदय से उस क्षमता को पहचानने की।

यदि हमें इस समस्त जगती-तल में किसी ऐसे देश की खोज करनी हो, जहाँ प्रकृति ने धन, शक्ति और सौन्दर्य का दान मुक्तहस्ता हो कर किया हो या दूसरे शब्दों मे जिसे प्रकृति ने बनाया ही इसलिये हो कि उसे देख कर स्वर्ग की कल्पना साकार की जा सके, तो मैं बिना किसी प्रकार के संशय या हिचकिचाहट के भारत का नाम लूगा। यदि मुझसे पूछा जाय कि किस देश के मानव मस्तिष्क ने अपने कुछ सर्वोत्तम गुणों को सर्वाधिक विकसित स्वरूप प्रदान करने में सफलता प्राप्त किया है जहा के विचारकों ने जीवन के सर्वाधिक महात्वपूर्ण प्रश्नों एवम् समस्याओं का सर्वाधिक सुन्दर समाधान खोज निकाला हैं तथा इसी कारण वह इस योग्य हो गया है कि कान्ट और प्लाटो के अध्ययन में पूर्णता को पहुँचे हुये व्यक्ति को भी आकर्षित करने की शक्ति रखता है, तो मैं बिना किसी विशेष सोच विचार के भारत की ओर उँगली उठा दूंगा। यदि मैं स्वयम् अपने से ही यह पूछना आवश्यक समझू कि जिन लोगों का समूचा पालन-पोषण (शारीरिक एवम् मानसिक) यूनानियों एवम् रोमनों की विचारधारा के अनुसार हुआ तथा अब भी हो रहा है तथा जिन्होंने समेटिक जातीय यहूदियो से भी बहुत कुछ सीखा है, ऐसे यूरोपीय जनों को यदि आन्तरिक जीवन को सम्पूर्णता प्रदान करने वाली सामग्री की खोज करनी हो, यदि उन्हे अपने जीवन को सच्चे रूप में मानव जीवन बनाने वाली तथा ब्रह्माड बन्धुत्व (ध्यान रखिये कि म केवल विश्वबन्धुत्व की बात नहीं कह रहा हूँ) की भावना को साकार बना सकने में समर्थ सामग्री की खोज करनी हो तो किस देश के साहित्य का सहारा लेना चाहिये तो एक बार फिर मैं भारत की ही ओर इंगित करूंगा, जिसने न केवल इस जीवन को ही सच्चा मानवीय जीवन बनाने का सूत्र खोज निकाला है वरन् परवर्ती जीवन किंबहुना शास्वत जीवन को ही सुखमय बनाने का सूत्र पा लेने में सफलता प्राप्त कर ली है।

मैं समझ रहा हू कि आप मेरी इस उक्ति को सुनकर आश्चर्य कर रहे हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि हमारे जिन लोगों ने भारत में एक लम्बा समय बिताया है, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास शहरों में रहे हैं, वहा के लोगों से सम्पर्क स्थापित करके भारतीय जीवन का जानकार होने का दावा भी करते हें, जिन्होने अपने को भारत के ग्रामीण जीवन एवम् ग्राम्यव्यवस्था का पूर्ण जानकार समझ लिया है तथा जिन्होंने यह कह कर तथा भारतीयों के प्रति छी-छी का भाव दर्शा कर आत्मसन्तोष प्राप्त कर लिया है कि भारत में अब कुछ देखने, सुनने, जानने योग्य बाकी नहीं रह गया है, वे मेरी यह बात सुन कर आश्चर्य

से विजडित हुये बिना न रह सकेंगे कि जिनको वे लोग नेटिव कहकर अपनी घृणा प्रदर्शित करते रहे है उनमें भी इतनी अर्हता है कि वे यूरोपियनों के गुरु हो सकते हैं। उनको आश्चर्याभिभूत हो जाना पड़ेगा कि जब वे यह सुनेंगे कि जिन देहाती भारतीयों को वे बाजारों तथा न्यायालयों मे नित्य प्रति देखा करते थे, उनके भी जीवन से हमारे यूरोपीय बन्धु बहुत कुछ सीख सकते है।

अच्छा यही होगा कि जिन अंगरेज बन्धुओं ने अपना कुछ समय भारत म नागरिक प्रशासन के अधिकारी के रूप मे, या अन्य प्रकार की सेनाओं के कर्मचारी के रूप मे, धर्म प्रचारकों के रूप मे, व्यापारियों के रूप में बिताया है और जिन भाइयों को भारत के विषय मे ऐसे लोगों से अधिक जानकारी होनी ही चाहिये जिन्होंने आर्यावर्त की भूमि को स्पर्श भी नहीं किया है, ऐसे लोगों को मे पहले ही समझा देना चाहता हूँ कि जिस भारत से उनका परिचय है म उससे सर्वथा भिन्न भारत की चर्चा कर रहा हू। मे भारत की उस स्थिति की बात कर रहा हूँ जैसा वह आज से दो हजार वर्ष पूर्व था यों कहे कि तीन हजार वर्ष पूर्व था। हमारे अधिकाश बन्धु भारत की वर्तमान स्थिति स परिचित है, परन्तु उनके इस प्रकार के परिचय में भी यह त्रुटि है कि वे उसी भारत से परिचित ह जो कलकत्ता, बम्बई या मद्रास मे रहता है अर्थात वे भारत की उसी जनसंख्या से परिचित है जो शहरों में रहती है और जिन्होने जीवन के अधिकाश विषयों मे अंगरजों का अन्धानुकरण कर लिया है। मैं जिस भारत की बात कर रहा हूँ वह देहातो मे रहता है और वही वास्तविक भारत है। नगरो के भारत की भारतीयता समाप्त हो गयी है उसम न जाने कितना सम्मिश्रण हो गया है न, जाने कितने अनुकरणों के कारण उसमे विकृति आ गयी है, परन्तु देहातो मे, निरक्षर जनता मे तथा उस जनता मे जो विदेशी सम्पर्कों से सर्वथा अलग पड़ी हुई है, भारतीयता अब भी अपने सर्वांश शुद्ध रूप मे जीवित है। भारत गाँवों का देश है और वह गांवों मे ही रहता है, न कि शहरों मे।

जो कुछ मैं आप लोगो को, विशेषतया भारतीय नागरिक प्रशासन के छात्रों को बताना चाहता हूँ, वह यह है कि चाहे एक हजार या दो हजार या तीन हजार वर्ष भी प्राचीन काल के भारत की बात करें या आज के ही भारत की बात करें उस देश की भूमि, वहां के लोग या यों कहे कि वह समूचा देश ही ऐसी समस्याओं स भरा पुरा है, जिनके समाधान से हमारा भी स्वार्थ सिद्ध हो सकता है, उनके समाधान पा लेने से हमार आज के अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के उन्नतिशील योरप का भी भला हो सकता है, परन्तु कठिनाई है, इन समस्याओं को जानने की, उन्हे खोज निकालने की। समाधान निकालने के लिये समस्याओं का ज्ञान होना चाहिये और समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि हम जानें कि किस प्रकार और कहाँ उन समस्याओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यदि इस देश (इंग्लैंड) में रहते हुये किसी विशेष दिशा में आपकी रुझान हो गयी है, तो उस रुझान को पूर्ण करने के लिये सन्तोषजनक सामग्री आपको भारत में मिल सकती है और आजकल की उन सर्वप्रमुख समस्याओं का समाधान प्राप्त करने में जो लोग अपना समय लगाना चाहते हैं, जो आजकल के प्रमुख विद्वानो एवम् विचारकों को उलझाये हुये हैं, ऐसे लोगों को भी भारत में कार्य करने का पर्याप्त क्षेत्र और अवसर मिलेगा, उनको यह सोचकर भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है कि भारत में जाकर उनकी दशा देश निकाला प्राप्त व्यक्ति की-सी हो जायगी। ऐसे लोगों को यह सोचने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी कि वे एक ऐसे देश में जा पड़े हैं, जहाँ उनकी रुझान तथा उनका ज्ञान व्यर्थ हो गये है।

यदि आपकी रुचि भूगर्भ शास्त्र में है तो हिमालय से लेकर लंका तक के विस्तृत भूभागमें अध्ययन व खोज करने की सामग्री आपको आवश्यकता से अधिक मिलेगी। यदि आपकी रुचि वनस्पति विज्ञान में है तो असंख्य हुकर्स[1] की जिज्ञासा शान्त कर देने योग्य सामग्री भारत में प्राप्य है।

यदि आप प्राणि विज्ञान के क्षेत्र में कुछ कर जाना चाहते हैं तो जरा महाशय हैकेल[2] का विचार कीजिये जो इस समय भी भारत के जंगलों मे तथा भारतीय समुद्रतटों पर खोज करते फिर रहे हें और जिनके लिये भारत का प्रवास मानों उनके जीवन के स्वर्णिम स्वप्नों का प्रत्यक्षीकरण ही है, जैसे उनके जीवन के सभी स्वप्न भारत मे जाकर साकार हो उठे हें। भारत को अपना अध्ययन क्षेत्र बनाकर मानों उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य पा लिया है। इसी प्रकार मानव जाति शास्त्र में रुचि रखने वालों के लिये तो भारत जैसे तत्सम्बन्धी सामग्रियो का अजायब घर ही है।

यदि कोई व्यक्ति भवननिर्माण कला[3] में अनुराग रखता है, यदि आप में से किसी ने रद्दी के एक कूड़े में से वस्तुनिर्माण कला पर प्रकाश डाल सकने मे सक्षम किसी छुरी या अन्य सामग्री पा जाने के हर्ष का अनुभव किया है तो आप जनरल कनिंघम का "भारतीय वस्तु कला का सर्वेक्षण" की वार्षिक रिपोर्ट पढ कर देखिये और मुझे विश्वास है कि आप

---

[1] विलियम जैक्सन हूकर्स (१७८५-१८६५) इङ्गलैंड के प्रमुख वनस्पति विशेषज्ञ। वनस्पति उद्यान, क्यू, लन्दन के डाइरेक्टर।

[2] हैकेल—अर्नेस्ट हेनरिक हैकेल (१८३४-१९१९) जर्मनी निवासी था तथा अपने समय का प्रसिद्ध जीवविज्ञानवेत्ता था, जिसने अपने तत्सम्बन्धी भारत भ्रमण का विस्तृत वृतान्त सन् १८८२ मे प्रकाशित किया। उसी ने विभिन्न पशुओ की रचनाओ में सामजस्य स्थापित करने की सर्वप्रथम चेष्टा की।

[3] डरिक्स—फारस देश के प्राचीन सोने के सिक्के, जिन पर दारा की मूर्ति अंकित थी। अनुवादक—

आज ही फावड़ा लेकर इस बात के लिये प्रस्तुत हो जायेंगे कि बौद्ध सम्राटों द्वारा बनवाये गये बिहारों एवम् विद्यालयों का उत्खनन करके उनकी वस्तु कला पर प्रकाश डालें।

यदि आपने केवल मनोरंजन के लिये भी सिक्कों को इकट्ठा किया है तो आप पायेंगे कि भारत में जितने प्रकार के प्राचीन सिक्के प्राप्त हैं, उतने अन्य किसी भी देश में नहीं। वहाँ पर आपको पर्शियन, केल्टियन, थ्रेशियन, पार्थियन, यूनानी, मेसिडोनियन, सिथियन, रोमन, मुसलमानी, ये सभी प्रकार के सिक्के बहुतायत से मिलेंगे, हाँ आवश्यकता होगी केवल उनको खोजने वाली दृष्टि की। जिस समय वारेन हेस्टिंग्ज़ भारत का गर्वनर जनरल था तो उसे बनारस जिले में किसी नदी के किनारे एक मिट्टी का पात्र मिला था, जिसमें सोने के एक सौ बहत्तर डेरिक्स[1] थे। इन सिक्कों को वारन हेस्टिंग्ज ने इतना महत्वपूर्ण माना कि उन्हें उपहार-स्वरूप ईस्ट इंडिया कम्पनी के बोर्ड आव डिरेक्टर्स के पास भेजा था और इसके लिये उसने अपने को दानवीर-सा समझा था। दुःख है कि कर्मचारियों ने उन सिक्कों को गला डाला। संक्षेप में उन सिक्कों का भाग्य यही रहा कि जब वारेन हेस्टिंग्ज लौट कर इंग्लैंड आया तो वे सिक्के गायब हो चुके थे। अब यह आप लोगों का कार्य है कि इस प्रकार की कार्यवाहियों को रोकें।

भारत की प्राचीन वैदिक गाथाओं ने भारत की पौराणिक कथाओं पर जो प्रकाश डाला है उसके कारण भारत की पौराणिक कथाओं ने एक सर्वथा नवीन रूप धारण कर लिया है। वर्तमान काल में पौराणिक कथाओं के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव यद्यपि पड़ चुकी है फिर भी उसमें अभी बहुत कुछ जोड़ना शेष है और जोड़ने का यह कार्य जितनी अच्छी तरह भारत में किया जा सकता है, उतनी अच्छी तरह अन्य किसी भी देश में नहीं हो सकता।

---

[1] इस विषय में हम डा० फर्गुसन को उद्धृत किये बिना नहीं रह सकते जिन्होंने दक्षिण भारत के एक मन्दिर की चर्चा करते हुये लिखा है "यदि यह सम्भव होता कि हम इस मंदिर को शब्दो में बाँध पाते तथा उसकी एक-एक रचना का शब्द चित्र तैयार कर पाते तो पाठकों की समझ में यह बात सरलता से आ जाती कि भारत के इस मन्दिर की तुलना एथेंस के पार्थेनन से करना कहाँ तक उचित है। यह बात नहीं है कि इन दोनों रचनाओं में साम्य है, इसके विपरीत तथ्य यह है कि इन दोनों में उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव का अंतर है। इनमें से यदि एक प्रथम अक्षर है तो दूसरा अंतिम। दोनों कृतियाँ दो छोर पर हैं और इन्हीं के बीच सम्पूर्ण संसार की भवननिर्माण कला समायी हुई है।"
(देखिये आर० सी० दत्त का प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास पृष्ठ ५४६)

अनुवादक—

यदि हम अपने देश मे प्रचलित बाल कथाओं के मूल स्थान की खोज करने का प्रयत्न करें तो हमें पता चलेगा कि हमारे देश के बच्चे जिन कथाओं के माध्यम से शताब्दियों से मनोरंजन एवम् प्रारम्भिक नीतिज्ञान प्राप्त करते चले आ रहे हैं, वे कहानियाँ सर्वप्रथम भारत से ही केवल हमारे देश में ही नहीं वरन् संसार के सभी देशों मे गयी है [1]। अधिकाश इतिहास शोधकों का मत है कि इन कहानियों ने पूर्व से ही पश्चिम की यात्रा की है। आज जिन बाल कथाओं का हमारे घर-घर में प्रचलन है, उन सब का आदिस्रोत सर्वमान्य रूप से बौद्ध कथायें ही हे। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस क्षेत्र में जितना शोध हो चुका है उससे कई गुना अधिक शोध करने की आवश्यकता है। अब भी इस सम्बन्ध की न जाने कितनी समस्याये अपना समाधान पाने की प्रतीक्षा कर रही है। प्लाटो ने अपने क्रेटिलस[2] में एक कथा दी है जिसमें एक गर्दभ शेर की खाल ओढ़ कर सभी को डराता फिरता है। क्या हम यह मान लें कि यह कथा भी पूर्व से ही उधार ली गयी है। आप प्रेम की देवी का वह कथानक पढ़ें जिसमें उन्होंने एक चुहिया

---

[1]इस विषय मे श्री रमेश चन्द्र दत्त का मत भी जानने योग्य है। अपने "प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास" मे कथा साहित्य के अन्तर्गत उन्होने लिखा है कि "अभी विदेशी लोग सभ्यता के पथ पर केवल प्रथम चरण रखने को प्रस्तुत भी नहीं हो पाये थे कि ईसा से शताब्दियो पूर्व जातक कथाओ द्वारा आर्यो का कथा साहित्य अपनी ज्योत्सना द्वारा भारतीय हृदयो को प्रकाशित करने लगा था। पंचतत्र की कहानिया सदियो तक कहे सुने जाने के बाद लिखित रूप मे सामने आयीं। नौशेरवा (५३१-५७२ ई०) के समय में इनका अनुवाद फारसी मे किया गया। फारसी भाषा से ये कहानियाँ अरबी मे और अरबी से सीमियन नामक यूनानी विद्वान द्वारा ग्रीक भाषा में ले जायी गयीं। यह घटना सन् १०८० ई० की है। लातिनी भाषा के विद्वान पासिनस ने इन कहानियो को ग्रीक भाषा से लैटिन भाषा मे लिया। सन् १२५० ई० मे हिब्रू भाषा के प्रख्यात विद्वान रबीजोल ने इन्हें अपनी भाषा मे अनूदित किया। सन् १२५१ ई० मे ये कहानियाँ अरबी भाषा से स्पेनिश भाषा मे गयीं। जर्मन भाषा में इन कहानियो का प्रथम प्रकाशन पन्द्रहवीं शताब्दी की बात है और तब से योरप की सभी भाषाओं मे इन के अनुवाद धडल्ले से प्रकाशित होने लगे। इस प्रकार एक हिन्दू द्वारा सग्रहीत पशुओ की लोक कथायें कितनी ही शताब्दियो से ससार के बाल परिवार को अपने साधारण परन्तु सारगर्भित प्रसगो से मनोरजन के माध्यम द्वारा ज्ञान प्रदान करती चली आ रही हैं।"

इसी से मिलता जुलता मत डा० राइस डेविड्स का भी है।   अनुवादक

[2]केटिलस—प्लाटो का क्रेटिलस—क्रेटिलस ४११ए 'चूकि अब भी मैंने शेर की खाल ओढ़ रक्खी है, इसलिये मुझे हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। हो सकता

को सर्वाङ्ग सुन्दरी युवती बना दिया था और सर्वाधिक शक्तिशाली पति पाने की कामना से अभिभूत उसने एक मूषक को ही सर्वाधिक सशक्त पाकर उसी से ब्याह करने की इच्छा प्रकट की और विवश होकर देवी को उसे फिर से चुहिया ही बना देना पड़ा। क्या यह कथा संस्कृत की ही नहीं है। अवश्य है, परन्तु आश्चर्य का विषय तो यह है कि ईसा से चार सौ वर्षों पूर्व ग्रीक भाषा में लिखित स्ट्रैटिस के एक सुखान्त नाटक में इस कथा का समावेश कैसे सम्भव हो सका। इस प्रकार की उलझनों को सुलझाने के लिये भी अभी बहुत-सा कार्य करने को पड़ा है।

इतिहास के सूत्र को पकड़ कर यदि हम थोड़ा और प्राचीन काल में प्रवेश करें तो हमें विचित्र समकालीनताओं के दर्शन होते हैं। भारत की प्राचीन गाथाओं में तथा पश्चिम की प्राचीन कथाओं में इतना साम्य मिलता है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इन कहानियों ने पूर्व से पश्चिम की यात्रा की है या पश्चिम से पूर्व की। किंग सालोमन के समय में भारत, सीरिया और फिलस्तीन के बीच व्यापारिक आवागमन सुविधापूर्ण रूप से खुला हुआ था। यह बात इस प्रकार प्रमाणित होती है और अब इस तथ्य को विद्वानों की मान्यता भी मिल चुकी है कि बाईबिल में ओफीर देश से आने वाले कुछ सामानों के नाम संस्कृत भाषा के शब्दों में लिखे गये हैं। उन सामानों में हाथीदाँत, बन्दर, मयूर तथा चन्दन हैं जिन्हें भारत के अतिरिक्त अन्य किसी देश से आया हुआ माना ही नहीं जा सकता। इस बात को मानने का भी कोई स्पष्ट कारण नहीं दिखाई पड़ता कि भारत, फ़ारस की खाड़ी, लाल सागर तथा भूमध्य सागर के रास्ते होने वाला अन्तर्देशीय व्यापार कभी एकदम से बन्द हो गया हो। जिस समय "बुक आव किंग्ज़" नामक ग्रन्थ लिखा जाता रहा होगा उस समय भी इस व्यापारिक आदान-प्रदान के पूर्णतया बन्द होने का कोई संकेत नहीं मिलता।

आप लोग शाह सालोमन के विवेक पूर्ण न्याय की बात सुन चुके हैं आपको याद भी होगा। यहूदियों ने सालोमन द्वारा किये गये निर्णयों को अति विवेकपूर्ण कह कर

है कि उपरोक्त वर्णन हरक्यूलीज की और सकेत करता हो और शेर की खाल ओढ़ने वाले गधे की भारतीय कथा से उसका कोई तात्पर्य न हो। हितोपदेश की एक कथा इस प्रकार की है कि "एक बूढ़े गधे ने शेर की खाल ओढ़ कर चारों ओर घूम-घूम कर खेतों में चरना शुरू किया। उसे शेर समझ कर कोई उसे हांकने का साहस नहीं कर सकता था। एक चौकीदार भूरे रग का कोट पहन कर उसे मारने की ताक में बैठा था। कोट के रग से भ्रमित होकर गधे ने उसे गधी समझ कर रेंकना शुरू किया और तत्क्षण मार डाला गया।

—अनुवादक

उन्हें वैधानिकता के प्रमाण रूप में ग्रहण किया है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं न तो विधिज्ञ ही हूँ और न मेरा मस्तिष्क ही वैधानिकता पूर्ण है। जब-जब मैं सालोमन के उस निर्णय की बात पढ़ता हूँ तो कांपे बगैर नहीं रह पाता, जिसमें सालोमन ने एक बच्चे को दो टुकड़ों में काट कर वादिनी एवम् प्रतिवादिनी माताओं के बीच बाँट देने की व्यवस्था दी थी।

आइये हम आपको इसी प्रकार की एक अन्य कथा सुनावें जिससे बौद्धधर्मानुयायी जन प्रायः आपस में कहा सुना करते हैं, जिनकी पवित्र साहित्य-निधि में इस प्रकार की अनेक कथायें व कहावतें भरी पड़ी हैं। बौद्धों के त्रिपिटकों[1] का अनुवाद तिब्बती भाषा म 'कन्जूर' के नाम से हुआ है, जिसमें दो ऐसी स्त्रियो की कथा दी हुई है, जो एक ही बालक को अपना-अपना कहती थीं। न्यायकर्त्ता राजा ने दोनों स्त्रियों की बातों को देर तक ध्यान से सुना और पर्याप्त देर तक विचार करने के पश्चात् भी वे इसका निर्णय न कर सके कि वास्तव मे बच्चा किस स्त्री का था। उनकी निराशाजनक मुद्रा देखकर विशाख आगे आया और उसने राजा से कहा कि 'आप इस निर्णय के लिये क्यों चिन्तित होते हे। आप इन स्त्रियो से कह दें कि वे स्वयम् ही इस प्रश्न का निर्णय कर लें। राजा ने तत्क्षण वैसी ही आज्ञा दे दी। बस, आज्ञा पाने की देर थी। दोनों स्त्रियों ने भयानक रूप से लड़ना और छीनाझपटी करना शुरू कर दिया, जिसमे घबराकर बच्चा उच्चस्वर से रोने लगा। वास्तविक माँ से बच्चे का यह क्रन्दन न सहा गया और उसने छीनाझपटी से हाथ खींच लिया और इसी हाथ खींचने के कारण वाद का निर्णय हो गया। बच्चा हाथ खींच लेने वाली स्त्री को दे दिया गया और दूसरी स्त्री को कोड़े मार कर निकाल दिया गया।

मेरा स्वयम् अपना विचार है कि कहानी का भारतीय रूप ही अधिक स्वाभाविक हैं, जिसमें मानव वृत्ति के पूर्ण ज्ञान का उपयोग किया गया हे और इस कथा मे सालोमन द्वारा किये गये निर्णय की कथा मे अधिक बुद्धिमत्ता ह।

---

[1]बौद्ध धर्म के समूचे उपदेश तथा विचार प्रणाली को गौतमोत्तर कालीन उन्हीं के विद्वान शिष्यो ने जिन ग्रन्थो में संग्रहीत किया है वे पिटक (पिटारी) कहलाते हैं। पिटक तीन हैं —(१) सुत्तपिटक मे जो उपदेश है वे स्वयम् गौतम बुद्ध द्वारा कहे हुये माने जाते हैं, (२) विनय पिटक मे भिक्षुओ और भिक्षुणियो के लिये आचरण के लिए बहुत सूक्ष्म नियम दिये गये हैं, (३) अभिधम्म पिटक मे भिन्न-भिन्न विषयो पर शास्त्रार्थ दिये गये हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न लोको मे जीवन की अवस्थाओ पर, शारीरिक गुणो पर, तत्वो पर अस्तित्व के कारणो इत्यादि पर विचार किया गया है। सख्या में तीन होने के कारण इन्हे त्रिपिटक कहा जाता है।

—अनुवादक

आप में से बहुतों ने भाषायें पढी हैं । इतना ही नहीं भाषाविज्ञान भी आपने पढ़ा है । क्या इस संसार में अन्य कोई ऐसा देश है जिसमें भाषा विज्ञान के सर्वाधिक महती समास्याओं का अध्ययन करने की उतनी सामग्री मिलती हैं, जितनी भारत मे ? यदि केवल लोक भाषाओं के विकास एवम् उनकी क्षीणता को ही लिया जाय, या भाषाओं के सम्भावित मिश्रण पर ही विचार किया जाय (स्मरण रहे कि मैं केवल शब्दों के मिश्रण की बात नहीं कर रहा हूँ, वरन् उस मिश्रण की बात कर रहा हूँ, जिसमें व्याकरण के नियम भी सम्मिश्रित हो जाते ह) तो क्या कोई भाषा आर्य भाषा, द्राविड़ भाषा या मुंडा लोगा की भाषा का मुकाबला कर सकती है । इन भाषाओं की इस प्रकार की प्रवृत्ति का पता तब चलता है जब इनके बोलने वालों का सम्पर्क विभिन्न आक्रामक जातियों से होता है । आप जानते हैं कि भारत ने अनेकानेक आक्रामक देखा हैं । इस देश के वासियों ने ग्रीकों को देखा, यूजी जाति का आक्रमण देखा, अरबों का बार भी इन्होंने सहा, फारसी आक्रामकों ने भी इन पर अपना बल आजमाया । मुसलमानो और सब से अन्त म अंगरेजों ने भारत को विजित किया । इन सभी जातियों की भाषाओं से भारत की लोक भाषाओं का सम्पर्क हुआ, परन्तु उनकी सम्मिश्रण प्रवत्ति अक्षुण्ण ही रही ।

यदि आपका अनुराग न्यायशास्त्र में है तो भारत म कानून का इतिहास खोजा जा सकता है और मजे की बात यह है कि भारतवर्ष के कानून का यह इतिहास यूनान के कानून के इतिहास से सर्वथा भिन्न होगा । यदि इसकी तुलना रोम के इतिहास तथा जर्मनी के कानून के इतिहास म की जाय तो भी यह भिन्नता जायगी नही । इस प्रकार की विभिन्नता के बावजूद भी इनमें कुछ समानतायें भी होगी । न्यायशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन के अनुरागियों के लिये ये विभिन्नतायें भी रुचि पूर्ण होंगी तथा ये समानतायें भी । आजकल प्रति वर्ष नयी सामग्रियां प्रकाश मे आती जा रही ह । उदाहरण के लिये हम धर्म या समयचारिक सूत्रों का नाम ले सकते हैं, जिनके आधार पर छन्दोबद्ध विधि ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये हैं । इस प्रकार की विधि पुस्तकों में मनु की विधियों को उदाहरण स्वरूप रक्खा जा सकता है । एक बार जिसे इतिहासकार लोग मनु द्वारा प्रतिपादित विधियों की संहिता कहते थे और जिसका समय यदि ईसा पूर्व बारहवीं नहीं तो पांचवीं शताब्दी अवश्य आंका जाता था । आज उसी को लोग ईसा की चौथी शताब्दी का ग्रन्थ मानने लगे हैं । आजकल के लोग उसको संहिता ही मानते है, न विधि संहिता ही, यहां तक कि अब लोग न उसको मनु के विधियों की संहिता कहने में भी बचने लगे ह ।

यदि आपने विधिनिर्माण की पूर्वस्थितियो म किये गये अनुसंधानों में अपनी रुचि लगायी है तथा उन कार्यों के प्रति आपके हृदय मे प्रशंसा के भाव विद्यमान है, यदि उन पूर्व स्थितियो के अति सामान्य रूपों अर्थात् अति सामान्य राजनैतिक गणों के प्रारम्भ एवम् उनके विकास पर विचार किया है (जिसकी पूरी सुविधा आपको इस कैम्ब्रिज विद्या-

लय में प्राप्त है) या विचार करना पसन्द करते हैं तो उन्हें आज भी भारत की ग्राम्य रियासतों (ग्राम पंचायतों) में आप देख सकते हैं और मुझे विश्वास है कि इस दिशा में आप चाहे जितना भी श्रम व कष्ट उठावें, वह अपुरस्कृत नहीं होगा।

अन्त में हम उस विषय को लेते है, जिसका महत्व हम मानें या न मानें हमारे जीवन में सब से अधिक है, इस जीवन में सब से अधिक ख्याल हम जिसका रखते हैं, जिसको इन्कार करने वाले लोग स्वयम् उसे स्वीकार करने वालों से अधिक महत्ता प्रदान करते हैं, तथा जो हमारे जीवन के सारे कामों की प्रेरणा देता है, उसे व्यवस्थित एवम् नियंत्रित करता रहता है, जिसके बिना न तो कोई गण ही स्थापित हो सकता है और न बृहद् साम्राज्य ही, जिसके बिना न परम्परायें बन सकती हैं, और न विधि निर्माण ही सम्भव है, न तो हमें सत का विवेक हो सकता है और असत् की पहचान ही हो सकती है, जो भाषा के बाद सर्वाधिक व्यवस्थित रूप में हैं जो मानव एवम् पशु के बीच एक अभेद दीवार के रूप में खड़ा है, जो हमारे वैयक्तिक को जीवन सम्भव तथा सह्य बनाता है, जो इस जीवन का अप्रत्यक्ष रूप से सर्वाधिक गम्भीर श्रोत है, तथा जो हर प्रकार के राष्ट्रीय जीवन की सुदृढ़ आधार भित्ति है, जो इतिहासों में सर्वप्रमुख इतिहास होते हुये भी रहस्यों में सर्वाधिक रहस्य पूर्ण है, हम यदि उस "धर्म" पर ही विचार करना चाहे तो भारत के अतिरिक्त इसके उद्‌भव स्वाभाविक विकास एवम् क्षय के अध्ययन का क्षेत्र और कौन सा देश हो सकता है। भारत ब्राह्मणवादियों का देश है, बौद्ध धर्म की जन्म भूमि है, तथा पारसियों का शरणस्थल है, आज भी जहां नवीन विश्वासो का जन्म होता रहता हैं। भविष्य में भी यह अवनति प्राप्त देश संसार का उज्ज्वलतम देश हो सकता है यदि उन्नीस शतियों की गर्द उसके शरीर पर से झाड़ी जा सके।

आप लोग जब भारत में होंगे तो अपने को अतिप्राचीन भूतकाल एवम् अति विशाल तथा उज्ज्वल भविष्य के बीच पावेंगे। आपको उस देश में विभिन्न विषयों पर अध्ययन करने के जो अवसर प्राप्त होंगे वे संसार के किसी भी देश मे नहीं मिल सकते। वर्तमान काल की जिन समस्याओं ने विचारकों को उलझा रक्खा है, उन्हीं पर आप विचार करना चाहें जैसे सामान्य शिक्षा, उच्चशिक्षा, वैधानिक प्रतिनिधित्व की भावना, विधियों का एकत्रीकरण, अर्थ, परदेश निवास, दीन संरक्षण विधि इत्यादि या इसी प्रकार की अन्य बातें जो आप किसी को पढाना चाहते हैं, स्वयम् परीक्षण करना चाहते हैं या आप निरीक्षण द्वारा सीखना चाहते हैं तो भारत जैसा क्षेत्र आपको संसार में नहीं मिल सकता। इन सभी विषयों के अध्ययन अध्यापन के लिये भारतवर्ष एक विशाल प्रयोग-शाला के सामान है। जिस संस्कृत के अध्ययन को आप लोग आज इतना सारहीन समझ रहे हैं, उसका अध्ययन कष्टप्रद चाहे जितना हो परन्तु जिस गति से आपने यहाँ कैम्ब्रिज विद्यालय में शुरू किया है, उसी गति से यह अध्ययन यदि चालू रहा, तो एक दिन आपके

सामने ऐसा साहित्य पड़ा होगा जिसमें आजतक किसी ने भी खोज करने का श्रम नहीं उठाया है। आपको अपने सतत् अध्ययन के फलस्वरूप ऐसे विचार गाम्भीर्य के दर्शन होंगे जैसा न आपने आज तक देखा है और न सुना है। उस साहित्य में आपको ऐसी प्रेरणायें तथा शिक्षायें मिलेंगी जो मानव-हृदय के सहानुभूतिपूर्ण अंग उद्वेलित को किये बिना नहीं रहेंगे।

आप लोग मेरी बात पर विश्वास रक्खें कि यदि आप लोग अपने अमूल्य समय में से थोड़ा भी अवकाशरूप म निकाल कर उपरोक्त कार्यों में से कुछ भी करना चाहेंगे तो आपको कभी निराश न होना पड़ेगा।

प्रायः आप लोग सोचते होंगे कि भारत एक सुदूरस्थ, विचित्र तथा कुतूहलपूर्ण दृश्यों से भरा हुआ देश है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। भारत का भविष्य योरप से ही सम्बन्धित है। हमारा जो इन्डो यूरोपियन संसार है, भारत भी उसका एक सम्माननीय सदस्य है। स्वयम् हमारे देश के इतिहास में भारत का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे देश के इतिहास से भी बढकर है मानवीय मस्तिष्क का इतिहास और हमें यह कहने में बड़ी प्रसन्नता होती है कि इतिहास में भी भारत का स्थान महत्वपूर्ण है।

आप लोग जानते हैं कि बाह्य संसार या भौतिक संसार के विकास के साधनों को जुटाने में आज के विश्व की कितनी ही महान प्रतिभायें काम में लगी हैं। यदि ठीक-ठीक कहें तो हम कह सकते हैं कि आज के संसार की समूची प्रतिभा केवल एक ही कार्य में लगी हुई है और वह कार्य है भौतिक संसार को पूर्ण विकास तक ले जाना तथा इसी-लिये इस संसार की छोटी से छोटी बातों की जानकारी प्राप्त करना। आज हम पृथ्वी का आविर्भाव, उस पर सर्व प्रथम जीवाणुओं का उद्भव, उनका संयुक्ती एवम् विभक्तीकरण, जिनके सहारे आगे चल कर इंद्रिय युक्त शरीर सम्भव हो सका तथा जिन विकास क्रमों से होते हुये हम आज अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँचे हैं इन सब बातों के विवेचन में लगे हुये हैं। मै पूछता हू कि क्या ठीक इसी प्रकार का और इतना ही महत्वपूर्ण हमारा आन्तरिक संसार नहीं है, क्या बौद्धिक संसार जैसी कोई चीज ही नहीं है, जिसकी विकास शृङ्खलाओं का अध्ययन करना हमारे लिये आवश्यक हो? क्या हमें आन्तरिक संसार या बौद्धिक संसार के विकास के इतिहास का अध्ययन नहीं ही करना चाहिये? किस प्रकार-सर्वप्रथम विधायक तथा निर्देशक आधारों का आविर्भाव हुआ, किस प्रकार उनमें संयुक्ती-एवम् विभक्तीकरण हुआ, फिर किस प्रकार तर्क संगत विचारों का उदय हुआ तथा किस प्रकार हम निम्नतम बौद्धिकस्तर से ऊंचे उठकर वर्तमानस्तर तक पहुँच सके हैं, क्या इसका अध्ययन-आवश्यक नहीं है। यदि मानव मस्तिष्क के अध्ययन का विचार किया जाय जो स्वयम् अपना ही अध्ययन है या यों कहें कि अपने सच्चे रूप का ही अध्ययन है, तो भारत इस क्षेत्र में किसी से भी पीछे नहीं है। आप अपने विशेष अध्ययन के लिए मानव

मस्तिष्क की चाहे जो भी शाखा अपनावें, चाहे वह भाषा हो, धर्म हो, पौराणिकता हो दर्शन, कानून, परम्परायें, प्रारम्भिक कला हो या प्रारम्भिक विज्ञान, हर विषय का अध्ययन करने के लिये भारत ही सर्वाधिक उपयुक्त क्षेत्र है। आप पसन्द करें या न करें परन्तु वास्तविकता यही है कि मानव के इतिहास की बहुमूल्य एवम् निर्देशक सामग्री भारतभूमि में संचित है, केवल भारतभूमि में।

जिन लोगों का भाग्य उन्हें भारत में ले जाने वाला है या जिन लोगों के जीवन का एक लम्बा समय भारत में बीतने वाला है मैं उन लोगों को समझा देना चाहता हूँ कि ससार में भारत की वास्तविक स्थिति क्या है या क्या होनी चाहिये। मुझे आशा है कि इसके साथ इस विश्वविद्यालय के अन्य छात्रों एवम् सदस्यों के हृदय में मैं इस प्रकार की सहानुभूतिपूर्ण भावना उत्पन्न कर देना चाहता हूँ कि संसार या यों कहें कि सृष्टि के इतिहास का हमारा ज्ञान कितना अपूर्ण है और बौद्धिक विकास के ज्ञान में हमारा प्रवेश कितना कम है और वह सदैव ही ऐसा ही रह जायगा यदि हमने अपने ज्ञान के अधूरेपन का अनुभव न किया तो। यदि हमने अपने ज्ञान-क्षेत्र को ग्रीक अथवा नारमन इतिहास तक ही संकुचित कर लिया या केवल सैक्सन तथा केल्टस को ही संसार का सब कुछ समझ कर सन्तोष करके बैठ गये या हमने अध्ययन की पृष्ठ-भूमि में केवल मिश्र, फिलस्तीन तथा बेबीलोनिया को ही रखकर काम चलाना स्वीकार कर लिया और अपने सर्वाधिक समीपस्थ बौद्धिक सम्बन्धियों को दृष्टि से परे कर दिया और भारत के आर्यों के प्रति हमने अपने उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण को न बदला तो हमारा ज्ञान सीमित ही रह जायेगा। हमें स्मरण रखना चाहिये कि भारत के आर्यों ने संसार में सर्वाधिक आश्चर्यजनक भाषा को जन्म दिया हैं। हमारी मौलिक भावनाओं की संरचना में भारत के आर्य हमारे सहकर्मी है। उन्होंने सर्वाधिक स्पष्ट पौराणिक गाथाओं को जन्म दिया है। संसार के सर्वोत्तम दार्शनिक सिद्धान्त को जिन्होने खोज निकाला है तथा जिन्होंने सर्वाधिक स्पष्ट विधियों को निर्मित किया है, वे भी भारत के आर्य ही है।

हमारी उदार-शिक्षा योजना के अन्तर्गत हमारे स्कूलों एवम् विश्वविद्यालयों में जो इतिहास के अध्याय के बाद अध्याय पढाये जाते हैं, उनकी अपूर्णता हम पर प्रगट हो जायगी यदि हम उस इतिहास के भारत सम्बन्धी अध्याय को समुचित रूप से पढने का प्रयत्न करें तथा स्वतन्त्र रूप मे उनकी व्याख्या करने का कष्ट उठायें।

आज के इतिहासकार जिस प्रकार इतिहास के एक-एक अंग पर खोज करके तथा इस प्रकार की इतिहास सामग्री को एकत्रित करके जिस विशाल ऐतिहासिक भंडार की निरन्तर वृद्धिगत सृष्टि करते जा रहे हैं, उसके कारण हमारा इतिहास का अध्ययन असम्भव की सीमा पर पहुँचता दिखाई देने लगा है। इसलिये आजकल के इतिहासकारों का दायित्व अत्यधिक बढ़ गया है। इतिहास की इस अति विशाल निधि में विविध

सामग्रियों के आपसी अनुपात को समझ कर उनको कलात्मक चित्रांकन के मान्यता प्राप्त नियमों के अनुसार इस प्रकार व्यवस्थित कर दें और अनावश्यक सामग्री को छाँट कर अलग कर दें, यह दायित्व है आजकल के इतिहासकारों का। उन्हें यह भी देखना चाहिये कि इस प्रकार के चयन तथा छँटाई की क्रिया में इस बात का भी ध्यान रक्खें कि हमारे समक्ष वे सभी सामग्रियाँ अवश्य आ जायँ जो हमें संसार के ऐतिहासिक स्तर का पूर्ण ज्ञान देने में सहायक सिद्ध हो सकें। इस प्रकार की व्यवस्था शक्ति के कारण ही इतिहासकार तथा वृत्तान्त लेखक का भेद उत्पन्न होता है। इतिहासकार को विभिन्न वृत्तों के अनुपात का ध्यान रखकर उन्हें पाठकों के समक्ष रखना पड़ता है, इस व्यवस्था में उसे कितनी ही बातें गौण समझकर छोड़ देनी पड़ती हैं, जबकि वृत्त लेखक के लिये हर बात महत्वपूर्ण होती है और यदि वृत्त लेखक ने स्वयम् किसी बात का पता लगाया है तो वह बात और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। मेरा विचार है कि यह बात फ्रेडरिक महान् से ही सम्बन्धित है कि एक बार उसने दुखित होकर कहा था कि जिन लोगों ने प्रशन का इतिहास लिखा हे, उन लोगों ने उसकी वर्दी के बटनों का भी वर्णन करना नहीं छोड़ा। शायद उसी प्रकार के इतिहास ग्रन्थों को ध्यान में रखकर कार्लाइल को भी कहना पड़ा था कि उसने इतिहास की प्रायः सारी पुस्तकें देख डालीं परन्तु उनमें से एक भी ऐसी न निकली जिनका तथा जिनके लेखकों का नाम आने वाली पीढ़ी को बताया जा सके। आश्चर्य का विषय तो यह है कि इस प्रकार की बातें लिखने वाले कार्लाइल की ऐतिहासिक कृतियों में भी अधिकाश बातें ऐसी ही हैं जिन्हें विस्मृत कर देने से किसी हानि की सम्भावना नहीं है।

मैं एक बात आप लोगों से पूछता हूँ कि आखिर हम इतिहास क्यों पढ़ते हैं ? क्या कारण है कि इतिहास हमारी शिक्षा का एक मुख्य अंग क्यों बना हुआ है ? इसी लिये न, कि हममें से प्रत्येक के लिये यह जानना आवश्यक है कि जिस स्थिति में हम आज दिन हैं, उसमें पहुँच पाने के लिये हमें किन-किन मंजिलों से गुजरना पड़ा है। अर्थात् इतिहास ही तो एक ऐसा विषय है जो हमें यह बताता है कि हम कहाँ से चले हैं और किन-किन स्थितियों से होते हुये हम आज अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँचे हैं। आप कहेंगे कि यदि हमारा अपनी वर्तमान स्थिति का ज्ञान पूर्ण है तो हमें यह जानने की क्या आवश्यकता है कि हमने पीछे क्या छोड़ा है। मंजिल पर पहुँचे हुये व्यक्ति को खत्म किये हुए रास्ते की जानकारी यदि न भी रहे तो कोई हानि नहीं हो सकती परन्तु मैं कहता हूँ कि उस रास्ते की जानकारी अत्यावश्यक है, और यह आवश्यकता केवल उसी के लिये नहीं है वरन् सारे समाज या यों कहें कि आने वाली पीढ़ी के लिये भी है। क्योंकि इस जानकारी के अभाव में प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति को फिर उसी रास्ते से चलना पड़ेगा। अपने पूर्वजों या यों कहें कि पूर्ववर्ती जनों के अनुभव का लाभ यदि हमें न

मिले तो उन्हीं अनुभवों को प्राप्त करने के लिये हमें फिर से नया प्रयत्न प्रारम्भ करना पड़ेगा। इतिहास ही हमें अपने पूर्ववर्ती लोगों के अनुभवों, उनकी सुविधाओं एवम् कठिनाइयों का ज्ञान कराता है और इसी ज्ञान के सहारे हम उनकी सुविधाओं को ग्रहण करते हुये तथा उनकी कठिनाइयों से बचते हुये हम अपने जीवन मार्ग को अधिक सुविधापूर्ण तथा सफल बनाने का प्रयत्न करते हैं। केवल इतिहास ही हमें इस प्रकार की प्रेरणा दे सकता है कि हम अपने पूर्वजों से भी आगे और ऊँचे पहुंच सकें। जिस प्रकार एक बच्चा अपने पिता से यह पूछ सकता है और उसका यह पूछना एकदम स्वाभाविक है कि जिस भवन मे वह सुरक्षा एवम् शान्तिपूर्वक रह रहा है, वह किसका बनवाया हुआ है या जिस प्रकार वह यह पूछ सकता है कि जिन खेतों से उत्पन्न अन्न से हम पोषण प्राप्त कर रहे हैं, उन खेतों की ऊबड़-खाबड़ एवम् वनस्पतिमय भूमि को साफ एवम् समतल करके खेतो का रूप किसने दिया है, उसी प्रकार हम भी अपने इतिहासकारों से पूछ सकते हैं कि हम यहाँ तक कहाँ से तथा किन-किन मार्गों एवम् मंजिलों से होते हुये पहुँचे हैं तथा आज जिसे हम अपना कहने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करते वह हमें कहां से और कैसे मिला है। आगे चल कर इतिहास हमें कितनी ही बेकार बातें भी बताता रहता है, परन्तु उसका सर्वाधिक प्रमुख लक्ष्य यही होता है कि वह हमें अपनी पूर्व स्थितियो से अवगत कराता है, हमें अपने पूर्वजों के विषय में बताता है तथा आने वाली पीढियों के बारे मे भी संकेत करता है।

जहाँ तक हमारे बौद्धिक पूर्वजों का प्रश्न है, हम लोग यहूदी हैं, ग्रीक हैं तथा रोमन्स है, यहाँ तक कि सैकसंस भी। हम मानते हैं कि जिस यूरोपियन को यह ज्ञान नहीं है कि उस पर ग्रीस, रोम अथवा जर्मनी का कितना ऋण है, उसे न तो हम संस्कृत ही कहेंगे और न शिक्षित ही, क्योंकि इस ऋण के न जानने का तात्पर्य है अपने इतिहास का अज्ञान। इस बात को न जानने मानने से हमारा समूचा पिछला इतिहास ही तमसावृत्त हो जाता है, ऐसा तमसावृत्त कि हमारी दृष्टि उसे देख पाने में असमर्थ-सी हो जाती है। उसे यह तो पता ही नहीं लग सकता कि उसके पूर्व-वर्ती लोगों ने उसके लिये क्या किया है और इस अज्ञान का तात्पर्य यह होगा कि उसके लिये न केवल अपना ही इतिहास अज्ञात है, वरन् समूचे संसार के इतिहास का भी। इतिहास को न जानने वाला व्यक्ति अपने एवम् अपने समाज व राष्ट्र के ऊपर पूर्वजों का जो ऋण है, उसे स्वीकार ही नहीं कर सकता अतः उससे ऐसी आशा करना व्यर्थ ही है कि वह अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिये कुछ कर जायगा। वह ऐसा कुछ कर ही नहीं सकता जो उसकी सन्तानों को सुविधा प्रदान करे। उसके लिये जीवन एक बालू की शृंखला के समान होगी, जो कमजोर तो होगी ही, विच्छिन्न भी होगी, उसमें संयोजिका शक्ति का पूर्ण अभाव होगा। इसके विपरीत हमारा जीवन उस विद्युत् शृंखला के समान

होना चाहिये जो न केवल हमें अपने पर पूर्वजों के ऋण का स्मरण दिला कर ही अनुप्रमाणित करती रहे वरन् भविष्य के लिये सुघर आशायें दिलाकर हमें सन्तोष भी प्रदान करती रहे एवम् इस प्रकार हमारे भूत को वर्तमान और वर्तमान को भविष्य से जोड़ती रहे।

आइये, हम अपने धर्म (रिलीजन) से ही प्रारम्भ करें। कोई भी व्यक्ति तब तक ईसाई धर्म की सम्भावनाओं को पूर्णतया हृदयंगम नहीं कर पावेगा, जब तक कि वह यहूदी जाति के विषय की कुछ जानकारी प्राप्त न कर ले। यहूदी जाति विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि ओल्ड टेस्टामेंट के पृष्ठों को पलटा जाय। यहूदियों का प्राचीन संसार की अन्य जातियों से क्या और किस प्रकार का सम्बन्ध था, यहूदियों के अपने सिद्धान्त क्या थे तथा उनके कौन-कौन से सिद्धान्त समूचे सेमेटिक वर्गीय लोगों की सम्पत्ति थे या प्राचीन राष्ट्रों के जनों से ऐतिहासिक सम्बन्ध स्थापित करके यहूदियों ने किन नैतिक एवम् धार्मिक भावनाओं की प्रेरणा प्राप्त की थी, इन सब बातों का सुस्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें बेबीलोन, फारस तथा फोनीशिया के इतिहास की ओर ध्यान देना होगा। यह हो सकता है कि आज वे जातियाँ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गयी हों और बहुतों को यह कहने की इच्छा (और वह इच्छा स्वाभाविक है,) होगी कि जो मर गये हैं, उनकी कब्रों को कौन खोदे, या कि हमें उन ममीज से क्या लेना है ? परन्तु इतिहास की धारा सदा ही अजस्र रही है। भूत से वर्तमान का जो तारतम्य बँधा हुआ है, उसके कारण आप लोगों को अपनी ही सभ्यता व संस्कृति में कितनी ही ऐसी बातें मिलेंगी जिनके लिये हम बेबिलोन, फारस, मिश्र एवम् फोनीशिया के ऋणी हैं।

हममें से अधिकांश के पास घड़ी है। हम अपनी-अपनी घड़ियों में नित्य समय देखा करते हैं, परन्तु हममें से कितनों को पता है कि घंटे को साठ मिनट में विभक्त करने का प्रारम्भ कब से और किनके द्वारा प्रारम्भ किया गया। हमको जानना चाहिये कि साठ मिनटों की यह योजना बेबिलोन निवासियों की है। हो सकता है कि यह योजना त्रुटिपूर्ण हो, फिर भी यह जैसी कुछ है, वह हमें यूनानियों एवम् रोम निवासियों से मिली है और उन लोगों ने इसे बेबिलोन से ही ग्रहण किया था। ईसा से एक सौ पचास वर्ष पूर्व हिप्यारकश ने इसे बेबिलोन से प्राप्त किया और एक सौ पचास ईसवी में टालोमी ने इसे प्रचारित किया। जिस समय फ्रांस देश के विद्वानों ने हर पैमाने को दशमलव पद्धति के अनुसार बनाया तो भी उन्होंने इस मिनट एवम् सेकेंडों की योजना को ज्यों की त्यों रहने दिया। ऐसा दो ही कारणों से हो सकता था। या तो उन्हें यह योजना ही सर्वाधिक उत्तम जान पड़ी या वे इस योजना का दाशमिक रूप प्रस्तुत ही न कर सकें। आपको जानना चाहिये कि प्रत्येक पैमाना केवल मानव के क्रिया-कलापों से ही सम्बन्धित है, जब कि घन्टा, मिनट एवम् सेकेंड की योजना सृष्टि के गणित से सम्बन्धित है। जो कुछ भी

हो आज तक किसी देश के किसी भी विद्वान ने इस योजना को परिवर्तित करने की कौन कहे, इसमें सुधार करने का भी नाम नहीं लिया। बेबिलोन के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत इस घन्टा, मिनट, सेकेंड की विभाजन क्रिया को समूचे संसार ने मान्य कर रक्खा है।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति पत्र लिखता है और उस पत्र लेखन में हम अपनी वर्ण-माला का प्रयोग करते हैं। हम जानते हैं या यों कहें कि हमें जानना चाहिये कि इस वर्ण-माला के लिये हम रोमनों एवम् यूनानियों के आभारी हैं, यूनानी लोग इस वर्णमाला के लिये फोनीशियनो के ऋणी हैं और फोनीशिया के लोगों ने इसे मिश्र से सीखा। यह वर्ण-माला अपूर्ण या त्रुटिपूर्ण हो सकती है और जैसा कि ध्वनिशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि यह त्रुटिपूर्ण है, परन्तु वह जो कुछ भी है और जैसी कुछ है, हमें उसके लिये मिश्र तथा फोनीशिया का ही आभार मानना पड़ेगा। इस प्रकार हम जो कुछ भी लिखते पढ़ते हैं, उसके एक-एक अक्षर में मिश्र के गूढाक्षरों की छाया स्पष्ट रहती है।

हमने फ़ारस से क्या लिया है ? उनकी देन कुछ अधिक नहीं है, क्योंकि उनकी जाति में अनुसन्धान एवम् आविष्कार की प्रवृत्ति नहीं रही, या यदि रही भी तो अत्यल्प, जिसे आगे बढ़ने की न तो प्रेरणा ही मिली न उत्साह। इसलिये उनके पास जो कुछ था भी उनका निजी नहीं था, प्रत्युत उन्होंने अपने पड़ोसियों से लिया था। ये पड़ोसी थे बेबिलोनिया तथा असीरिया के निवासी। फिर भी उनका कुछ न कुछ ऋण तो हम पर है ही। उनका सर्वाधिक प्रमुख एवम् सबसे बड़ा ऋण तो हम पर वही है कि उन्होंने यूना-नियों के मुकाबले मे अपने को पराजित हो जाने दिया। आप लोग मेरी इस बात को सुन कर मन ही मन हँसे नहीं वरन् यह सोचें कि यदि फारस देश वाले यूनानियों के समक्ष हार न गये होते तो आज संसार किस स्थिति में होता। यदि मराठों के युद्ध में यूनानी पराजित हो गये होते तो बात-बात में जिन यूनानियों का आभार मानने की परम्परा-सी चल गयी है, उस यूनानी जाति एवम् उनकी सभ्यता का क्या हुआ होता। ऐसी दशा में आवश्यक था कि फ़ारस वालों ने यूनानियों को न केवल दास ही बना लिया होता, वरन् उनकी सभ्यता, संस्कृति तथा विद्या भी विनाश के गर्त में जा पड़ी होती। यूनान की विद्वत्ता का अन्त होने का एक परिणाम यह भी हो सकता था कि इसमें आज भी अविद्या, अज्ञान एवम् मूढता का ही आधिक्य होता। इस ढंग की विचार-प्रणाली द्वारा यह प्रतीत होगा कि फारस देश की उपरोक्त पराजय भी मानवता की प्रगति में यदि प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से ही सहायिका बनी। मैंने इस विचार प्रणाली को इस स्थल पर केवल इसलिये प्रस्तुत किया है कि आप लोग इस बात को अच्छी तरह समझ जायँ कि इस प्रकार की सम्भावनायें केवल यूनानियों एवम् रोमनों की ही सभ्यता एवम् विद्या के सम्बन्ध में ही नहीं उपस्थित हुईं, बल्कि किसी समय में सैक्सन ने तथा आंग्ल सैक्सन जाति भी इसी प्रकार अग्नि-पूजकों का दास बनते-बनते बँची और उनकी सभ्यता को

पल्लवित एवम् पुष्पित होने का अवसर मिल गया कि आज उनका नाम भी जीवित रह पाता या नहीं, इसे सर्वान्तर्यामी के अतिरिक्त और कौन जान सकता है ।

यह सब तो हुआ फारस की अप्रत्यक्ष देन के सम्बन्ध में । अब एक प्रत्यक्ष देन की भी बात सुनिये । कम से कम एक विषय में हमें फारस का प्रत्यक्ष ऋण स्वीकार ही करना पड़ेगा । हमारी मुद्रा-प्रणाली में चांदी का सोने के साथ जो निर्बाध सम्बन्ध चला आ रहा है, उस सम्बन्ध को सर्वप्रथम स्थापित करने का श्रेय पारसी लोगों को ही है । निस्सन्देह उस अनुपात का सर्वप्रथम निश्चय बेबिलोन में ही किया गया था, परन्तु फारसी साम्राज्य ने ही इसे एक प्रणाली का रूप देकर इसे प्रचलित किया और वहीं से उसे ऐतिहासिक महत्व मिला । पारसी साम्राज्य से ही यह प्रणाली यूनान-अधिकृत एशियाई देशों में फैली और उन देशों से यूरोप के देशों में प्रचलित हुई और यत्र-तत्र थोड़ी सी विभिन्नताओं के साथ यह प्रणाली आज भी सर्वसम्मत प्रणाली है ।

एक टैलेन्ट विभाजित किया गया था साठ भागों में, जिनमें से प्रत्येक को एक मिना कहते थे । एक मिना को साठ भागों में बाँट कर प्रत्येक को शेकेल कहते थे । आप देखेंगे कि यह विभाजन ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार घन्टा मिनटों में तथा मिनट सेकेंडों में बाँटे गये थे । ऊपर हमने कहा है कि यह विभाजन बेबिलोन का है । मेरा विचार है कि साठ भागों में यह विभाजन इसीलिये स्वीकार किया गया था कि सौ से नीचे की संख्याओं में साठ ऐसी संख्या है जिसके सर्वाधिक गुणन खंड होते हैं या जो सर्वाधिक संख्याओं से विभाज्य है । इसीलिये उसे स्वीकार भी किया गया और इसीलिये इसे लोगों ने मान्यता भी अधिक दी । शेकेल का अनुवाद यूनानी भाषा में 'स्टेटर' किया गया और एथेन्स का सोने की स्टेटर मुद्रा पारसी शेकेल नाम की मुद्रा के समान ही क्रोशस द्वारा तथा अलेग्जैंडर के समय तक सोने के मिना के साठवें अंग के बराबर ही होता रहा और इस प्रकार के पैमाने में वह हमारी सावरेन नामक मुद्रा के बहुत ही समीप है । चांदी का सोने के साथ एक व तेरह या १३$\frac{1}{3}$ का रक्खा गया था । इस प्रकार यदि एक चांदी के शेकेल का वजन तेरह व दस के अनुपात में रक्खा गया रहा हो तो वह सिक्का बहुत कुछ उसी ढंग या आनुपातिक मूल्य का रहा होगा, जैसा कि आजकल का हमारा फ्लोरिन है । चांदी के शेकेल के आधे भाग को ड्राक्मा कहते थे और इसीलिये एक ड्राक्मा हमारे शिलिंग का वास्तविक पूर्वज है ।

आप एक बार फिर कह सकते हैं कि सोने व चांदी का आपेक्षिक मूल्य स्थापित करना खुद अपने में ही एक महान् भूल थी और वह भूल आज तक चली आ रही है । इस प्रकार का मूल्यांकन त्रुटिपूर्ण है या नहीं, इस पर हमें नहीं विचार करना है । मैंने तो इस तथ्य को आपके सामने इसलिये प्रस्तुत किया है कि आप इस बात को स्पष्टतया समझ जायँ कि यह संसार किस प्रकार संयोजित है, किस प्रकार इसके एक देश का इतिहास

दूसरे से बँधा हुआ है तथा किस प्रकार हम न केवल अपने ही कष्ट एवम् श्रम का वरन् अपने पूर्ववर्ती जनों के भी कष्ट और श्रम के सुफलों को भी भोग रहे है। हमारे कहने का तात्पर्य इस समय केवल इतना ही है कि आप इस बात को तथा इसकी महत्ता को भली भाँति हृदयंगम कर लें कि जिस दुनिया में हम और आज सुख पूर्वक रह रहे हैं, उसे हमनें आपने ही इतना सुविधापूर्ण नहीं बनाया है तथा इसे बनाने में कितने ही ऐसे लोगों के भी हाथ लगे ह, जिनकी आज स्मृति भी शेप नहीं रह गयी है। हमारे कितने पूर्व-वर्तियो ने हमारे संसार को वर्तमान रूप देने के लिये न जाने कितना श्रम किया है, भले ही उनके शरीरा मे कोई अन्य रक्त प्रवाहित होता रहा हो, या उनकी कपालास्थियाँ चाहे जिस प्रकार की रही हों।

यदि धर्म के विपय में यह सत्य ह कि उसे सर्वांगीण रूप मे समझने के लिये हमें न केवल उसके उद्भव-स्थल, जन्म समय तथा विकास क्रम को ही समझ लेना चाहिये वरन् जिन परिस्थितियो में उस धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, उसे भी जान लेना चाहिये, यदि धार्मिक अनुसन्धान सम्बन्धी विपयों मे यह सत्य है कि हमारे धर्म का अध्ययन करने के लिये हमे मेसोपोटामिया के प्राचीन लेखो, मिश्र के गूढाक्षरो में लिखित पुरोहितों के लेख तथा फोनी-शिया एवम् फारस देश के ऐतिहासिक स्मारकों का अध्ययन आवश्यक है, तो यह भी सत्य है कि अपने बौद्धिक जीवन को उसके समग्र रूप में तथा उसमें संयोजित उसके विभिन्न अंगों को अलग-अलग ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमे कितने ही लोगो का एवम् उनके ज्ञान का सहारा लेना पड़ेगा। यदि हम धार्मिक रूप से सेमेटिक या यहूदी है, तो दार्शनिक रूप से यूनानी है, राजनीति में हम रोमन है, नैतिक रूप से हम सैक्सन है और इन विभिन्न अंगों के विभिन्न देशीय होने का मतलब यह हुआ कि यदि हम अपनी शिक्षा को उदार शिक्षा बनाना चाहते हैं, विवेक पूर्ण बनाना चाहते हैं और उसकी ऐतिहासिकता को जीवित रखना चाहतें है तो हमें न केवल ग्रीक, रोमन तथा सैक्सन इतिहास का ही अध्ययन करने की व्यवस्था करनी होगी वरन् हमें अपनी शिक्षा व्यवस्था उस प्रकार की बनानी होगी कि हमारे छात्र यह भी समझ सकें कि हमारी सभ्यता का प्रवाह किस प्रकार यूनान से इटली पहुँचा और किस प्रकार जर्मनी से होता हुआ हमारे द्वीपों में पहुँचा। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था के अभाव में हमारे बौद्धिक विकास क्रम का ज्ञान अधूरा ही रह जायगा।

आप कह सकते है और ऐसा कहने की आपकी इच्छा भी हो रही होगी कि यहाँ तक तो ठीक है कि हम अपने ज्ञान को सम्पूर्णता देने के लिये उपरोक्त सभा देशों को अध्ययन का औचित्य एवम् उसकी आवश्यकता को स्वीकार करते है और उनका अध्ययन करने में हम आगापीछा भी नही करेंगे, आप कहेंगे कि जो हमारे बौद्धिक पूर्वज है और जो संसार के ऐतिहासिक साम्राज्यो में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं, उन वेबिलोनियाँ,

फोनीशिया, मिश्र, यूनान तथा रोम के निवासियों का आभार हम स्वीकार करते हैं, परन्तु हमारी इस सूची में भारत को क्यों लिया जाय ? शिक्षित कहलाने के लिये पूर्व निश्चित जिन बोझों का वहन करना हम सब के लिये आवश्यक बना दिया गया है उन्होंने हमारे मस्तिष्कों को पहले से भी दबा रक्खा है, फिर क्या आवश्यकता है कि हम भारत के अध्ययन का बोझा भी व्यर्थ ही अपने सरों पर रख लें ? जो स्मरण शक्ति पहले से ही भाराक्रान्त हो रही हो, उस पर और भी बोझा रखने से क्या लाभ, जब कि उस अतिरिक्त बोझ से हमें कुछ भी मिलने की आशा नहीं है ? आप पूछना चाह रहे होंगे कि भला हमने सिंधु तथा गंगातीर के उन काले निवासियों से क्या पाया है कि हम उनका आभार स्वीकार करें और व्यर्थ में उनका, उनके धर्म का, उनकी सभ्यता एवम् संस्कृति का तथा उनकी भाषा एवम् उनके साहित्य का अध्ययन करने जाकर अपने पहले से ही दबे मस्तिष्क पर और भी दबाव डालें। हमारे मस्तिष्क में अध्ययन करने योग्य पूर्व निर्धारित सामग्री ही क्या कम है जो हम उसमें भारतीय सम्राटों के नाम भारतीय इतिहास की घटनायें, उनकी तिथियाँ, उनके कार्य तथा उन कार्यों के कारण तथा परिणामों की शृंखला को भी उसी में और भर लें ?

आपके इस प्रश्न में कुछ औचित्य है, इसे मैं मानता हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि प्राचीन काल के भारतीय हमारे पूर्वज उस प्रकार के नहीं हैं, जिस प्रकार के पूर्वज यहूदी, रोमन, यूनानी या सैक्सन हैं, उनसे हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध वैसा नहीं है जैसा इन लोगों से है, फिर भी भारतीय लोग उस शाखा के समानोदक हैं, जिसमें हमारी भाषा का सम्बन्ध है अर्थात् जिसमें हमारा विचारों का सम्बन्ध है। एक बात और भी है। भारतीयों का ऐतिहासिक साहित्य [1]सर्वाधिक विशाल है, उतना विशाल ऐतिहासिक साहित्य अन्य किसी भी जाति का नहीं है। इस साहित्य की विशेषता यह है कि वह इस प्रकार के सुपाठ्य एवम् सम्पूर्ण रूप में हमारे लिये सुरक्षित है कि हम जो कुछ और जितना कुछ

---

[1] "हिस्ट्री आव् एनशियेंट सम्कृत लिटरेचर" पृष्ठ ३१ पर मैक्समूलर ने लिखा था कि "हिन्दू दार्शनिकों की जाति थी। उनका संघर्ष विचारों का संघर्ष था "उनका अतीत सृष्टि की समस्या थी" "उनका भविष्य अस्तित्व का प्रश्न था" इसलिये यह कहना न्यायोचित है कि 'विश्व के राजनैतिक इतिहास में भारत का कोई स्थान नहीं है।'

ऐसा लगता है कि उपरोक्त वाक्यों के लेखकों के समय तक मैक्समूलर को पूरा महाभारत पढ़ने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ था अन्यथा महाभारत के अन्य राज संस्था सम्बन्धी स्थलों के साथ वे शान्ति पर्व का यह श्लोकांश कैसे भूल जाते "सर्वस्य जीवलोकस्य, राजधर्मः परायणम्।"

—अनुवादक शान्तिपर्व ५६।३

इस से सीख सकते है, वह अन्यत्र सम्भव नहीं है। इस साहित्य के सहारे हम अपनी बौद्धिक पूर्वापर शृंखला की उन कड़ियो को आसानी से पा सकते हैं जिन्हे हम आज तक खोई हुई समझे बैठे थे। उससे भी महत्वपूर्ण एक विषय है जिसे हम किसी भी प्रकार छोड़ नहीं सकते और वह विषय है मानव तथा बन्दर के बीच की संयोजिका कड़ी, जिसका पता भी हमें भारतीय साहित्य भंडार से ही मिल सकता है, संसार के किसी भी जाति के साहित्य से नहीं।

आप लोगो को यह बात समझ लेनी चाहिये कि अभी मैं भारत के उस साहित्य की बात नहीं कर रहा हूँ, जो आज हमें सुलभ है, हम बात कर रहे हैं भारत की भाषा के सम्बन्ध मे अर्थात् संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में। अब इस बात को कोई नहीं मानता कि ग्रीक, लैटिन तथा आंग्लसैक्सन भाषायें संस्कृत भाषा से ही निःसृत है। कुछ दिनों पूर्व ऐसा माना जाता था, परन्तु अब यह प्रमाणित हो गया है कि संस्कृत उसी वृक्ष की एक समानोदक शाखा है, जिससे ग्रीक, लैटिन तथा आंग्ल सैक्सन भाषाये निकली हैं। केवल इतना ही नहीं वरन् यह भी प्रमाणित किया जा चुका है और लोग यह मानने भी लगे है कि केवल उपरोक्त भाषाये ही नहीं वरन् ट्यूटनिक परिवार, केल्टिक परिवार, स्लैवनिक परिवार की सभी भाषायें, बल्कि इससे भी आगे बढ़ कर फारस तथा आर्मीनियाँ की भाषायें भी उसी भाषा वृक्ष की शाखाये है, जिससे संस्कृत निकली है।

आप पूछेंगे या पूछना चाहेंगे कि फिर ऐसी कौन सी विशेषता संस्कृत भाषा में है, जिसके कारण हमें उस पर विशेष ध्यान देना चाहिये या आप यह जानना चाहेंगे कि इतिहासकारों की दृष्टि मे इस भाषा का इतना अधिक महत्व क्यों है।

आपके प्रश्न के उत्तर मे प्रथम बात आती है इस भाषा की प्राचीनता। संस्कृत का समय ग्रीक भाषा के समय का पूर्ववर्ती है, परन्तु इस सामायिक प्राचीनता से भी अधिक महत्वपूर्ण है इस भाषा को सुरक्षित रखने की वह अनोखी स्थिति, जिसमें आर्यों की यह भाषा हम लोगों को मिली है। संसार ग्रीक एवम् लैटिन भाषाओ को सदियो से जान रहा था और लोग यह अनुभव कर रहे थे कि इन दोनों में किसी न किसी प्रकार का साम्य अवश्य है, परन्तु लोगो को यह नहीं सूझ रहा था कि इस साम्य को समझाया कैसे जाय। कभी तो ऐसा होता था कि ग्रीक भाषा के किसी शब्द की व्युत्पत्ति का रहस्य लैटिन भाषा में दिखाई पड़ जाता था, और कभी लैटिन भाषा के किसी शब्द का मूलरूप ग्रीक भाषा में झलक जाता था। कालान्तर मे जब प्राचीन ट्यूटनिक भाषाओं, जैसे गोथिक तथा आंग्लसैक्सन भाषाओ के अध्ययन की परम्परा चली, साथ ही विद्वानों ने केल्टिक तथा स्लावनिक भाषाओं का भी अध्ययन प्रारम्भ किया तो यह बात धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगी कि इन सभी भाषाओं मे वैसी ही एक रूपता है, जैसी एक रूपता एक ही परिवार के विभिन्न देशवासी व्यक्तियो मे होती है। अब लोगो के सामने यह प्रश्न आया कि यह रूप-

साम्य सम्भव कैसे हुआ। इससे भी कठिन दूसरा प्रश्न यह सामने आया कि इन साम्यताओं की पृष्ठ भूमि में इन अनेक भाषाओं के बीच इतना अन्तर ही कैसे सम्भव हो सका। अभी विद्वान पहले ही प्रश्न का तर्क संगत समाधान न कर पाये थे कि दूसरा प्रश्न भी सामने आ गया। इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए अनेक विद्वानों ने हाथ पाँव मारा, जमीन आसमान के कुलाबे मिलाये और कितनी ही तर्कहीन सारहीन एवम् संगतिहीन बातें कही सुनी गयीं। इन तमाम कठिनाइयों का समाधान तब तक नहीं मिल सका, जब तक कि विद्वानों ने अपनी अध्ययन सूची में संस्कृत को सम्मिलित नहीं किया। इधर संस्कृत का अध्ययन आरम्भ किया गया और उधर अनेक भाषा सम्बन्धी उलझनें सुलझने लगीं। सभी प्रश्नों पर प्रकाश पड़ने लगा और उस प्रकाश में विद्वानों को आने-वाले प्रश्नों का तर्कसंगत, सारमय एवम् संगतिपूर्ण उत्तर मिलने लगा। अभी तक जो भी भाषायें विभिन्न परिवार की समझी जाती थीं, एक भाषा दूसरी भाषा के लिए विदेशिनी मानी जाती थी, परन्तु संस्कृत के पदार्पण होते ही उनका वैभिन्य एवम् विदेशीपन जाता रहा और वे सभी भाषायें स्पष्ट रूप में एक ही परिवार की विभिन्न घरों में ब्याही हुई कन्याओं के समान सिद्ध हो गयीं। उनका विदेशीपन जाता रहा और जैसे नैहर में आई लड़कियाँ अपने ससुराल की विभिन्नताओं का त्याग कर पितृगृह में समान अधिकार से प्रतिष्ठित होती हैं, वैसे ही सभी भाषायें अपने-अपने उचित स्थान पर समासीन हो गयीं, अवश्य ही संस्कृत ने सर्वाग्रजा का स्थान ग्रहण किया। बड़ी बहन को कितनी ही ऐसी बातों का पता था, जिनका लेशमात्र भी छोटी बहनें नहीं पता पायी थीं। उन बातों को या तो वे जानती ही नहीं थीं या भूल गयी थीं। दूसरी भाषाओं ने हमें कुछ भी नहीं दिया, ऐसा समझ लेना भी सत्य की उपेक्षा ही होगी। संस्कृतेतर भाषाओं ने सामूहिक रूप से मानवीय मस्तिष्क के जिस अध्याय को जन्म दिया, वह अलग-अलग यहूदी, ग्रीक, लैटिन तथा सैक्सन अध्यायों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण था।

जिस प्रक्रिया के द्वारा इतिहास के उस प्राचीन अध्याय को प्रस्तुत किया गया, वह अति साधारण प्रक्रिया थी। ऐसे शब्दों को चुन लिया जाता है जो आर्य परिवार की सातों भाषाओं में समान रूप एवम् समान अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। और आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इन्हीं शब्दों में हमारे वास्तविक पूर्व-पुरुषों के विचारों का सारा इतिहास छिपा पड़ा है जो सर्वप्रकारेण वास्तविक एवम् विश्वसनीय है। यह इतिहास उस समय के बारे में बताता है, जब आर्य लोग केवल आर्य थे अर्थात उनका विभाजन नहीं हुआ था। तब वे न तो हिन्दू थे, और न पारसी या ग्रीक या रोमन या केल्ट या स्लावनिक ही। ऐसा भी हुआ है कि कुछ भाषाओं में कुछ शब्द गायब भी हो गये हैं, परन्तु फिर भी यदि कोई शब्द छः, पाँच, चार तीन या दो भाषाओं में भी प्राप्त होता है और यदि यह प्रमाणित नहीं हो पाता कि यह शब्द साम्य किसी परवर्ती सम्बन्ध के कारण उत्पन्न हुआ है तो हम

निस्सन्देह यह परिणाम निकाल सकते हैं कि यह शब्द आर्यों में उस समय व्यवहृत होता था जब वे समवेत रूप में रहते थे तथा जब वे अलग-अलग देशों में बसने के लिये रवाना नहीं हुये थे। यदि हम अग्नि शब्द को ले तो देखेंगे कि संस्कृत भाषा का अग्नि शब्द लैटिन भाषा में 'इग्निस' हो गया है और अग्नि के अर्थ मे ही प्रयुक्त होता है, हम सरलता से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अविभाजित आर्यों को अग्नि का ज्ञान था, भले ही इस अर्थ में यह रूप अन्य पाँच भाषाओं में न हो। आप पूछ सकते है कि ऐसा क्यो ? इसका कारण यह है कि इस बात का कहीं से कोई भी प्रमाण नहीं मिलता कि अन्य पाँच भाषाओं की अपेक्षा ग्रीक भाषा का सम्पर्क संस्कृत भाषा के साथ अधिक बाद तक रहा हो। हम यह भी कहने की स्थिति मे नहीं है कि लैटिन भाषा ने इस शब्द को संस्कृत से ले लिया है और यह आदान विभक्तीकरण की प्रक्रिया के बाद हुआ है। लिथुआनिया की भाषा मे अग्नि के लिये 'अग्निस' तथा स्काटलैंड की भाषा में 'इंगिल' शब्द आता है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सम्भवतया स्लावनिक एवम् ब्यूटनिक भाषाओं में भी आग के अर्थ में 'अग्नि' को ही लोग प्रयोग में लाते थे यद्यपि कालान्तर मे इन भाषाओं मे आग के लिये दूसरे-दूसरे शब्द प्रयोग मे आने लगे। संसार की अन्य विनाश-शील वस्तुओं की तरह शब्द भी जन्म लेते रहते हैं, बाल, युवा, वृद्ध होकर मरण को भी प्राप्त होते रहते है और यह पता पाना कोई आसान काम नहीं है कि अमुक भूमि में अमुक शब्द क्यों जीवित बचा रहा जब कि वही शब्द दूसरी भूमि मे शताब्दियों पहले ही मर गया। अग्नि शब्द अपने मूल रूप में संस्कृत एवम् लैटिन भाषा मे जीवित है। परन्तु शेष पाँच भाषाओं में वृद्ध एवम् क्षीण होकर मृत्यु की मसृण दाढों में समा गया है। सम्भव है कि कालान्तर में उच्चारण की कठिनाइयों के कारण लोगो ने इस शब्द का व्यवहार बन्द कर दिया हो।

कल्पना कीजिये कि हम यह जानना चाहते हैं कि अपने विभाजन के पूर्व आर्य लोग चूहे को जानते थे या नहीं। इस प्रकार की ज्ञान प्राप्ति के लिये हमे विभिन्न भाषाओं के कोष देखने पड़ेंगे। इस प्रयत्न का परिणाम यह होगा कि हम संस्कृत मे मूषक् शब्द, ग्रीक भाषा में मस (Mus) लैटिन में मस (Mus) प्राचीन स्लावनिक में माइस (Myse), तथा प्राचीन जर्मन भाषा मे मुस (Mus) शब्द पावेंगे और इस अनुसन्धान का परिणाम निश्चय रूप से यही होगा कि अति सुन्दर भूतकाल में, जिसे हम भारतीय काल निर्धारण प्रणाली द्वारा ही माप सकते है जब समूची आर्य जाति अविभक्त रूप से एक ही स्थान पर रहती थी, उस समय भी चूहा नामक जीव को मूषक् शब्द से जानते थे और मूषक कहने से तत्समान किसी अन्य जीव का भ्रम हो जाने की आशंका तनिक भी नहीं थी।

इसी प्रकार यदि हम यह जानना चाहें चूहे के जन्मजात शत्रु बिल्ली को उस काल के आर्य जानते थे या नहीं, तो यही कह देना न्याय संगत ही होगा। संस्कृत में

बिल्ली को मार्जार तथा बिडाल कहते हैं। बिल्ली को ग्रीक भाषा में गेली तथा एलराम कहते हैं और लैटिन भाषा में मस्टेला तथा फेलिस कहते हैं, परन्तु ये इन चारों शब्द पालतू बिल्ली के अर्थ में नहीं आते वरन एक प्रकार के नेवले के अर्थ में आते हैं। बिल्ली के लिये ग्रीक भाषा में कट्टा शब्द आता है और लटिन में केटस और शेष चार भाषाओं के मार्जारार्थक शब्द इसी केटस के रूपान्तर मात्र हैं। हम जानते हैं कि कैट (Cat) नाम का जानवर योरप में मिश्र से लाया गया है जहां पर इसे शताब्दियों से पाला तथा पूजा जाता था और चूंकि योरप में इस जानवर का आगमन ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ, इसीलिये हम कह सकते हैं कि विभाजित होने के पूर्ववर्ती काल में आर्य लोग बिल्ली नामक प्राणी को नहीं जानते थे।

इसी साधारण-सी प्रक्रिया के आधार पर विभाजन के पूर्ववर्ती आर्यों की सभ्यता की स्थिति का कमोवेश सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है और किया भी गया है। जिस प्रकार पच्चीकारी के काम में विभिन्न रंगों के पत्थरों को एकत्रित करके सौन्दर्य की सृष्टि की जाती है, उसी प्रकार विभिन्न शब्दों को चुनकर उनके द्वारा उनके प्रयोग करने वाले लोगों का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है। ऐसा विश्वास करने का पर्याप्त कारण है कि अन्यान्य साधनों पर हम चाहे जितना प्रयास करें परन्तु प्राचीन आर्यों की स्थिति का दिग्दर्शन कराने में जो सफलता हमें इन शब्दों के आधार पर मिली है, उसकी तुलना में अन्य साधनों द्वारा प्राप्त चित्र नगण्य सा-ही है।

इतना ही नहीं, भारत, यूनान, इटली तथा जर्मनी में फैले हुये विभिन्न शब्दों को खोज-खाज कर आर्यों की जिस आदि भाषा को प्रस्तुत किया गया है वह विचारों की एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। जीवन की उस सुदूर अतीत काल सीमा को निर्धारित करने में तिथि सम्बन्धी बाधाओं से प्रायः लोग घबरा जाते हैं। यदि हम देखते हैं कि ईसा के पूर्व की पन्द्रहवीं शताब्दी में ही संस्कृत भाषा ने साहित्यिक भाषा का स्वरूप प्राप्त कर लिया था और उस समय उसमें तथा ग्रीक भाषा में कोई साम्य नहीं दिखाई पड़ता तो इन दोनों भाषाओं के मूल स्रोत को खोजने के लिये और कितना पीछे जाया जाय। यदि काल प्रवाह की उल्टी दिशा में चल कर हम उस समय की सीमा में पहुँच जायँ, जहां ग्रीक और संस्कृत एक ही आर्य भाषा में समाहित हो जाती हैं तो हम देखेंगे कि वह मूलभाषा भी उस पाषाण के समान हो गयी थी जो सदियों से वर्षा की झड़ियों एवम् वायु के थपेड़ों को सहते-सहते एक दम चिकना हो गया है। उस भाषा में हमें 'अस्मि' शब्द मिलता है, जो संस्कृत में आज भी उसी रूप में तथा ग्रीक भाषा में एस्मि (Esmi) रूप में पाया जाता है। संस्कृत के अस्मि शब्द का अर्थ होता है "मैं हूं" (I am) यदि हम यह जानना चाहें कि संस्कृतेतर अन्य भाषाओं में 'अस्मि' के अर्थ देने वाले कौन से शब्द या शब्द समूह आते हैं तो हमें पूर्ण निराशा होती है, क्योंकि इन भाषाओं में 'अस्मि' के

समानार्थी जो शब्द समूह बनते हैं उनका अर्थ वास्तव में होता हे "मै खड़ा होता हूँ," "मैं रहता हूँ," या "मै उत्पन्न होता हूँ।" केवल दो एक भाषायें ही ऐसी हे जिनमें 'अस्मि' के वास्तविक समानार्थक शब्द मिलते है। हम लोगों को 'अस्मि या मे हूँ' कहना सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है, परन्तु किसी भी कलात्मक कृति मे इतना मानव प्रयत्न नहीं लगा है जितना इस छोटे से शब्द 'अस्मि' मे लगा है और वे सभी प्रयत्न आर्यों की आदि भाषा के तहों में छिपे पड़े ह। इस 'अस्मि' शब्द को मान्यता प्राप्त होने के पहले न जाने कितने शब्द बनाये गये, उन्हे परखा गया और उन्हे अपने मतलब का न पाकर छोड़ दिया गया, परन्तु "मैं हूँ" का अर्थ देने वाला कोई भी अकेला शब्द न बनाया जा सका। अन्त मे 'अस्मि' शब्द को इस योग्य समझा गया कि इसे मान्यता दी जाय। कालान्तर मे भी इस शब्द को अपदस्थ करने के प्रयत्न किये गये पर वे सभी व्यर्थ हुये और तब से यह यौगिक शब्द निर्बाध रूप से अपना स्थान बनाये हुये है। अस्मि एक शब्द नहीं है। इसमे अस् धातु है, जिसका अर्थ है अस्तित्व मे होना। यही शब्द धातु के पुरुष एवम् काल के अनुसार वर्तमान काल में लटलकार मे उत्तम पुरुष एक बचन में 'अस्मि' हो जाता है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि संसार की किसी अन्य भाषा मे उसकी जोड़ का शब्द नहीं है। प्रारम्भ मे अस् धातु स्वाँस लेने के अर्थ में ग्रहण की जाती थी। इससे असु शब्द बनता था, जिसको श्वास, आत्मा, जीवन इत्यादि के अर्थ में प्रयोग में लाया जाता था। अस् को मुह के अर्थ में भी ग्रहण किया जाता था और इसी का रूपान्तर है लैटिन का ओस या ओसिस शब्द, जो मुख के अर्थ मे ग्रहण किया जाता था। धीरे-धीरे अस् के श्वास लेने के अर्थ का ह्रास होने लगा और लोग इसे अस्तित्व के अर्थ मे ग्रहण करने लगे। बिना संस्कृत का अध्ययन किये हुये आप नहीं समझ सकेंगे कि शून्य के आविष्कार के समान ही अस् धातु के अर्थपरिवर्तन ने भारतीयों की विचार धारा मे कितना महत्वपूर्ण कार्य किया है। जिस प्रकार शून्य का आविष्कार करके भारतीय विद्वानो ने गणित के क्षेत्र में महान् क्रान्ति ला दिया, उसी प्रकार अस् धातु का अर्थान्तर करके भारतीयों ने विचार जगत में महान् कार्य किया। कौन कह सकता हे कि अस् के अर्थ परिवर्तन मे कितना समय लगा। हम यह भी मानने को वाध्य हैं कि अस् धातु आर्यों की है न कि सेमिटिक जातियों या तूरानिया की। इस धातु की ऐतिहासिक विशेषता है, और यह कृति हे हमारे पूर्व पुरुषो की और यह कृति प्रतिनिधित्व करती है उस कड़ी का जो हम को, हमारे विचारों को हमारे पूर्वजों एवम् उनके विचारों से जोड़ती है। यह हमें संयोजित करती हे उन लोगो से जिन्होंने हमारे लिये वाणी-विलास को जन्म दिया, शब्दों की योजना की और हमारे सामने एक सुनियोजित विचारधारा प्रस्तुत की। उन्होंने जो कुछ सोचा, समझा, कहा और किया उन सब का सुफल आज हमारे बौद्धिक विलास की बात बन गयी है, भले ही हमारे उनके समय में हजारों ही नहीं लाखों वर्षों का व्यवधान क्यों न हो।

मैं इसी को इतिहास कहता हूं। यही सच्चे अर्थों में इतिहास है भी। इतिहास शब्द का अर्थ भी यही निर्दशित करता है और इसी प्रकार का इतिहास ही जानने योग्य है। कौन राजा कब हुआ, उसने कितनों का राज्य हड़प लिया, किसने निरपराधों की हत्या का कारण बना, या किस राष्ट्र ने कितनी बेईमानी (राजनीति) से किस राष्ट्र का सर्वस्व हरण कर लिया इन सब बातों के संग्रहीत वर्णना को इतिहास की संज्ञा ही नहीं दी जा सकती। कम से कम मैं तो इसे इतिहास नहीं मान सकता। हम एक विचारपूर्ण युग में जन्मे हैं। हमीं लोगों के सौभाग्य से लोग इतिहास की इस वास्तविक धारा को जानने मानने लगे हैं और हमारे ही नहीं कितने ही देश के नवयुवक इस प्रकार कार्यप्रणाली में लग जाने को तत्पर हैं। यदि आप लोगों में से किसी ने प्राचीनता की इस निधि का अनुसन्धान कार्य हाथ में लिया तो आपको नित्य नये शोध करने के अवसरों की कमी न होगी। मुझे तो आश्चर्य तब होता है जब आजकल के लोग भी पूछ बैठते हैं कि संस्कृत[1] का अध्ययन क्या।'

मानव प्रकृति ही इस प्रकार की है कि हम सब कुछ देखने और मानने के आदी हो जाते हैं। जिन दृश्यों ने हमारे अति प्राचीनकाल के पूर्वजों को आश्चर्याभिभूत कर दिया होगा, वे हमारे लिये साधारण जान पड़ते हैं। जिन नयी बातों ने हमारे पूर्वजों की प्राचीन मान्यताओं एवम् कल्पनाओं को छिन्न-भिन्न करके नई मान्यताओं को स्थापित करने पर विवश कर दिया होगा वे आज हमारे लिये अति सामान्य बन गयी हैं। कल्पना कीजिये कि मानव जीवन में जब सर्वप्रथम भूचाल आया होगा तो उसके मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ा होगा। आकाश में उगे बहुरंगी इन्द्रधनुष को उसे देखकर उसे कितना आश्चर्य हुआ होगा। आजकल का प्रत्येक छात्र जानता है कि अंगरेजी भाषा या तो आर्यों की भाषा है या इंडो-यूरोपियनों की। हम जानते हैं कि हमारी भाषा ट्यूटनिक शाखा से सम्बन्धित है। हम यह भी जानते हैं कि ट्यूटनिक, इटैलियन, ग्रीक, केल्टिक, स्लावनिक, फारसी तथा भारतीय भाषायें सभी एक ही भाषा वृक्ष की शाखायें हैं, जिसे हम सभी लोगों के पूर्वजों ने आरोपित किया तथा सींच कर बड़ा किया था। उसी वृक्ष की इन समानोदक शाखाओं ने मिलकर भाषाओं के इन्डोयूरोपियन परिवार का संगठन किया है। आप उस समय के लोगों की मानसिक स्थिति की कल्पना करने का प्रयत्न कीजिये जब इस तथ्य को प्रकाशित किया गया होगा।

---

[1]श्री अरविन्द का कहना है कि अति प्राचीनकाल में संस्कृत ही हमारी भाषा थी जो अति भव्य है, सर्वाधिक सम्पूर्ण है तथा साहित्यिक कृतियों की रचना के लिये उन सभी भाषाओं में सर्वाधिक उपयुक्त है जिनकी रचना किसी भी देश के मानव मस्तिष्क ने किया है 'देखिए श्री अरविन्द लिखित' 'द फाउन्डेशन्स आव इण्डियन कल्चर।'

—अनुवादक

आज यह बात भाषा विज्ञान के प्रथम पाठ में सिखलाई जाती है, परन्तु केवल पचास वर्षों पूर्व (आज से प्रायः एक सौ चालीस वर्षों पूर्व) इस तथ्य ने हमारे बौद्धिक संसार में एक महती क्रान्ति को जन्म दिया था और हमारे समक्ष एक नये क्षितिज की स्थापना कर दिया था। इस तथ्य पर प्रकाश पड़ने के पूर्व का प्रत्येक भाषा भाषी अन्य भाषा भाषियों को एक विदेशी की दृष्टि से देखता था, परन्तु इस तथ्य ने सभी लोगों को भ्रातृत्व के एक अभूतपूर्व सूत्र में आबद्ध कर दिया। इस तथ्य ने कितने ही रक्तपिपासुओं को सुसंस्कृत दशा में ला दिया, इसकी कल्पना ही बड़ी सुखद है। जिनको असभ्य समझ कर घृणा करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती थी, आज उन्हीं को अपने ही परिवार का सदस्य जान कर गले लगा लेने की इच्छा होती है। एक ही भाषा के बोलने वालों में बन्धुत्व की भावना जितनी प्रबल होती है, उतनी एक ही माँ का दूध पीने वालों में नहीं। हम देख चुके हैं कि संस्कृत भाषा वही है जो ग्रीक, लैटिन तथा आंग्ल सैक्सन भाषायें हैं। इस प्रकार के भाषा बन्धुत्व की भावना का जन्म ही नहीं सम्भव था, यदि भारतीय भाषा एवम् साहित्य का अध्ययन न किया गया होता। विश्वबन्धुत्व का जो उपदेश हमें इस भाषा से मिला है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकता था। यदि संस्कृत से हमें अन्य कोई उपलब्धि नहीं हुई होती तो भी केवल इसी एक उपलब्धि के सहारे उसकी उपादेयता सर्वाधिक ही रहती।

जिस समय इस प्रकार के भाषा बन्धुत्व का तथ्य विद्वानों के सामने आया, तो उन्होंने इस प्रकार की बातें कहीं जो मनोरंजक तो थी हीं, उपदेशपूर्ण भी थीं। इसकी प्रतिक्रिया में यूरप के अनेक विद्वान् दार्शनिकों ने विभिन्न बातें कहीं। वे यह मानने को किसी भी प्रकार प्रस्तुत नहीं थे कि एथेंस तथा रोम के निवासियों एवम् भारत के कृष्ण वर्ण वाले निवासियों के बीच किसी भी प्रकार बन्धुत्व की भावना भी स्थापित की जा सकती थी। इस तथ्य को सुनकर वे लोग इतना आश्चर्याभिभूत हो उठे थे कि उन्हें यह बात सर्वथा अविश्वसनीय ही जान पड़ी। ऐसा इसलिये हुआ कि यह तथ्य उन लोगों की पारस्परिक मान्यता के विपरीत जा पड़ा था। वे इस प्रकार की बन्धुत्व भावना को अपने लिये सर्वथा तिरस्करणीय मानते थे। मुझे उस समय की स्मृति है। उस समय मैं लिपजिग में एक छात्र था और अभी मैंने संस्कृत का पढ़ना आरम्भ ही किया था। उस समय संस्कृत के प्रति हमारे समादरणीय अध्यापकों की घृणा देखने की चीज थी। मजा यह है कि इस प्रकार की संस्कृत विरोधी भावना के शिकार होने वालों में हरमैन, हॉफ्ट, वेस्टरमैन, तथा स्टालबाय जैसे लोग भी थे। मेरा विचार है कि संस्कृत, जिंद, ग्रीक, लैटिन तथा गोथिक भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण प्रकाशित करने पर प्रोफेसर बॉप को जितने उपहास का पात्र बनना पड़ा, वह अद्वितीय है। सभी विद्वान उनके विरोधी हो गये थे। यदि कहीं कोई भी छोटी से छोटी भूल भी दिखाई पड़ गयी तो ऐसे भी लोगों ने उनके खिलाफ आवाज बुलन्द किया, जिनकी विद्वत्ता इतनी सामान्य थी कि उन्हें ये त्रुटियाँ कोष के सहारे ज्ञात

हुई। डूगाल्ड स्टेवर्ट ने हिन्दुओं एवम् स्काटलैंडवासियों के बीच की बन्धुत्व भावना को मानने के स्थान पर यह मानना अधिक श्रेयस्कर समझा कि तीन हजार वर्षों के दीर्घकाल में रचा गया समूचा संस्कृत साहित्य एवम् संस्कृत भाषा भी भारत के धूर्त पुरोहितों अर्थात् ब्राह्मणों का वाग्जालमात्र है। आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि अकेले भारत का साहित्य यूनान अथवा रोम के साहित्य से कहीं विशाल है और इतने विशाल साहित्य को केवल इसलिये वाग्जालमात्र करार दे दिया गया था कि ऐसा न करने पर यह स्वीकार करना पड़ रहा था कि भारतीय और यूरोपीय लोग एक ही वृक्ष की दो शाखायें हैं। इस प्रकार के अवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले लोग हमारे यहाँ भी थे, यह जानकर आपको आश्चर्य हो सकता है, होना भी चाहिये, परन्तु बात कुछ ऐसी ही है। नवीन खोज को मानने के लिये विस्तृत दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है और यदि उस खोज का परिणाम पारस्परिक विश्वासों के विपरीत हुआ तो यूरोप वाले उसको सहज मे मानने वाले नहीं। आप जानते हैं कि योरप वाले अपने विश्वासों के मामले में कितने कट्टर [1] होते हैं। अपनी इसीके कट्टरता कारण हमने ईसा को मार डाला, सुकरात को मार डाला, गैलीलियो को भी करीब-करीब मार ही डाला। छोटे-मोटे असंख्य लोग हमारी इस कट्टरता [2] के शिकार हो चुके हैं। मुझे उस दिन याद है। तब मे लिपज़िग के विद्यालय में पढ़ता था। आप जानते हैं कि लिपज़िग का की भी विद्यालय अपनी प्राचीनता के लिये भी उतना ही प्रख्यात है, जितना अपने अध्यापकों एवम् छात्रों के लिये। लैबनिज़ इस विद्यालय के छात्र रह चुके हैं। उस दिन बड़ी गर्मी पड़ रही थी। कोई गम्भीर कार्य करने की स्थिति में हम लोग नहीं थे। तीसरे पहर डा० ली ने पढ़ाने के क्रम में बताया कि एक ऐसी भाषा थी, जो भारत मे बोली जाती थी और ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं से ही नहीं, वरन जर्मन तथा रूसी भाषाओं मे भी उसका बड़ा साम्य

---

[1] भारतीयों का जीवन कभी अकेला नहीं रहा। सकुचित वृत्ति वाले समालोचक कुछ भी कह सकते है, परन्तु मान्य विचारों को स्वीकार करने मे भारतीयों का मुकाबला ससार की कोई भी जाति नहीं कर सकती। विचारों के आदान-प्रदान में वे सदैव आगे रहे है, यही उनकी महानता थी। चारु चन्द्रदत्त, (द कल्चर आफ इन्डिया पृष्ठ २२)

—अनुवादक

[2] भारतीयों मे इस प्रकार की कट्टरता के दर्शन शायद ही कभी होते हो। अपने प्रचलित विश्वास की विरोधी भावनाओं को भी उन्होंने आदरपूर्वक ग्रहण किया है। इतिहास के उस क्रम में भी भारतीयों की ग्राहकता का पूर्ण परिचय मिलता है, जब विदेशी शासन के अन्तर्गत होने से उनकी ग्राहक शक्ति क्षीण हो चली थी। "ईशा वास्या-मिदम सर्वम् यत्किंच जगत्याम् जगत्, तेन त्यक्तेन भुंजिथा मा गृध कस्य विद्धन" 'का उपदेश करने वालो ने चार्वाक के "यावज्जीवेत् सुखम् जीवेत् ऋणाम् कृत्वा घृतम पिवेत् भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत" को भी सुना था और चार्वाक को ऋषियों मे स्थान दिया था।

—अनुवादक

था। पहले हमने समझा कि मास्टर साहब मजाक कर रहे हैं, परन्तु जब हमने श्यामपट्ट की ओर देखा तो हमारे आश्चर्य की सीमा न रही। उस पर संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं के समान अंक, सर्वनाम तथा क्रियायें समानान्तर रेखाओं तथा स्तम्भों में लिखी हुई थीं। हम लोगों के समक्ष एक ऐसा महान् उद्‌घाटित किया गया था, जो हमारी प्रच-लित विचारधारा के शत-प्रतिशत विपरीत था, परन्तु जिसके प्रमाण ऐसे अकाट्य थे कि उनके सामने सर झुकाने के सिवा कोई चारा नहीं था। आदम और हव्वा सम्बन्धी विचारों के साथ बैकुण्ठ के विचार, बाबुल के मीनार सम्बन्धी विचार, होमर तथा विरजिल सम्बन्धी विचार एक साथ ही दिमाग में चक्कर काटने लगे। एक बार वे सबके सब जैसे एक में ही घुलमिल गये। अन्त में अपने ही दिमाग ने उन सब विचारों को अलग-अलग करके उन्हें एक सुनियोजित शृंखला में आबद्ध किया और इतिहास के एक जाग्रत परिच्छेद की सृष्टि हमारे मानस मे अपने सम्पूर्ण प्रकार के साथ उद्‌भासित हो उठी।

शायद अब आप लोग इस बात को स्पष्ट रूप में समझ गये होंगे कि प्रत्येक उदारतापूर्ण एवम् ऐतिहासिकतापूर्ण शिक्षा प्रणाली में भारत सम्बन्धी ज्ञान की शिक्षा व्यवस्था अत्यावश्यक क्यों है। ज्यों-ज्यों हम भारत से परिचित होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों हम लोगों का अर्थात् हम यूरोप निवासियों का दृष्टिकोण विस्तृत होता जा रहा है। भारत के प्रति हमारी प्राचीन मान्यताओं एवम् मनोवृत्तियो मे सुधार हो रहा है और हम लोग इस बात को जानने मानने लगे हैं कि हम वह नहीं हैं जो अपने को समझते आ रहे हैं। हम लोग उससे सर्वथा भिन्न प्रकार के लोग हैं। कल्पना कीजिये कि किसी प्रकार के दैवदुर्विपाक मे हमारे अमेरिकन बन्धु यह भूल जायँ कि वे इंगलैंड वालों के ही वंशज हैं। दो-तीन हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें एक ऐसी भाषा का पता लगता है और ऐसे विचार उस समय में चल पड़ते हैं जिनके मूल का पता लगाने के लिये कोई अनुसन्धानकर्ता इति-हास पथ पर कालप्रवाह की उल्टी दिशा में चल कर ऐसे समय में जा पहुँचता है, जहाँ उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है तथा उसे जान पड़ता है कि इसी समय मे ये विचार तथा यह भाषा सीधे आस्मान से टपक पड़े हैं। उसके समय का सारा समाज ही पथभ्रान्त हो उठता है, उनके कितने ही प्रश्नों का उत्तर असम्भव हो जाता है तथा कितनी ही समस्यायें उलझी ही रह जाती हैं। अचानक अनुसन्धानकर्ता को पता चलता है कि जहाँ जाकर, उसका खोजपथ रुद्ध हो गया था, उसके आसपास ही सत्रहवीं शताब्दी मे अंग्रेजी नाम की एक भाषा थी, जिससे ही उनकी भाषा निकली थी तथा जिसके विचारों को आधार बनाकर ही उनकी विचारधारा आगे को प्रवाहमान हुई थी, इस नवीन खोज से सभी प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है, सभी उलझनें सुलझ जाती हैं। ऐसी दशा में उस समाज के लोगों के हमारे प्रति क्या भाव होंगे, इसकी कल्पना आप कर सकते हैं। यदि आपकी कल्पना शक्ति प्रबल है तो आप उस समाज के हमारे प्रति आभार का अनुमान

लगा सकते हैं। ठीक इसी प्रकार का कार्य संस्कृत भाषा में अनुसन्धान करने से पूर्ण हुआ है। हमारी ऐतिहासिक चेतना में इसने एक सर्वथा नवीन अनुच्छेद को जन्म दिया है। जैसे हमें अपने शैशव का स्मरण हो आया है, वह शैशव जो अनेक ज्ञात अज्ञात कारणों से विस्मृति के गर्भ में विलीन हो चुका था।

आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हम चाहे जो कुछ रहे हों, परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि उस समय न तो हम अंग्रेज ही थे और न सैक्सन, ग्रीक या हिन्दू ही, फिर भी इन सभी जातियों के बीजाणु हममें वर्तमान थे। आप कह सकते हैं कि हम उस समय कुछ विचित्र स्थिति में थे और हमारी जाति भी विचित्र ही थी, यद्यपि उसका नाम बता सकने में हम असमर्थ हैं। इतना सब होते हुये भी हम थे अवश्य, हमारे पूर्वजों की स्थिति असंदिग्ध है, उन पूर्वजों की जिनकी सन्तान होने में हमें गर्व की अनुभूति होती है या होनी चाहिये। वे हमारे नार्मन, सैक्सन, केल्ट या इनके ही समान अन्य पूर्वजों से अधिक गौरवास्पद थे।

हमको यह समझकर सन्तोष न कर लेना चाहिये कि संस्कृत तथा अन्य आर्य भाषाओं के अध्ययन से हमारी उपलब्धि इतनी ही है। इससे हमें इनसे भी गौरवपूर्ण बातें मिली हैं। इसने मानव के प्रति हमारे दृष्टिकोण को अधिक विस्तृत किया है, तथा हजारों ऐसे लोगों को गले लगाने योग्य सिद्ध कर दिया है जिन्हें हम आज तक विदेशी तथा कितनों को ही जंगली समझ कर तिरस्करणीय मानते आ रहे थे। आज हम इन सभी लोगों को स्वपरिवार में सम्मिलित मानते हैं। इतना ही नहीं, इस प्रकार के अध्ययन ने हमारे प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डाल कर उसे जैसा वास्तविक बना दिया है, उतना वास्तविक वह हमें कभी भी नहीं लगता था।

हमारा कुछ ऐसा स्वभाव ही बन गया है कि हम जाते तो हैं निरन्तर भविष्य की ओर परन्तु हमारा भूतकाल हमें अनवरत रूप से आकर्षित करता रहता है। कदाचित् प्रकृति का विधान ही कुछ ऐसा है कि हम प्यार तो करते रहते हैं अपने अतीत को और विवश रहते हैं आगे बढ़ते रहने को। हम अपनी दैनिक जीवन यात्रा में जब भी कोई ऐसी वस्तु पा जाते हैं, जिसकी प्राचीनता सिद्ध रहती है तो हमारी आँखें प्रसन्नता से चमक उठती हैं। एक क्षुद्रतम एवम् अति साधारण वस्तु का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है, यदि लोग यह जान जायँ कि यह वस्तु प्राचीन काल से सम्बन्धित है। उसकी प्राचीनता जितनी ही अधिक होगी उसका महत्व भी उतना ही अधिक होगा। हम उसको प्रेम से ग्रहण करते हैं, उसे अपने मित्रों को दिखाते हैं और यदि सम्भव हुआ तो उसके प्रदर्शन एवम् उसकी सुरक्षा के लिये राजप्रासादों से भी भव्यतर भवनों का निर्माण करते हैं। कितनी ही यूनानी मूर्तियों के लिये, मिश्री सिक्कों के लिये या बेबिलोनियन मोहरों के लिये हमने प्रदर्शनार्थ एवम् सुरक्षार्थ भवन (अजायबघर) बनाये हैं, जो किसी भी राजप्रासाद से श्रेष्ठ

कर सकते है। हमने प्राचीन वस्तुओं की रक्षा का उतना ही प्रयत्न किया है जितना प्रयत्न हम बड़े से बड़े कोषो की रक्षार्थ करते है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा होना भी चाहिये, किन्तु क्या आप सब यह जानते हैं कि इन राजप्रासादों से भी भव्य भवनों की अपेक्षा और भी अधिक दृढ अजायबघर हम सबके पास है। हम कह सकते हैं कि ये अजायब घर सर्वाधिक मूल्यवान् एवम् आश्चर्य पूर्ण हैं। उनकी दृढता के आगे न तो यूनान की मूतिया ही कुछ है और न बेबिलोनिया के साँड ही। आपके मन मे कुतूहल तो होगा कि मैं किन नवीन अजायबघरो की बात कर रहा हूँ। यदि आप थोड़ी भी गम्भीरता से स्वयम् अपनी भाषा का अध्ययन करें तो आपको तुरन्त ही पता चल जायगा कि स्वयम् आपकी ही भाषा एक बड़े अजायब घर के ही समान असंख्य वस्तुओं एवम् विचारो के इतिहास को अपने में सुरक्षित किये हुए है। जिस समय हम अपनी अँगरेजी भाषा के फादर, मदर, हार्ट या, टिअर बन, टू, थ्री, हिअर तथा देअर शब्द का प्रयोग करते है तो हम ऐसे सिक्कों का प्रयोग करते है जो उस समय भी प्रचलन मे थे जब यूनान की मूर्तियाँ, मिश्र के स्फिक्स तथा बेबिलोन के साँड़ों का विचार भी लोगो के मन में नहीं आया था। आपको यह जानकर परमाश्चर्य होगा कि इनमें का प्रत्येक शब्द प्राचीनता का अद्भुत संग्रहालय है। जिस प्रकार आप संग्रहालय की विभिन्न वस्तुओं को देखने मात्र से उनके बारे में सब कुछ नहीं जान सकते, उसी प्रकार इन शब्दों को मात्र बोलने, सुनने अथवा पढ़ने से आप उनमें निहित अर्थों, विचारो एवम् परम्पराओं का ज्ञान नही पा सकते। उसके लिये आवश्यकता इस बात की है कि आप उन शब्दों के क्रमागत रूप को खोजते हुए उनके मूल तक पहुँच पाने का प्रयत्न करें। जिस प्रकार प्राचीनकाल के सिक्कों पूर्वापर के क्रम मे सजा कर उनका अध्ययन करके इतिहास की छिन्न कड़ियों को नियोजित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार इन शब्दों को भी पूर्वापर क्रम में शृंखलाबद्ध करके उनका अध्ययन करके कितनी ही अभूतपूर्व बातों का पता लगाया जा सकता है। उसके लिये आवश्यकता पड़ती है खोजपूर्ण अध्ययन करने की और अपने अध्ययन को शृंखलाबद्ध रूप मे रखने की। आप विश्वास रक्खें, इन शब्दो ने आपके सामने न जाने कितनी कहानियाँ कही है, जो अब प्राचीन कहानियों की श्रेणी मे आ चुकी है, परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नही हो सकता कि इनकी कहानियो की शक्ति अब भी वैसी है और ये कहानियाँ प्रत्येक बार नवीन ही हो सकती है, यदि कोई भी अध्यवसाय पूर्वक इन कहानियो को जानने का कष्ट पूर्ण प्रयत्न करे। संसार मे कितनी ही ऐसी वस्तुएँ है जो अपने में अनेक अज्ञात रहस्यों को छिपाये रहने पर भी केवल इसलिये लोगों को आकर्षित नहीं कर पाती कि वे एकदम साधारण वस्तुएँ है और निरन्तर हमारी दृष्टि के सम्मुख रहती हैं। मानो उनका सर्व सुलभ होना ही उन्हे अनाकर्षक बनाये रखता है। थोड़ा विचार करके देखें तो इन शब्दो की भी यही स्थिति है। उनकी सुगमता ही उन्हे लोगो के अध्ययन क्षेत्र से दूर

रखती है। यदि आप यह सोच लेते हैं कि इस क्षेत्र में इतना कुछ किया जा चुका है कि अब आपके लिये कुछ भी करने को नहीं रह गया है, तो आप भूल करते हैं। यह सत्य है कि भाषा पर पर्याप्त अध्ययन हो चुका है, परन्तु यह भी सत्य है कि अब भी इसका अधिकांश क्षेत्र अनुसन्धानकारियों की प्रतीक्षा व्यग्रता से कर रहा है। किसी कलात्मक वस्तु का परिचय देते हुए जिस प्रकार आप उसके एक एक अंग को अलग करके उसका विवरण देते हैं, उसी प्रकार यदि एक शब्द के, चाहे वह कितना ही सामान्य क्यों न हो, अंग, प्रत्यंग को अलग करके देखने का एवम् इस प्रकार अतीत में प्रवेश करके उसके मूल रूप और मूल-स्थान से परिचित होने का प्रयत्न किया जाय तो हमारे सामने निस भव्य नाटक का पर्दा उठेगा, उसके दृश्य एवम् अभिनय से ही न केवल हम सन्तोष प्राप्त होगा वरन् आने वाली सन्तानों को भी आगे बढने का पथ प्रशस्त हो उठेगा। आप सोच कर देखें कि इन भवनों, स्मारकों एवम् कलात्मक चित्रों का निर्माण मनुष्य के हाथों ने किया है परन्तु इन शब्दों का निर्माण मनुष्य के मस्तिष्क ने किया है और इसीलिये वे अधिक सारगर्भित हैं। अरेबियन नाइट्स की कहानियाँ आपको चमत्कृत कर देती हैं, परन्तु इन शब्दों की कहानियाँ अनेकानेक ऐसे चमत्कारों से पूर्ण हैं जो हजारों वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुए थे और आज भी उन चमत्कारों की धारा ज्यों की त्यों प्रवाहित हो रही है। अब यह आपके मन पर निर्भर करता है कि आप उसमें तैरने वाले विभिन्न जल जन्तुओं का भी परिचय जानना चाहते हैं या केवल उस धारा को ही देख कर सन्तोष करके बैठ रहते हैं।

हम लोगों का कुछ ऐसा स्वभाव ही बन गया है कि हम अतीत के प्रेमी हो गये हैं। हम प्राचीनों के विषय में लिखना भी पसन्द करते हैं और उनके विषय में बोलना भी परन्तु इस समय हमें अपने मुख्य विषय से अलग नहीं होना है। इस प्रकार की लम्बी प्रस्तावना देकर मैं आप लोगों को यह बता देने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि जिसे हम उदार शिक्षा व्यवस्था या ऐतिहासिक शिक्षा व्यवस्था कहते हैं वह भाषा विज्ञान के सम्यक् अध्ययन के बिना कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती और भाषा विज्ञान का किसी भी प्रकार का अध्ययन संस्कृत भाषा के अध्ययन के बिना अपूर्ण हो रहेगा। जब हमारी शिक्षा व्यवस्था इस प्रकार की होगी तभी हम ग्राम निवासियों के इस कथन को समझ पायेंगे कि 'पूर्व की खोज करो', 'सच्चे पूर्व की खोज करो' और संसार के इतिहास में उसे उचित स्थान दो। उपरोक्त प्रकार के अध्ययन से ही हम जान सकेंगे कि हम कहाँ से चले हैं, किन-किन मार्गों पर चलकर हम यहाँ पहुँचे हैं और हमें किस ओर जाना है।

यह निर्णीत हो चुका है कि हम सभी पूर्व से ही आये हैं। इतना ही नहीं हमारे जीवन की जितनी भी प्रमुख एवम् महत्वपूर्ण बातें हैं, सब की सब हमें पूर्व से ही मिली हैं। ऐसी स्थिति में जब भी हम पूर्व की ओर जायँ तभी हमें यह सोचना चाहिये कि हम अपने प्राचीन घर की ओर जा रहे हैं भले ही हमने पूर्व विषयक अध्ययन किया हो या नहीं।

जिस किसी भी व्यक्ति को उदार शिक्षा मिली होगी, जिस किसी ने भी शिक्षा के ऐतिहासिक क्रम को समझा होगा, वह पूर्व को अपना घर ही मानेगा। पूर्व को जाते हुए उसके मन में उसी प्रकार की सुखद अनुभूतियाँ आवेगी जैसी अनुभूतियाँ उसे अपने घर की ओर अग्रसर होते समय आती हैं। यदि वह समुचित शिक्षा पाये हुए है तो ज्यों-ज्यों वह पूर्व की ओर बढता हुआ चलेगा, त्यों-त्यों उसे ऐसी वस्तुएँ, ऐसी स्थितियाँ मिलेंगी, जिनसे उसका पूर्व परिचय रह चुका होगा। वह जो कुछ भी देखेगा, उसे यही मालूम होगा, जैसे वह इन्हें पहले कहीं देख चुका है। उसकी अनुभूति बिल्कुल उसी प्रकार की होगी जैसे कोई बालक कुछ दिन ननिहाल में रह कर अपनी जन्मभूमि की ओर लौटते हुए मार्ग की प्रत्येक वस्तु को परिचित पाता है और उसका रोम-रोम एक अकथनीय आह्लाद से भर उठता है। प्रायः ऐसा होता है कि जब यहाँ के लोग भारत के लिये प्रस्थान करते हैं तो उनका दिल बैठने लगता है और ज्यों-ज्यो वे भारत के समीप होते जाते हैं त्यों-त्यों यह दिल बैठने का भाव प्रबल से प्रबलतर होता जाता है। क्या आप लोगों ने कभी सोचा है कि ऐसा क्यों होता है ? ऐसा इसलिये होता है कि आपने भारत के ऋण को समझा नहीं हैं, ऐसा इसलिये होता है कि अपने अध्ययन द्वारा आपने भारत से परिचय नहीं प्राप्त किया है। इसीलिये आपको ऐसी अनुभूति होती है, जैसे आप किसी पूर्ण अपरिचित देश मे जा रहे हों। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि अगले वर्ष जब आप भारतीय तट को दूर से देखें और जब आप भारतीय तट पर पहला कदम रक्खें तो आपके मन मे भी वैसी ही विचारधारा चले जैसी धारा सर विलियम जोन्स के मन में आज से एक शताब्दी पूर्व उठी थी, जब इंग्लैंड से चलकर एक लम्बी जलयात्रा के बाद उनका जहाज भारत के समीप पहुँचा और उन्होंने अपने दूरस्थ जहाज पर से ही पूर्वी क्षितिज के अन्त में भारतीय तट को अस्पष्ट से स्पष्ट होते हुये देखा था। उस समय कुछ ऐसे प्रबुद्ध नवयुवक भारत की ओर गये थे जो स्वप्नों का जाल बुनने में लज्जा का कोई कारण नहीं देखते थे। वे भारत को स्वप्नों का देश समझकर ही वहाँ जाते थे और वहां की स्थितियों, वहाँ के दृश्यों को देख-देख कर मानों उनके स्वप्न साकार हो उठते थे। वे कल्पना के संसार में सानन्द भ्रमण करने लगते थे और इस प्रकार उनके मन को प्राण को एक अकथनीय आनन्द मिलता था। सर विलियम जोन्स ने भी कुछ स्वप्न देखे थे, वे भी कल्पना के पंखों का रसास्वादन कर चुके थे और उनके मन व प्राण जिस सुखानुभूति से अनुप्राणित हो गये थे, उसे उन्हीं के शब्दों में सुनिये।

"जब मैं अगस्त सन १७८३ में उस भारत की यात्रा पर था जिसे देखने की मुझे चिर दिनों से प्रबल आकांक्षा थी तो एक संध्याकाल को नित्य की तरह साध्य दृश्य देखते हुए हमने पर्याप्त दूर से पूर्वीय क्षितिज से भारतीय तट को धीरे-धीरे उभडते हुए देखा। भारत हमारे सामने था, फारस हमारे वामपार्श्व में था और सामने से अरब सागर की

सुखद शीतल हवा हमारे मुंह पर लग रही थी। यह स्थिति इतनी आह्लादपूर्ण थी और मेरे लिए इतनी नवीन थी कि उसके प्रभाव से मस्तिष्क की तुच्छातितुच्छ कोना भी कल्पना कुमारी के नूपुररव से मुखरित हो उठा। अन्तर्देश में नृत्य निरता वह सुकुमारी अगणित स्वप्नों के वैभव की सृष्टि-सी करने लगी। मैंने पूर्व के बारे में पढ़ा था उसमें घटना पूर्ण इतिहास का भी अध्ययन किया था, उसकी आख्यायिकाओं को भी मनोरंजक एवम् ज्ञान-वर्द्धक पाया था, परन्तु भारत को, स्वप्नों के देश भारत को, मधुर स्मृतियों से पूर्ण भारत को स्थूल रूप में अपने सामने पाकर मनस ने जिस प्रकार की विचार धारा को जन्म दिया वैसी धारा तो इसके पूर्व कभी भी इस मस्तिष्क में नहीं उठी थी। एशिया के विभिन्न विस्तृत देश विज्ञानों के चिर पोषक रहे हैं, उन्होंने सुरुचिपूर्ण एवम् लाभप्रद कलाओं को जन्म दिया है, इन देशों में अनेक गौरवपूर्ण घटनाएं घटित हुई हैं, इन्होंने एक से एक प्रतिभाओं को जन्म दिया है और इन देशों में धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक एवम् भाषा सम्बन्धी भिन्नताओं का अन्त नहीं रहा है और नहीं इनके निवासियों में रचना साम्य एवम् वर्ण साम्य रहा है। ऐसे वैभिन्न्यपूर्ण दशा से घिरे हुए भारत का तो कहना ही क्या है। उसी समय मुझे ज्ञान हुआ कि अभी ज्ञान क्षेत्र का कितना बड़ा भाग पड़ा पड़ा है, जिस पर पांव रखने की किसी भी अनुसंधानकर्त्ता को आवश्यकता नहीं जान पड़ी। उसी समय मैंने अनुभव किया कि मानव को सुख समृद्धि देने वाली कितनी ही ऐसी सुविधायें किसी शोधक की प्रतीक्षा में चिर दिनों से आतुर हैं।"

भारत को अभी न जाने विलियम जोन्स जैसे कितने ही स्वप्नदर्शियों की आवश्यकता है। उस समय सर विलियम की अवस्था केवल सैंतीस वर्ष की थी। वे समुद्र में संतरित जल यान के डेक पर खड़े होकर सागर में डूबते हुए सूर्य को भी देख रहे थे और इस प्रकार पश्चिम में दृष्टि डालने से उनके मन में इंगलैंड की मधुर स्मृतियाँ भी उभड़ रही थीं। परन्तु सामने उनकी आशाओं का संसार भारत था। वे एक साथ ही फारस के सम्राट के गौरवपूर्ण काथा का भी स्मरण कर रहे थे और अरब सागर की सुखद शीतल एवम् प्राण-दायिनी वायु द्वारा भाषा व अरबी के रसपिक्त काव्यों का आस्वादन कर रहे थे। सर विलि-यम जोन्स जैसे अधिकारी स्वप्न दर्शक ही अपने स्वप्नों को साकार रूप देने की शक्ति रखते हैं और वे ही जानते हैं कि अपनी कल्पनाओं को किस प्रकार तथ्यों का जामा पहनाया जा सकता है।

जो बात आज से सौ वर्ष पूर्व जैसी थी वही बात आज भी वैसी ही है, यद्यपि तब में और अब में एक सौ लम्बे वर्षों का अन्तर पड़ गया है। पूर्व के अक्षय भंडार में पड़े असंख्य रत्न शोधकों एवम् स्वप्नदर्शकों की प्रतीक्षा में आतुर हैं। अब भी भारत कल्पनाओं का देश बना हुआ है, अब भी भारत में महत्वपूर्ण लोकोपकारक कार्य किये जा सकते हैं। आवश्यकता है उन्हें देखने वालों की और ग्रहण कर करने वालों की। यह सत्य है कि

भारतीय इतिहास तथा साहित्य में अनेक शोध किये जा चुके हैं और महत्वपूर्ण भी हैं, परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं होता कि अब और शोध करने को कुछ रहा ही नहीं। ये यूनान के छोटे-मोटे राज्य नहीं हैं जिनके फिलिप द्वारा जीत लिये जाने के बाद उसके पुत्र सिकन्दर द्वारा विजय किये जाने के लिये देश ही नहीं बचेंगे। ये सिंध और गंगा के मैदान अपने तटों में इतने अधिक रहस्य सँजो रक्खे है कि किसी भी शोध प्रेमी युवक को किसी भी समय निराश होने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

द्वितीय भाषण

हिन्दुओं का चरित्र[1]

अपने प्रथम भाषण में मैंने इस बात का प्रयत्न किया था कि आप लोगों के मन से यह भावना हट जाय कि 'भारत में जो कुछ है वह अजनबी है और वह हमारे इंग्लैण्ड के बौद्धिक जीवन से एकदम भिन्न है'। प्रायः हमारे देश के जिन लोगों को बीस या पचीस वर्ष के लिये भारत जाना होता है, वे लोग यह समझ लेते हैं कि इतने वर्षों के लिये उन्हें एक ऐसे देश में निर्वासित कर दिया गया है, जहाँ के लोग, जहाँ का समाज, जिनकी भाषा, सभ्यता, संस्कृति एवम् नैतिक स्तर केवल अपने से भिन्न ही नहीं प्रत्युत पर्याप्त निम्न कोटि का है। इन लोगों को पूर्व में जितने दिन रहना पड़ता है, उतने दिनों तक के लिये वे यह समझ बैठते हैं कि उन्हें जीवन के उन सभी उच्चादर्शों से वंचित कर दिया गया है, जो उन्हें अपने देश में प्राप्त है। किन्तु बात ऐसी है नहीं, ऐसी होनी भी नहीं चाहिये। यदि हम यह जानलें और जानकर मान भी लें कि जीवन के जिन उच्चादर्शों का बल हमें अपने देश में प्राप्त है उसके लिये भारत में भी पर्याप्त विस्तृत क्षेत्र है। इस प्रकार के क्षेत्र की सुविधा केवल हमारे ही देश में हो ऐसी बात नहीं है, यदि हम चाहें तो भारत तथा पूर्व के अन्य देशों में भी हमको ये सारी सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

आज हम एक दूसरे प्रकार की पक्षपात पूर्ण भावना पर विचार करेंगे जो पहली भावना से भी अधिक गलत ढंग से सोचने को बाध्य करती है। इस भावना से केवल भारतीयों का ही नहीं हमारा भी अहित हो रहा है। हमारी यही दूषित भावना हमारे और हिन्दुओं के बीच में अभेद्य दीवाल बन कर खड़ी है और आजतक किसीने भी इस बाधा को हटाने का प्रयत्न नहीं किया है। इसी दूषित भावना के कारण हिन्दुओं तथा उनके शासकों में साहचर्य की भावना का जन्म ही नहीं होने पा रहा है और आज भी वे दोनों एक दूसरे के प्रति पूर्ण अजनबी बने हुए हैं।

अपनी इसी दूषित भावना के कारण हम अपने भारत प्रवास को निर्वासन की संज्ञा देते हैं, नैतिक निर्वासन की संज्ञा, क्योंकि हमने मान लिया है कि हिन्दू लोग तुलनात्मक रूप में हम से निम्नस्तर के हैं, उनकी नैतिकता हमसे सर्वथा भिन्न है और उनमें 'सत्य' के लिये कोई आदर भावना नहीं है, जब कि हम 'अंगरेज लोग सत्य को ही

---

[1] स्मरण रखना चाहिये कि मैक्समूलर ने हिन्दू शब्द का प्रयोग भारतीय के अर्थ में किया है।

—अनुवादक

सर्वाधिक आदरणीय मानते हैं और वही हमारे जन-जीवन की आधार शिला है। हम अपने सत्य प्रेम के ही बल पर उन्नत है और केवल उसी के लिये हम जीवित हैं।

मेरा विचार है कि यदि किसी भी युवक के मन में यह बात पूर्ण रूप से बैठाल दी जाय कि बीस या पच्चीस वर्षों तक उसे ऐसे लोगों के बीच रहना पड़ेगा और ऐसे लोगों पर शासन करना पड़ेगा जो अत्यधिक हीन मनोवृत्ति के तो हैं ही, साथ ही उनमें सत्य के लिये कोई भी आदर भावना नहीं है, तो वह युवक अवश्य ही निरुत्साहित हो उठेगा। जीवन के प्रति उसकी सारी आस्था उसी समय समाप्त हो जायगी, जिस समय उसे निश्चित हो जायगा कि अगले बीस-पच्चीस वर्षों तक उसे ऐसे लोगो के सम्पर्क में रहना पड़ेगा, जिनका न तो किसी प्रकार आदर हो किया जा सकता है और जिनके प्रति प्रेम प्रदर्शन भी नहीं किया जा सकता, जो देशी (नेटिव)[1] है। वैसे भारतीयों के प्रति घृणासूचक शब्दों की अंगरेजी शब्द कोष मे कमी नहीं है फिर भी हम नेटिव शब्द को ही पर्याप्त मान लेते हैं। ऐसे युवको की निराशा की बात को हम कैसे समझ सकते हैं, जिन्हें शुरू से लेकर अब तक यही पढ़ाया गया हो कि भारतीय उजड्ड होते है, गंवार होते हैं, वे आत्मसम्मान के मान्य सिद्धान्तों की भी अवहेलना करते हैं। वे न तो सत्य प्रेमी ही होते हैं और न सत् साहसी ही। उनका चरित्र ऐसा होता है कि उनके साथ किसी प्रकार की सहानुभूति तक नहीं दिखायी जानी चाहिये, मित्रता स्थापित करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। भारतीयों के प्रति ऐसी दूषित भावना लेकर जाने वाले हमारे देश के नवयुवक यदि भारत प्रवास को नैतिक निर्वासन मानते है तो उनका दोष ही क्या है? उनको अति आरम्भ से शिक्षा ही इस प्रकार की दी गयी है कि भारतीयों को नीच, जंगली, बेईमान, असभ्य और क्या-क्या नहीं समझने लगते।

असत्यप्रियता के इस झूठे दोष पर हमारे देश वालो ने, हमारे ग्रन्थों ने तथा हमारे शिक्षकों ने इतना कुछ कहा है और इतने अधिक बार दुहराया है और इसीलिये भारतीयो की असत्य प्रियता (यद्यपि यह दोषारोपण) १०० प्रतिशत गलत है। हमारे मनस में इतना बद्धमूल हो गयी है कि इसको गलत सिद्ध करने का प्रयास ही आज के लिये एक असम्भव कार्य का रूप ले चुका है। ऐसा साहसी तो कोई दिखायी नहीं पड़ता, जो यह कह सके कि भारतीयो म इन दुर्गुणों को आरोपित करना गलत है तथा यह दोषारोपण या तो जान बूझ कर किया गया है या भ्रान्त धारणाओं के कारण।

मेरा विश्वास है कि अपने देशवासियो की इन बद्धमूल भावनाओं को उखाड़ने का काम मैं ही आरम्भ करूं तो मुझे निराशा का ही सामना करना पड़ेगा। इसीलिये इस प्रकार के प्रयत्न के लिये मैं कभी भी प्रस्तुत न हो पाता यदि मुझे इस बात का निश्चित

---

[1] वैसे नेटिव शब्द का अर्थ तो होता है 'मूल निवासी' परन्तु अंग्रेज लोग उसे गाली की तरह बर्बर, असभ्य, जगली आदि अर्थों मे लाते थे। अनुवादक

पता न होता कि ये सभी दोषारोपण निर्मूल हैं। आप विश्वास मानें कि जब भी इस प्रकार के दोष किसी पूरे समाज या राष्ट्र में आरोपित किये जाते हैं तो उनके पीछे अवश्य ही या तो कोई दूषित एवम् स्वार्थमय भावना छिपी रहती है या हाँडी के दो एक चावलों को देखकर ही पूरी हाँडी के चावलों की स्थिति समझ ली गयी रहती है। चावलों की तरह मनुष्यों के विषय में भी इस प्रकार किसी निश्चित परिणाम पर पहुँच जाना अवश्य ही भ्रमपूर्ण होगा, भले ही स्वार्थानुकूल होने के कारण हम भ्रम-निवारण का प्रयत्न ही न करें और परिणाम की भयानकता को जानते हुए भी उसे आने वाली पीढ़ियों के लिये ज्यों का त्यों छोड़ जायें। मैं आपको एक बार फिर विश्वास दिलाना चाहूँगा कि जिस किसी भी व्यक्ति ने जिस किसी भी कारण से इस भ्रान्त धारणा को जन्म दिया हो उससे बढ़ कर आंग्ल भारतीय हितों का विरोधी आज तक पैदा हो नहीं हुआ। इस मान्यता ने हमारी अत्यधिक हानि की है, कर रही है और भविष्य में भी करती रहेगी। आंग्ल भारतीय हितों के कट्टर से कट्टर विरोधी ने भी इतने बड़े और इतने अधिक घातक अस्त्र की सृष्टि न की होगी। भारत में ब्रिटिश हितों की जितनी अधिक हानि अकेली इस भ्रान्त मान्यता ने की है, उतनी अधिक हानि किसी भी अन्य शत्रु ने न किया होगा। आप लोग सोचें कि यदि कोई अँगरेज नवयुवक भारत में नागरिक प्रशासन में या फौजी सेवा में इस भावना के साथ जाता है और यह भावना उसके मनस में अति गहरे रूप से बद्धमूल है कि भारत में जाकर उसे जिन लोगों से मिलना पड़ेगा वे सब के सब असत्यवादी हैं, वे स्वभाव से ही असत्य भाषी हैं और असत्य भाषण उनकी राष्ट्रीय विशेषता है, अपने कार्यों में वे असत्य बोलने में तनिक भी संकुचित नहीं होते, उनकी बातों का कभी भी और तनिक भी विश्वास नहीं किया जाना चाहिये तो आश्चर्य ही क्या है यदि वह हिन्दुओं के प्रति एक विचित्र दूषित भावना रखता है। मजे की बात तो यह है कि उसमें यह भावना तभी कार्यरत रहती है जबकि उसने अभी किसी हिन्दू को देखा भी नहीं है? जिस प्रकार अविश्वासपूर्ण भावना से वह हिन्दुओं के बीच पहुँचता है, क्या हमें उस पर आश्चर्य करना चाहिये? ऐसे व्यक्तियों के साथ राजनैतिक या वैयक्तिक सम्पर्क होने पर यदि वह अपने में बद्धमूल घृणा की भावना को प्रगट करने से रोक नहीं पाता तो क्या यह कोई आश्चर्य करने का विषय है? जिस हृदय में इतनी भयंकर घृणा के बीज केवल बोये ही न जा चुके हों वरन वे अंकुरित, पल्लवित व पुष्पित भी हो चुके हों, उस हृदय को उसके फलों से कैसे वंचित रक्खा जा सकता है? दुःख तो इस बात का है कि भारतीय नागरिक प्रशासन एवम् सैनिक सेवा के प्रत्येक कर्मचारी के हृदय में इन भावनाओं के जंगल के जंगल ही होते हैं, फिर वे भारतीयों के प्रति सहानुभूति पूर्ण बर्ताव करें तो कैसे, उन्हें मनुष्य मानें तो क्यों और उनकी कठिनाइयों पर ध्यान भी दें तो किस कारण से? आज तो ऐसी स्थिति आ गयी है कि यदि मैं अँगरेजों की भ्रान्त मान्यता के प्रति सन्देह भी प्रगट करूँ तो उस भी मेरा असत्य-

प्रचार कहा जायगा और इस प्रकार के बद्धमूल विश्वास के प्रति सन्देह प्रगट करने के लिये लोग मुझे कभी भी क्षमा न करेंगे।

हम भारत को थोड़ी देर के लिये अलग कर देते हैं। फिर भी जब हमें इस प्रकार की राष्ट्रीय निन्दाओं से काम पड़ता है तो मैं उस निन्दा की निन्दा किये बिना नहीं रह सकता। मेरा विचार है कि किसी भी समूचे राष्ट्र के लिये इस प्रकार के निन्दात्मक शब्दों को प्रयोग में लाने की विचार प्रणाली को निरुत्साहित किया ही जाना चाहिये। ऐसा यह सोचकर नहीं किया जाना चाहिये ये राष्ट्रगत दोषारोपण आत्मवंचक एवम् अनुदार मस्तिष्क की उपज हैं तथा ये अस्वस्थ मस्तिष्क ही इन्हे बल एवम् स्थायित्व प्रदान करते हैं, वरन् इनकी निन्दा इसलिये की जानी चाहिये कि वे किसी भी तर्क पर सही नहीं उतरते और सदैव ही भ्रान्त मान्यताओं पर आधारित होते हैं। थोड़ी देर के लिये मान लीजिये कि एक व्यक्ति यूनान की यात्रा कर रहा है और रास्ते में उसके नव परिचित साथी ने (जो दुर्भाग्य से यूनानी ही है) उसे ठग लेता है या लुटेरों का एक छोटा सा दल उसे लूट लेता है तो क्या इससे यह परिणाम निकाल लेना भ्रमात्मक न होगा कि सभी यूनानी ठग या बटमार हैं ? क्या हम को यह मान लेना चाहिये कि सभी यूनानी चाहे वे अतीत काल के रहे हों या वर्तमान काल के, लुटेरे ही हैं ? या हम ये मान लें कि बटमारी यूनान में सिद्धान्तः मान्य है ? मान लें कि कलकत्ता, बम्बई या मद्रास का कोई व्यक्ति गोरे जज के सामने लाया जाता है या कचहरियों में कुछ पैसों के बदले झूठी गवाही देने वाले पेशेवर गवाह जज के सामने लाये जाते हैं और वे झूठ बोलकर न्याय को एवम न्यायाधीश को गुमराह करने का प्रयत्न करते हुए पाये जाते हैं तो आजकल के तर्क प्रिय युग में यह निष्कर्ष निकाल लेना क्या अति भ्रमपूर्ण नहीं होगा कि भारत के सभी निवासी झूठे हैं और वे सदा न्याय को गुमराह करने की कोशिश करते हैं ? आपको एक और बात का भी विशेष ध्यान रखना चाहिये कि उस विशाल देश में एक दो नहीं तीसों करोड़ आदमी रहते हैं तो एक दो आदमी या सैकड़ों आदमियों या हजारों आदमियों को ही देख सुन कर आप सभी तीस-पैंतीस करोड़ आदमियों को असत्यभाषी एवम असत्यपोषक मान लेंगे ? यह तो कोई उचित बात नहीं है। यदि इस विशाल देश के कुछ लाख व्यक्ति भी अँगरेजी अदालतों के समक्ष चोरी या डकैती या जालसाजी के अभियुक्त के रूप में आकर दण्ड से बचने के लिये झूठ का पल्ला पकड़ते हैं तो क्या हमें यह मान लेना चाहिये कि पूरा का पूरा हिन्दू राष्ट्र ही असत्य को सिद्धान्ततः स्वीकार करता है ? आप एक बार फिर कल्पना करें कि एक अँगरेजी जहाज का अँगरेज नाविक हवालात किसी काले जज के सामने अभियुक्त रूप में लाया जाता है। इस कल्पना में आप इस बात का विशेष ध्यान रक्खें कि जज अभियुक्त के लिये पूर्णरूपेण विदेशी है उसके कानून भिन्न हैं, उसका न्याय क्रम भिन्न है, न्याय पद्धति एवम् भाषा भी भिन्न है। क्या आप लोगों को विश्वास है कि उक्त नाविक उक्त विदेशी जज के सामने सत्य, केवल सत्य ही बोलेगा और सत्य के अतिरिक्त और कुछ भी

नहीं कहेगा ? क्या आप यह भी विश्वास कर लेना चाहेंगे कि उक्त नाविक के सभी साथी संगठित रूप में आकर न्यायलय के समक्ष दण्ड-भीति का कुछ विचार किये बिना ही केवल सत्य ही बोलेंगे और सत्य के अतिरिक्त वे और कुछ भी न कहेंगे और अपने चिर दिनों के साथी को दंड दिलाने में सहायक होंगे ? मेरा अपना तो ऐसा विश्वास है कि वह नाविक भी वही कहेगा और उसके अँगरेज साथी भी वही कहेंगे, जिससे अभियुक्त किसी प्रकार से दंडित होने से बच जाय भले ही उनका कथन सत्य हो या सत्य के अतिरिक्त और कुछ। आप भी विश्वास रक्खें और आपको विश्वास रखना चाहिये कि ऐसा न करना देवत्व भले ही हो पर मानव सुलभ नहीं है। केवल उनके विदेशी होने का प्रभाव भी उसमें बहुत कुछ काम करता है और इस मनोवैज्ञानिक सत्य को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई भी चारा नहीं है।

निष्कर्ष निकालने के नियमों में एक प्रकार की सामान्यता होती है परन्तु उन नियमों का प्रयोग सभी विषयों के साथ एक सा नहीं किया जाता या नहीं किया जाना चाहिये। भारत में एक कहावत है जिसका अर्थ है कि हांडी के एक चावल को ही परख लेना हाँडी के सभी चावलों की परख है। चावलों के लिए यह नियम ठीक है, परन्तु इसी नियम के अनुसार मानवसमाज की परख करने जाकर हम एक भयंकर भूल कर बैठेंगे। मानव मानव है, चावल नहीं। उसके कार्य व्यवहार विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न होते हैं और प्रायः एक ही परिस्थिति में पड़े विभिन्न व्यक्तियों की प्रतिक्रिया भी विभिन्न होती है। ऐसी दशा में सभी मनुष्यों के लिये अलग-अलग विचार करने की आवश्यकता है। एक बार की बात है कि किसी अंगरेज पादरी को किसी ऐसे फ्रांसीसी बच्चे का बपतिस्मा करना पड़ा, जिसकी नाक कुछ लम्बी थी। अब वह पादरी स्वदेश लौटकर अपने देश वालों में फ्रांस की चर्चा करने पर प्रायः कह बैठता है कि फ्रांस के बच्चों की नाक बड़ी लम्बी होती है। क्या उस पादरी के उस निष्कर्ष को आप लोग त्रुटिपूर्ण न कहेंगे ? आप सावधान रहें कि कहीं आप भी भारतीयों के चारित्रिक निष्कर्ष को प्राप्त करने में उसी प्रकार की असावधानी तो नहीं कर रहे हैं।

मुझे तो परेशानी तब होती है जब मैं किसी को पूरी हिन्दू जाति (भारतीय) के लिये किसी सामान्य विशेषण का प्रयोग करते देखता हूँ। मेरे विचार में ऐसा कोई भी विशेषण नहीं है जो भारत ही नहीं किसी भी अन्य देश के सभी निवासियों के प्रति सामान्य रूप से व्यवहृत किया जा सके। जब भी मैं किसी को "भारत के लोग" या "सभी ब्राह्मण" या "सभी बौद्ध" जैसे शब्दों से कोई वाक्य शुरू करते सुनता हूँ तो मुझे एक प्रकार की पीड़ा का-सा आभास होता है, जिसे स्वीकार करने में मुझे किसी प्रकार की लज्जा नहीं है। मैं जानता हूँ कि इन शब्दों से प्रारम्भ होने वाले वाक्य में आगे जो कुछ भी कहा जायगा वह अवश्य ही गलत होगा, पूर्ण रूप से गलत होगा और गलत के अतिरिक्त

दूसरा कुछ नहीं होगा। जितना अन्तर एक अंगरेज, एक फ्रांसीसी या एक जर्मन के बीच है उससे कहीं बड़ा अन्तर भारत के एक अफगान, एक सिख, एक पंजाबी, एक बंगाली तथा एक द्रविड़ के बीच है। इन सभी को मिलाकर एक हिन्दू जाति है। यदि हम सभी भारतीयो के लिये किसी भी एक निन्दासूचक विशेषण का प्रयोग करते हैं तो उसका तात्पर्य यह होता है कि हमने सभी को एक ही लाठी से हाँकने का प्रयत्न किया है। आप ही लोग सोचें कि जिस जाति में इतने अधिक प्रकार के लोग शामिल हों उसकी भली या बुरी विशेषता एक ही शब्द में कैसे आकी जा सकती है।

मेरी इच्छा है कि मैं आप लोगों के सामने सर जान मालकम द्वारा लिखित कुछ वाक्यों को दुहराऊँ। उन्होंने कहा है कि "जिन लोगो के पास देखने वाली आंखे हैं, वे बड़ी ही सरलता से देख सकते हैं कि जिन वर्गों को मिलकर हिन्दू जाति बनी है, उनमें अनेक चारित्रिक वैभिन्य है। जिस हिन्दू राष्ट्र जाति के लिये हम इस प्रकार के अनादर-सूचक शब्दों का प्रयोग करते है, उसमें इतने अधिक भिन्न प्रकार के लोग हैं कि उन्हें एक ही डंडे से हाँकना अवश्य ही भारी भूल होगी।" सर जान मालकम के अनुसार बंगाल के लोग शारिरिक दृष्टि से कमजोर होते हैं परन्तु उनका मस्तिष्क अत्यधिक विकसित होता है और थोड़ी भीरुता उनमें अवश्य होती हैं। दक्षिण बंगाल में हिन्दुओं की निम्न जातियों का निवास है परन्तु उनकी भी विशेषतायें उच्च हिन्दुओ की ही तरह है। अपने विवरण को चालू रखते हुए उन्होंने लिखा है कि "ज्योंही आप बिहार प्रान्त के जिलों में प्रवेश करते हैं त्योंही आपको हिन्दू एक जाति के रूप में दिखायी देने लगते हैं। सामान्यतया उनका कद ही अधिक ऊँचा नहीं होता और न ही केवल उनकी शारीरिक बनावट ही सुगठित होती है, बल्कि वे मानसिक रूप से भी बंगालियों से भिन्न होते हैं और उनमें मानवता के अनेक दुर्लभ गुण पाये जाते हैं। वे साहसी, उदार, मानवतापूर्ण एवम् अतिथि सेवी होते हैं और उनकी सत्यनिष्ठा उतनी ही प्रशंसनीय है जितना उनका साहस।"

अपने इस द्वितीय भाषण के क्रम में मैंने जो कुछ कहा है उससे इतना तो आप समझ ही गये होंगे कि हिमालय से लेकर लंका तक के हिन्दुओ के प्रति हमारे लोगों के मन में जो एक प्रकार की दुर्भावना बद्धमूल हो गयी है, मैं उसे हटा देने का प्रयत्न कर रहा हूँ। यह सत्य है परन्तु मेरे इस प्रकार के प्रयत्न का ऐसा अर्थ लगा लेने की भूल आप लोग न कर बैठे कि मैं भारत का एक आदर्श रूप आप लोगों के समक्ष उपस्थित करने जा रहा हूं, जिसकी सभी कालिमाएँ धो-पोंछ कर साफ कर दी गयी हों और जिसमें केवल अपरिमित माधुर्य व प्रकाश मात्र ही दिखाया गया हो। मैं स्वयम् कभी भारत नहीं गया हूँ अतः मैं केवल इतिहास कर्त्ताओं के अधिकार एवम् कर्तव्य मात्र पालन करने का दावा कर सकता हूँ और वह अधिकार यह है कि किसी भी विषय का विवरण प्रस्तुत करते हुए उसके सम्बन्ध की सभी प्राप्त सूचनाओं को एकत्रित कर लिया जाय। सूचनाओं को एकत्रित कर

लेने के बाद इतिहास लेखक का कर्तव्य हो जाता है कि ऐतिहासिक समालोचना के नियमों के अनुसार उन्हें क्रम से सजा कर पाठकों के हाथों में दे। सुदूर अतीत कालीन हिन्दुओं के चरित्र का विवरण प्रस्तुत करते हुए मैं उसी अधिकार एवम् उसी कर्तव्य का पालन मात्र कर रहा हूँ और इस कार्य के लिए मुझको यूनानी लेखकों एवम् भारतीय विद्वानों की कृतियों का सहारा लेना पड़ेगा। अर्वाचीन भारत के लोगों के चारित्रिक विवरण देने के लिये हमें अवश्य ही उन विजयिनी जातियों के लेखकों का सहारा लेना पड़ेगा जिन्होंने हिन्दुओं को जीतना अपेक्षाकृत सरल पाया परन्तु उन पर शासन करने में जिन्हें अभूतपूर्व कठिनाइयों की अनुभूति हुई। पिछली सदी के प्रारम्भ से वर्तमान तक का विवरण प्रस्तुत करने के लिए हमें कुछ तो सहारा लेना पड़ेगा उन महानुभावों का जिन्होंने कुछ वर्षों तक भारत एवम् भारतीयों में प्रशासनाधिकारी या सैनिक अधिकारी के रूप में रहे हैं और वहाँ से लौटने के पश्चात् अपने भारत एवम् भारतीय सम्बन्धी अनुभवों को पुस्तकाकार छपवा कर हम सबको लाभान्वित किया है तथा कुछ सहारा हमें उन भारतीय मित्रों का भी लेना पड़ेगा जिनकी व्यक्तिगत मित्रता तथा जिनके व्यक्तिगत परिचय का रसास्वादन करने का अवसर मुझे इंग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी में मिल चुका है।

यहीं पर मुझे इस बात को भी स्पष्ट कर देना चाहिये कि चूँकि मैं उन लोगों के सामने बोल रहा हूँ, जो अति निकट भविष्य में भारत के शासक व प्रशासक होंगे। अतः मैं आप सब से अनुमति माँगूँगा कि मुझे उन थोड़े से भारतीय नागरिक एवम् सैनिक सेवा के विशिष्ट अधिकारियों को उद्धृत करने दें जो लम्बे समय तक भारत में रह कर वहाँ का एवम् उनके निवासियों का सूक्ष्म अध्ययन कर चुके हैं और अपने अध्ययनकाल में जिन्होंने न तो अपना विवेक खोया है और न संयम तथा जिनकी विचार पद्धति किसी भी पूर्वगामी लेखक के विचारों से दूषित नहीं हुई है। सौभाग्य से उन लोगों ने भी इस विषय को हाथ में लिया है जिस पर हम इस समय विचार कर रहे हैं। अर्थात् उन्होंने भी भारतीयों की सत्य प्रियता या असत्य प्रियता पर अपना विचार प्रगट किया है।

जब मैं पहले-पहल इंग्लैंड आया तो बहुत से ऐसे लोगों को जानने, उनसे परिचित होने एवम् उनमें से कितनों ही से मित्रता स्थापित करने का सौभाग्य व आनन्द मुझे मिला जो ईस्ट इंडिया कम्पनी की अधीनस्थ भारतीय सेना में भारत जाकर तथा वहाँ कुछ वर्षों तक रह कर इस देश में लौटे थे। उनकी बातों से मुझे पता चला कि उन्होंने नेटिव लोगों को समीप से देखा और परखा है। उन लोगों ने उनको उनके शिष्टाचार को तथा उनकी चारित्रिक विशेषताओं का अध्ययन उन लोगों से अधिक गम्भीर रूप में किया है जो अभी केवल पचीस वर्ष पूर्व यहाँ से पास होकर गये हैं और इतने दिनों में नाम व धन कमाकर अब स्वदेश को लौट रहे हैं। एक जमाना था कि भारत हमसे बहुत दूर था, उस समय किसी भी अंगरेज का भारत जाना प्रकारान्तर से निर्वासन ही माना जाता था, परन्तु

आज वैसी दशा नहीं है। आज के तेज चलने वाले जहाजों के कारण इंग्लैण्ड एवम् भारत के बीच की जलयात्रा छोटी और सुविधा पूर्ण हो गयी है। आज की डाक व तार व्यवस्था की उपस्थिति में भारत हमारे काफी समीप आ गया है। अब हमारे लिए भारत वह भारत नहीं रह गया है जहाँ पर राबिंसन क्रूसो को अपने लिये सभी सुविधाओं की व्यवस्था स्वयं करनी पड़ती थी। अभी पचास वर्ष पूर्व किसी भी अंग्रेज कामिनी को भारत जाने का साहस नहीं होता था, परन्तु अब वे भी भारत प्रवास के आनन्द मे भाग बटाने का साहस करने लगी हैं। अब भी हमारे देश के लोग भारत प्रवास को निर्वासन ही मानते हैं परन्तु अब उस निर्वासन का कष्ट स्वयम् उनकी दृष्टि में भी अत्यधिक कम हो गया है। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि अब भी एक प्रकार की विवशता के कारण ही भारत जाने को तैयार होते है। अभी तक भारत जाने का चाव लोगों में उत्पन्न नहीं हुआ है और यदि हुआ भी है तो वह अपर्याप्त है। यह एक कठिनाई है, जिसे दूर तो अवश्य नहीं किया जा सकता परन्तु सफलतापूर्वक उसका सामना किया जा सकता है और इसका सामना करने मे तभी सफलता मिल सकती है जब भारत मे जाने वाले लोगों के उद्देश्य महान् हों, रुचियो परिष्कृत हों, एवम् उनका दृष्टिकोण विस्तृत हो।

मैं स्वर्गीय प्रोफेसर विल्सन को जानता हूँ, जो आक्सफोर्ड में हमारे संस्कृत के प्रोफेसर थे। उन्होंने उक्त पद पर काफी दिनों तक रह कर अध्ययन कार्य किया था। जब कभी वे अपने भारत सम्बन्धी संस्मरण सुनाने लगते थे तो आत्मविभोर हो उठते थे और हमें भी उनकी बाते सुनते-सुनते आत्मविस्मृत हो जाना पड़ता था।

उन्होंने अपने भारतीय मित्रों, सहकारियों एवम् कर्मचारियों की चारित्रिक विशेषता के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है, उसे आप सब के सामने पढ़ने के लोभ का मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ :—

"यह आवश्यक भी था और मुझे पसन्द भी कि मै भारत मे हिन्दुओं के बीच में रहूं। इस प्रकार मुझे उन्हें इतनी अधिक विभिन्न परिस्थितियों में देखने एवम् परखने के अवसर मिले कि किसी भी अँगरेज को उतनी अधिक परिस्थितियों मे देखने-परखने के अवसर नहीं मिल सकते। कलकत्ता के टकसाल में मुझे नित्य ही भारतीय मिस्त्रियों, कारीगरों एवम् अनेक छोटे बड़े कर्मचारियों के व्यक्तिगत सान्निध्य में आना पड़ता था। मैंने जब कभी भी भारतीयों को देखा, उन्हें निरन्तर कार्यरत व हँसमुख देखा। उनके अथक परिश्रम, निरन्तर अध्यवसाय एवम् सदा प्रसन्न मुख को मैं कभी भी नहीं भूलूंगा। अपने उच्चाधिकारियों का मन्तव्य वे (भाषा साम्य न होते हुए भी) कितनी जल्दी जान लेते थे और जान कर कितनी शीघ्रता एवम् तत्परता में वे पालन करते थे कि देख कर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता था। जो कुछ भी उनसे कहा जाता था उसे करने को वे प्राणपण से तैयार रहते थे। वे मद्यप नहीं थे, व्यवस्था प्रेमी और आज्ञानुवर्ती थे। यह कहना सत्य नहीं होगा

उनमें बेईमानी नहीं थी। थी, अवश्य थी, पर उतनी नहीं, जितनी अन्य देशों की टकसालों के कर्मचारियों में होती है। ये बेईमानियाँ नगण्य थी और बहुत कम थी और सरलता से इन्हें दूर किया जा सकता था। दूसरे देश की टकसालों में जिस प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था एवम् अपराधनिरोधक व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है, उस प्रकार की किसी भी व्यवस्था की आवश्यकता यहाँ नहीं प्रतीत होती थी। उनमें कौशल भी था और सीखने की अदम्य इच्छा भी। प्रशंसा की बात तो यह है कि यह सब कुछ होते हुए भी उनमें गुलामों की सी भावना का नाम तक नहीं था, जैसे सब कुछ वे स्वेच्छया ही करते थे न कि किसी दबाव या भय वश। दास भावना के एकदम विपरीत उनमें शिष्ट स्पष्टवादिता की भावना अधिक प्रबल थी। किन्तु इन सब गुणों का दर्शन तभी सम्भव होता था जब अपने अफसर में उनका पूर्णविश्वास रहता था और उसके साथ उनको यह भी विश्वास हो जाता था कि अनुचित भय की कोई बात नहीं है। भारतीय चरित्र में स्पष्टवादिता एक महान् गुण के रूप में विकसित हुई है। एक बार आप उनको आश्वस्त कर दें कि आप उनके हास-परिहास को अन्यथा न समझेंगे फिर देखिये उनका सारा गाम्भीर्य हवा हो जायगा और वे अपनी प्रसन्नतापूर्ण वाणी से आपको भी प्रसन्न बना देंगे। प्रशंसा की बात तो यह है कि उनके इस आह्लादपूर्ण हासपरिहास में अशिष्टता या असौजन्य का नाम भी न दिखायी पड़ेगा।"

भारतीय पंडितों का बुराई करने में किसी भी विदेशी ने एक भी पत्थर को बिना पलटे नहीं छोड़ा है, परन्तु उन्हीं पंडितों के विषय में प्रोफेसर विल्सन लिखते हैं कि "अपने खाली समय में मैं जिस विषय का अध्ययन करता था, उसके कारण मुझे भारतीय विद्वानों के सम्पर्क में आना पड़ा। इन पंडितों में भी मैंने उसी अध्यवसाय, बुद्धि प्रखरता, स्पष्टवादिता एवम् उनकी विद्वत्ता के विरुद्ध चित्तानुरंजकता का दर्शन किया। उनके मुख पर जैसे सदैव ही बालकोचित हास्य खेला करता था। उनकी वाणी में ओज एवम् माधुर्य का अद्भुत सम्मिश्रण होता था। इन भारतीय विशेषकर हिन्दू (यहाँ हिन्दू धर्म वालों से तात्पर्य है) विद्वानों में मैंने अद्भुत सादगी देखी। उनकी सादगी शिशुत्व की सादगी को पहुँची हुई प्रतीत होती थी, जैसे उन्हें जीवन के कार्यव्यवहारों एवम् शिष्ट आचारों का कोई विशेष ज्ञान ही न हो। यदाकदा भारतीय विद्वानों में मुझे इस सादगी के अभाव के भी दर्शन हुए, उनमें सभ्य समाज की-सी बनावट भी हमने यत्रतत्र देखा परन्तु शीघ्र ही पता चल गया कि यूरोपियनों के संसर्ग ने इन्हें शिशुत्व से यौवन में खड़ा कर दिया है। भारतीय विद्वान विशेषकर हिन्दू (धर्म वाले) विद्वान यूरोपियन चरित्र को समझ भी नहीं पाते और उनसे त्रस्त भी रहते हैं। भारत में रहने वाले जो एकाध यूरोपीय विद्वान हैं भी, वे इन पंडितों से अलग-अलग रहते हैं। उनका इन भारतीय विद्वानों से कोई भी सम्पर्क नहीं है और परिणामतः दोनों ही एक दूसरे से अनभिज्ञ हैं। केवल यही एक मात्र कारण है कि

दोनो (भारतीयो तथा यूरोपियनों) में एक दूसरे के प्रति अत्यन्त भ्रान्त धारणाएँ बद्धमूल होती जा रही है।"

अन्त में कलकत्ता के उच्चवर्गीय भारतीयो के विषय में लिखते हुए प्रोफ़ेसर विल्सन का कथन है कि—"उन्हे इन भारतीयो में अनुपम शिष्टाचरण, स्पष्टता एवम् अद्भुत ज्ञान-पिपासा के साथ-साथ अनुभव एवम् सिद्धान्त की अतीव स्वतंत्रता के दर्शन किये।" प्रोफ़ेसर साहब तो यहाँ तक कहते है कि—"उन्हे भारतीयों में ऐसे व्यक्ति मिले जो संसार के प्रमुख सभ्य देशों के सभ्यतम् पुरुषो की श्रेणी में रक्खे जाने योग्य थे।" उन्होंने आगे चल कर लिखा है कि—"उनमें से अनेकों से मेरी मित्रता हुई और मुझे विश्वास है कि उनकी मित्रता का रसास्वादन म यावज्जीवन करता रहूँगा।"

मैंने प्रायः प्रोफ़ेसर विल्सन को भारतीयो के विषय में उपरोक्त प्रकार के और कभी कभी तो उनसे भी सबल शब्दों में बोलते हुए सुना है। यदि आप उस प्रकाशित पत्रावली को देखें जो श्री विल्सन एवम् श्री केशव चन्द्र सेन के पितामह रामकमल सेन के बीच हुई थी तो आप भी कहेंगे कि भारतीयों के साथ अँगरेज अटूट मैत्री बन्धन में बँध सकते हैं, हाँ आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार की मित्रता सम्पादन की भावना पहले अँगरेजो की ही तरफ से होनी चाहिये।

संस्कृत के ही एक अन्य प्रोफ़ेसर भी है जिन पर विश्वविद्यालय को गर्व हो सकता है और जो वर्तमान विषय पर बोलने के लिये मुझसे कहीं बड़े अधिकारी हैं, वे भी आपसे इसी प्रकार की बातें कहेंगे और इसमें सन्देह नहीं है कि उन्होंने प्रायः आपसे ऐसा कहा भी होगा कि यदि मित्रता सम्पादन करने की दृष्टि से हिन्दुओं में योग्य व्यक्तियों की खोज की जाय तो उनमें इस योग्य अनेक व्यक्ति मिलेंगे कि उनसे मित्रता की जाय और उनका पूर्ण विश्वास भी किया जाय।

एक पुस्तक ऐसी है जिसे पढ़नेकी प्रेरणा के लिए मैं भारतीय नागरिक प्रशासन के प्रत्येक उस छात्र को उत्साहित करता रहा हूँ, जिनसे आक्सफोर्ड मे मिलने का सौभाग्य मुझे मिला है। एक दूसरी भी पुस्तक है जिसे पढ़ने के दुष्परिणामों से प्रत्येक छात्र को मैं सावधान करता रहा हूँ और मुझे विश्वास है कि अधिकांश लोगों को इसके परिणाम देखने को मिले है। जिस पुस्तक को न पढने की प्रेरणा मैं लोगों को देता रहा हूँ तथा जो मुझे सर्वाधिक दुष्परिणाम कारिणी प्रतीत हुई है, वह है श्री मिल द्वारा लिखित "ब्रिटिश भारत का इतिहास[१]।" इस पुस्तक ने भारतीयों के विषय में अनेक व्यक्तियों के मस्तिष्क में दूषित धारणाएँ उत्पन्न की हैं। धन्यवाद है श्री विल्सन को, जिनकी कृति ने इस प्रकार की भ्रान्त मान्यताओं को निर्मूल सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की है। जिस पुस्तक के पढ़ने

[१] Mill's History of British India.

की सिफारिश मैं प्रायः करता रहता हू वह है "कर्नल स्लीमैन के भ्रमण वृत्तान्त"[१]। मेरी प्रायः ऐसी इच्छा होती है कि सर्व साधारण के लिये सुलभ्य बनाने के विचार से इस पुस्तक का एक सस्ता संस्करण प्रकाशित किया जाय। कर्नल स्लीमैन द्वारा लिखित "एक भारतीय अधिकारी के संस्मरण" नामक पुस्तक सन १८४४ ई० में प्रकाशित हुई थी यद्यपि इसका मूल लेखन काल १८३५-३६ ई० है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पुस्तक भी पठनीय है।

मुझे यह जानकर दुःख होता है कि मिल द्वारा लिखित पुस्तक "भारतीय नागरिक प्रशासन" के छात्रों के लिये स्वीकृत पुस्तक है और उसके विषय में प्रश्न भी पूछे जाते हैं, फिर भी मैं इस पुस्तक की प्रायः निन्दा किया करता हूँ और यह दिखाने के लिये कि मेरे द्वारा की जाने वाली निन्दा निराधार नहीं है मुझे कुछ प्रमाण देने होंगे:—

हिन्दुओं के चरित्र सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करने में श्री मिल ने डुबाइस, आर्मी तथा बचनन, टिनैएट तथा वार्ड का सहारा लिया है। मुझे यह कहने में तनिक भी हिचक नहीं है कि उपरोक्त लेखक न तो योग्यता सम्पन्न अधिकारी ही थे और न निष्पक्ष ही। मिल ने इन लेखकों द्वारा प्रस्तुत विवरणों में से चुन-चुन कर उन्हीं स्थलों को लिया है, जो भारतीयों के चरित्र को सर्वाधिक कालिमामय रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन लेखकों को भी विवश होकर यत्र-तत्र भारतीयों के विषय में प्रशंसापूर्ण बातें लिखनी पड़ी हैं परन्तु श्री मिल ने उन पर जैसे दृष्टिपात् ही नहीं किया है। मिल के वर्णनों में उन प्रशंसनीय बातों की चर्चा भी नहीं मिलती। इन लेखकों ने उपहासात्मक ढंग में भी जो कुछ लिख दिया है, उसको भी श्री मिल ने गम्भीरता का जामा पहनाकर हमारे सामने प्रस्तुत किया है। यदि कहीं साधारण उपहास रूप में किसी ने लिख दिया कि "ब्राह्मण असत्यता के भण्डार होते हैं" तो उसी तिल को मिल ने ताड़ बना कर हमारे सामने रख दिया। मिल ने हिन्दुओं पर असत्यता का आरोप तो लगाया ही है, साथ ही उन्हें वादप्रिय (मुकदमेबाजी का शौकीन) भी कहा है। वह लिखता है कि "जब भी हिन्दुओं का साहस असफल हो जाता है तो उनकी प्रतिकार प्रवृत्ति उसे मुकदमाबाजी का रूप दे देती है"। असम्माननीय उद्देश्य से परिचलित होकर मिल ने जो कुछ लिखा है, उसे इस प्रकार भी लिखा जा सकता था—"जब कभी वे अपने किसी शत्रु को पराजित करने में असफल हो जाते हैं तो अंगरेजी अदालतों के न्याय पर उन्हें इतना भरोसा होता है कि वे अवश्य ही न्यायालय की शरण लेते हैं, क्योंकि उनके दिलों में कानून के प्रति जो प्रेम है, वह उन्हें किसी भी प्रकार की गैर कानूनी कार्यवाही से रोकता है और इस प्रकार उनकी बदला-लेने की इच्छा अपूर्ण ही रह जाती है, तब वे न्यायालय की शरण लेते हैं।" डा० राबर्टसन ने एक पुस्तक लिखा है जिसका नाम है "भारत सम्बन्धी ऐतिहासिक निबन्ध"।[२]

---

[१] कोलोनल स्लीमैन का "Rambles"

[२] Historical Disquicitions Concerning India.

उसे पढ़ने से सिद्ध हो जाता है कि ये मुकदमेबाजियाँ हिन्दुओं की सभ्यता की परिचायिका हैं न कि उनके असभ्य होने की। उनकी इस बात का भी खण्डन करके श्री मिल ने लिखा है कि "आयलैंड के सर्वाधिक असभ्य लोगों को छोड़कर इस प्रकार की सभ्यता और कहीं भी नहीं पायी जाती"। इसमें आश्चर्य करने योग्य तो कुछ भी नहीं जान पड़ता कि हिन्दुओं में यह मान्यता फैल गई हो कि अंगरेजी न्यायालयों का न्याय भ्रष्टाचार से परे रहकर निष्पक्ष होता है। फिर भी क्या यह सत्य है कि हिन्दुओं में अन्य राष्ट्रों से अपेक्षाकृत अधिक मुकदमेबाजी होती है। सर थामस मुनरो मद्रास के गवर्नर रह चुके हैं और वे रय्यतवाड़ी प्रबन्ध के सबल प्रशंसक रह चुके हैं। उनके लेखों में अनेक बार इस प्रकार के शब्द मिलते हैं—"मुझे अनेक परिस्थितियों में अनेक हिन्दुओं को समीप से देखने का प्रायः अवसर मिला है और मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि वे वादप्रिय नहीं होते"।

मिल की दुर्भावना हिन्दुओ के प्रति इतनी बढ़ी हुई है कि एक स्थान पर बड़ी ही दृढ़तापूर्वक उसने अपने पाठकों को विश्वास दिलाया है कि—"कोई भी ब्राह्मण इच्छामात्र होने पर भी किसी की हत्या सहज ही कर सकता है"। वास्तविकता यह है कि यदि भारत के लोग मिल द्वारा प्रचलित ढंग के ही होते तो कर्नल वान केनेडी के अनुसार भारत का समाज इतने अधिक दिनों तक संगाठित ही नहीं रह सकता था। मिल ने जब उपरोक्त प्रकार की बातें लेखनीबद्ध की थी तो स्वयम् उन्हें भी अपनी बातों का महत्व परिलक्षित नहीं हो सका था। उसकी इच्छा थी कि वह भारतीयो को एक दुर्गुण पुंज के रूप में चित्रित कर दें, परन्तु अपनी झक में वह स्वयम् ऐसी बात लिख गया जो उसी के विरुद्ध जा पड़ी। आप लोग ही सोचें कि यदि एक ब्राह्मण को इतनी स्वतंत्रता है कि वह इच्छामात्र से किसी की हत्या कर सकता है, तो यह उस वर्ण के लिये कितनी प्रशंसापूर्ण बात है कि इतना बड़ा अधिकार रहने पर भी ऐसा नहीं सुना गया कि किसी ब्राह्मण ने अपने उस अधिकार का एक बार भी प्रयोग किया हो। तुलनात्मक रीति से यदि देखा जाय तो हम पावेंगे कि स्वयम् हमारे इंग्लैण्ड में प्रति दस हजार व्यक्ति पर एक व्यक्ति को फासी दी जाती है और बंगाल में प्रति दस लाख व्यक्ति पर एक व्यक्ति को प्राणदंड दिया जाता है।

कर्नल स्लीमेन के भ्रमण वृत्तान्तो से हम सब दुर्भाग्य से उतना परिचित नहीं हो सके हैं, जितना हम सब को उनसे होना चाहिये था। इनसे आपका कुछ परिचय हो जाय, इस उद्देश्य से मैं आप लोगों के समक्ष कुछ उद्धरणों को रक्खूगा। कर्नल स्लीमैन ने जो कुछ भी लिखा है, वह पत्रात्मक ढंग पर है और वे सभी पत्र अपनी बहन को ही सम्बोधित करके उन्होने लिखा है। उनके एक पत्र का नमूना देखिये :—

"मेरी प्यारी बहन,

भारतवर्ष में तुम्हारे जो भी देशवासी रहते हैं यदि उनसे पूछा जाय कि इस

देश में प्रवास करते हुए कौन-सी वस्तु उन्हें सर्वाधिक प्रसन्नता प्रदान करती है तो प्रत्येक दस में से नौ व्यक्ति यही कहेंगे कि वह वस्तु है उन प्रिय बहनों का पत्र जो स्वदेश में रहती हुई अपने प्रवासी भाइयों को लिखती रहती है ' " और इस प्रकार वे हमें प्रसन्न बने रहने मे तो सहायिका होती ही है, साथ ही हमें विश्वबन्धुत्व का पाठ पढाकर उत्तम प्रकार की विश्वनागरिकता की सफल शिक्षा भी देती रहती हैं। मुझे विश्वास है कि यदि हम भारत प्रवासी अंगरेजों को अपनी बहना के पत्र न प्राप्त होते रहें तो न तो हम उत्तम नागरिक ही बन सकें और न अपनी सरकार के उत्तम सेवक ही। बात यह है कि हम भारत स्थित अंगरेज यहाँ या अन्यत्र जब भी कोई कार्य करने लगते है तो यह भावना सदैव ही हमारे साथ रहती है कि वह कार्य हमारी बहनों द्वारा प्रशंसा प्राप्त होगा या नहीं। इस प्रकार भारत सरकार के कार्यों में वे सर्वदा एक वाञ्छनीय नियंत्रण का कार्य इस प्रकार करती रहती है मानों वे अवैतनिक मैजिस्ट्रेट हों। मेरा विचार है कि इन बहनों को इसी दृष्टिकोण से देखना भी चाहिये।"

स्लीमैन के इन थोड़े से शब्दों में भी अंगरेजी (Chivalry) का स्पष्ट प्रभाव झलकता है। स्लीमैन स्वयम् स्वीकार करता है कि वह पत्र लिखने में महान् आलसी है। हो सकता है कि कार्याधिक्य ही इस आलस्य का कारण हो। लम्बे पत्र तो वह था भी कभी नहीं लिख पाता था फिर भी नर्मदा से चलकर स्वास्थ्य रक्षार्थ की गयी हिमालय तक की लम्बी यात्रा में उसने जो कुछ भी देखा सुना, जो कुछ भी अनुभव उसने प्राप्त किया तथा जिस किसी भी हृदय, व्यवस्था, विचार ने उसे जिस प्रकार प्रभावित किया, उन सभी का परिचय अपनी बहन को लिखे गये अपने पत्रों को लिख पाने का अवसर उसने बलात् ही निकाला। उसने जो कुछ भी लिखा था, प्रारम्भ में उन पत्रों को इसी उद्देश्य से लिखा था कि उसकी बहन तथा उसके परिवार के अन्य सदस्यों को प्रिय एवम् मनोरंजक लगे। फिर भी उसने यह भी साथ ही साथ लिख दिया कि "मेरी प्रार्थना है कि आप लोग इतना विश्वास अवश्य रक्खें कि अपने पत्रों में लिखी गयी बातों में मैंने कहीं भी कल्पना का सहारा नहीं लिया है। आप लोगों को लिखे गये विवरणों, संस्मरणों या वार्तालापों की वास्तविकता को कहीं भी मैंने नष्ट नहीं किया है। कहीं-कहीं मैंने अन्य जनों से सुनी हुई बातों को भी लिखा है, पर उनकी भी सत्यता पर मुझे विश्वास है। जो बातें मैंने स्वयम् देखकर या अनुभव करके लिखी हैं, वे तो सत्य हैं ही।"

स्लीमैन ने इन पत्रों को १८४४ ई० में जब प्रकाशित करने की योजना बनायी तो उसने इस बात की लिखित आशा प्रगट की कि "मेरी इस कृति को पढ़कर भारत प्रवासी भारत और भारतीयों को अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे और तब भारतीयों के प्रति उनका व्यवहार अधिक सहानुभूतिपूर्ण होगा।"

आप लोगों के मन में यह शंका हो सकती है और आप यह पूछ सकते हैं कि

प्रोफ़ेसर विल्सन जैसे निष्पक्ष लेखक से भी अधिक मैं भारतीय चरित्र के विषय में कर्नल स्लीमैन के मत को अधिक मान्यता क्यों दे रहा हूँ। यदि आप उक्त प्रश्न को पूछें ही तो मेरा उत्तर यही होगा कि विल्सन अधिकाश कलकत्ता में ही रहे और स्लीमैन ने भारत को भारत के गांवो में देखा था। यहाँ मैं एक बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि भारत विषयक किसी भी जिज्ञासा की शान्ति के लिये हमें ही नहीं, प्रत्येक जिज्ञासु को भारत के गाँवों मे ही जाना चाहिये क्योंकि वास्तविक भारत के दर्शन हमें गाँवों में ही मिलते हैं। कर्नल स्लीमैन ने कई वर्षों तक ठगों का दमन करने को कमिश्नर के रूप में काम किया था। ये ठग लोग पेशेवर हत्यारे थे जो एक प्रकार की धार्मिकता की आड़ में हत्याएँ करके राहगीरो को लूट लिया करते थे। प्रारम्भ में इन दलों में प्रायः मुसलमान ही हुआ करते थे परन्तु बाद में कुछ हिन्दू भी इनमे शामिल हो गये थे। फिर भी अधिकाश संख्या मुसलमानों की ही थी।

इन दलो को खोज निकालने के लिये स्लीमैन को देशी आदमियों से सम्पर्क स्थापित करना पड़ा था। यह सम्पर्क परस्पर विश्वासपात्रता की सीमा तक पहुंच जाने से उसे इस बात के अत्यधिक अवसर मिले कि वह देशी लोगों के विषय में जाने, सुने और समझे।

अपने विवरणों मे स्लीमैन ने यह बात जोर देकर कहा है कि जो भारत के ग्राम्य-जीवन को नहीं जानता वह भारत के बारे में कुछ भी नहीं जानता। हम वर्णन की सुविधा के लिये इन्हे गण कहेंगे। हम जानते हैं कि भारत के गाँव जिस प्रकार भारतीय विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं, वैसा किसी भी अन्य देश में नहीं है। भारतीय राजाओं, महाराजाओं एवम् सम्राटों की बात पढ कर हमारा यह सोचना यद्यपि स्वाभाविक है, पर सत्य नहीं कि भारत में भी प्राच्य देशों के ही ढंग का राज्यतंत्र था और जिस स्थानीय एवम् प्रातीय स्वतंत्रता का हम अंगरेज लोग अभिमान करते हैं, उसका नाम भी भारत में नहीं था। जिन लोगों ने सावधानी से भारत के राजनैतिक जन-जीवन के विषय मे अध्ययन किया है, उनका भी मत उपरोक्त स्वाभाविकता के विरुद्ध है।

अति प्राचीन काल से ये गाँव ही भारत के शासन की इकाई रहते आये हैं। यह सही है कि भारत ने अनेक आक्रमणकारियो को देखा है। अनेक आक्रमकों एवम् आक्रमक जातियो से अनेक बार वह पादाक्रान्त भी हुआ है। लम्बे विदेशी-शासन के दिन भी भारत ने एकाधिक बार देखा है, परन्तु गावो की यह प्रधानता सदैव ही अक्षुण्ण रही है। गाँवों का जन-जीवन इन आक्रमणों एवम् लम्बे विदेशी शासनों की अग्नि परीक्षा में भी बचा ही रह गया है। अधिक से अधिक इतना ही हुआ है कि कभी ये इकाइयाँ किसी विशेष उद्देश्य से होकर समूह रूप में हो गयी है या बना दी गयी हैं। इस प्रकार के ग्राम-समूहों को भारतीय साहित्य में ग्राम जाल कहा गया है। ये ग्राम जाल भी हस्तान्तरित अधिकारों को

भोगते हुए सम्पूर्ण एवम् अधिकांश में वाह्य नियंत्रण से स्वतंत्र ही रहते थे। आप मनु द्वारा लिखित मनुस्मृति को देखें। उसमें आपको ऐसे कर्मचारियों के पदों के नाम मिलेंगे, जो दस, बीस, सौ या सहस्र ग्रामों का शासन प्रबन्ध करने के लिये नियुक्त होते थे परन्तु इससे आप यह न समझ लें कि ये अधिकारी आजकल के राज्यपालों की तरह होते थे। ऐसी बात नहीं थी। वास्तव में ये कर्मचारी प्रायः लगान वसूली के लिये तथा ग्रामीण जनता के शिष्टाचार की देखभाल के लिये ही होते थे। ग्रामों के आन्तरिक शासन में उनका कोई भी हाथ नहीं होता था। बाद में चलकर भी भारतीय साहित्य में अठरहवी, बयालसी तथा चौरासी नाम के परगने मिलते हैं, परन्तु ये ग्राम जाल राजनैतिक इकाई न होकर आर्थिक इकाई ही हुआ करते थे। हिन्दुओं के लिये, मेरा मतलब है कि प्रति सौ में ६६ हिन्दू के लिए उसका गाँव ही उसका संसार होता था, जिसे जनमत कहा जाता है और उसका क्षेत्र भी कदाचित् ही एक गाँव से बाहर जाता था।

कर्नल स्लीमैन ही सर्वप्रथम अंगरेज था जिसने इन गांवों को देखा और लोगों का ध्यान भी इधर आकर्षित किया। उसी ने गांवों के उस महत्व को समझा जो देश के शासन प्रबन्ध में इन गांवों का होता था। गांवों का यह महत्व अति प्राचीनकाल से आज चला आ रहा है। आगे हेनरी मेन के प्रयत्नों से हमारी एतत्सम्बन्धी जानकारी काफी बढ़ी है, फिर भी कर्नल स्लीमैन द्वारा लिखे गये पत्रों की उपयोगिता कुछ अधिक ही है, क्योंकि उनसे हमें एक शिक्षा मिलती है। उसने एक निरीक्षक की हैसियत से लिखा है और उस पर किसी भी ऐसे सिद्धान्त का प्रभाव नहीं है जो सामान्य आर्यों के राजनैतिक जीवन के विकास का सम्यक् निरूपण करता हो।

हमने ऊपर की पंक्तियों में जो कुछ कहा है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि कर्नल स्लीमैन ही वह प्रथम व्यक्ति था जिसने इस बात पर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया कि समूचा भारत इन छोटे-छोटे गांवों में ही रहता है। मेगास्थनीज नामक यूनानी राजदूत चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहने के लिये यूनानी सेनापति सिल्यूकस नाइकेटर द्वारा भेजा गया था। उसका समय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी है। मेगास्थनीज ने भी भारत को जैसा कुछ देखा, सुना और समझा था, उसका पूरा-पूरा विवरण लेखबद्ध किया है। उसकी दृष्टि भी इस तथ्य पर पड़ी थी। उसने भी लिखा है कि प्रायः यहाँ के लोग अपने बाल-बच्चों के साथ देहातों में ही रहना पसन्द करते हैं और नगरों की ओर आने की जैसे उनमें कोई इच्छा ही नहीं होती। नियारकस का कहना है कि ये सभी लोग आपसी सहयोग से खेती बारी करते थे। स्लीमैन ने जिस बात की ओर सर्वप्रथम संकेत किया था वह यह है कि भारतीयों के जन्म जात गुण उनके निजी गाँव से ही सम्बन्धित एवम् मर्यादित होते हैं।

हमारी जाति वाले (अंगरेज) भारत के ग्राम्य जीवन के विषय में कुछ भी नहीं

जानते या यों कहना चाहिये कि उन्हें यह सब कुछ जानने का अवसर ही नहीं मिलता। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि ज्यों ही कोई अंगरेज अधिकारी भारतीय ग्रामीणों के बीच पहुँचता है, त्यों ही उनके सभी संस्कारगत गुण गायब हो जाते हैं। आप लोग विश्वास रक्खें कि भारतीयो में अनेक ऐसे संस्कारगत गुण हैं, जो उनके व्यक्तिगत जीवन, उनकी न्याय-व्यवस्था एवम् उनके शिष्टाचरण को महत्वपूर्ण बनाते हैं, परन्तु अंगरेजों के सम्पर्क-मात्र से उनके ये गुण जैसे उनसे अलग हो जाते है। भारतीयों का चरित्र कुछ इस प्रकार का है कि उन्हें जब भी अपने गांव के समाज से अलग कर दिया जाय तो उनके जैसे सारे बन्धन टूट जाते हैं और जैसे उनके सारे संस्कारगत संयम नियम उनका साथ छोड़ जाते है। गाँव की मर्यादा का बन्धन टूटते ही वह इस प्रकार का हो जाता है कि थोड़ी ही लालच में पड़ कर वह ऐसे कार्य कर सकता है कि गाँव में रह कर वह वैसे काम कर सकने की बात ही नहीं सोच सकता। हम आज भी देखते हैं कि एक देश के नागरिक का एक ही काम अपराध समझा जाता है यदि वह अपने देश में किया गया हो और उसे ही महती देशभक्ति की भी बात कहते है, यदि वह दूसरे मुल्क के साथ किया गया हो। संकुचित प्रकार की देशभक्ति इसे ही कहते हैं। भारतीयों का भी यही हाल है। गाँव में किये जाने पर जो काम अपराध समझा जाता है वही काम यदि एक गाँव का निवासी दूसरे गाँव में सफलता पूर्वक करे तो उसे सफल आक्रमण या विजय का नाम दिया जाता है। गाँव के शिष्टाचरण के नियम केवल गाँव के लिये ही सीमित रहते हैं दूसरे गाव के लिये नहीं। अन्तर्ग्रामीण सम्बन्ध के लिये प्रायः उसी प्रकार के नियम प्रचलित हैं जैसे अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के नियम। उदाहरण के लिये गाँव का सर्वाधिक सम्माननीय व्यक्ति भी अपने गाँव मे अतिथि का-सा सम्मान नहीं पा सकता, परन्तु दूसरे गाँव का साधारण-तम् व्यक्ति भी अतिथि योग्य सम्मान पाने का अधिकारी माना जाता है।

अब आइये देखें कि इस ग्राम्य चरित्र के विषय में कर्नल स्लीमैन के क्या विचार हैं। इस विषय पर कुछ कहने के पूर्व मै आप लोगों को यह भी बता देना चाहूँगा कि कर्नल स्लीमैन ठगी के विनाश की योजना में कमिश्नर रूप से कार्य कर रहे थे अतः उन्हें जन-जीवन के दोनों अर्थात् उज्वल एवम् कृष्ण दोनों पक्षो को देखने के पर्याप्त अवसर मिले होंगे।

स्लीमैन ने अपने लेखो मे यह विश्वास दिलाया है कि एक ही गाँव का जहाँ तक प्रश्न है कोई भी व्यक्ति असत्य भाषण का नाम भी नहीं जानता अर्थात् यदि एक ही गाँव के किसी भी मामले मे उसी गाँव के किसी व्यक्ति को कुछ कहना होगा तो वह किसी भी दशा में असत्य भाषण नही करेगा। स्लीमैन ने कुछ जगली जातियों की भी चर्चा करते हुए लिखा है कि गोंड़, भील इत्यादि भी किसी बड़ी से बड़ी लालच के सामने भी

झूठ नहीं बोलते यद्यपि उनके लिये यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि वे किसी समीपस्थ फिरके के झुंड के झुंड जानवर हाक ले जायँ।

इन लोगों के विषय में यह कहा जा सकता है कि अभी वे झूठ बोलने के लाभों को इस योग्य भी नहीं मानते कि वे उनका मूल्यांकन करने का प्रयत्न करें। मेरा तो विचार है कि इस प्रकार की आनन्दपूर्ण अज्ञानता से किसी जाति की महत्ता बढ़नी ही चाहिये घटनी नहीं। इस स्थल पर मैं भीलों, गोंडों या संथालों जैसी अनार्य जातियों के लोगों का मूल्यांकन करना नहीं चाहता। वास्तव में भारत की उन आर्य जातियों की चर्चा कर रहा हूँ जो सभ्य कही जाती है या कहे जाने के योग्य है। ऐसे लोगों में यदि कोई ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है कि एक ही गाँव के लोगों के स्वार्थों, अधिकारों एवम् कर्तव्यों में द्वन्द्व आ पड़ता है तो गाँव के सीमित वातावरण में जनमत का ध्यान इतना प्रबल होता है कि बुरे से बुरे व्यक्ति को भी बलात् सत्य भाषण करना पड़ता है। अभी भारतीयों में दैव कोप का भय भी काफी बना हुआ है। भारत के प्रायः प्रत्येक गाव में पीपल का या कोई और पवित्र वृक्ष अवश्य ही होता है और भारतीयों का विश्वास है कि उस पेड़ की डालियों में बैठकर पत्तों का मर्मर संगीत सुनते हैं। अपराधी के हाथ में उसी पेड़ की एक पत्ती कुचल कर रख दी जाती है और वह देवता से इस बात की प्रार्थना करता है कि यदि वह सत्यके अतिरिक्त कुछ और कहता है तो देवता उसे या उसके प्रियजन को उसी भाँति कुचल दे जैसे उसके हाथ में पत्ती कुचली हुई है। इतनी शपथ उसे जो कुछ भी कहना होता है वह कहता है।

हिन्दुओं का ऐसा विश्वास है कि पीपल के पेड़ पर देवताओं का निवास होता है और सेमर पर स्थानीय देवता का निवास होता है। विशेष कर वन्य जातियाँ सेमर के पेड़ को पवित्र मानती हैं। वन्य जातियों के मन में इन स्थानीय देवताओं का अधिक भय होता है क्योंकि उनका विश्वास है कि इन देवताओं का कार्य क्षेत्र चूंकि सीमित होता है अतः वे अधिक योग्यता से उनके कार्यों को देख पाते और दण्ड विधान करते हैं। आगे चलकर स्लीमैन का कथन है कि गाँव की पंचायतों में ग्रामीणजन धर्म से भी एवम् अपने स्वभाव से भी बाधित होकर सत्य ही बोलते हैं और हमारे सामने ऐसे शतशः उदाहरण हैं जहाँ केवल तनिक-सा झूठ बोलकर अपना धन, जन या प्राण बचाये जा सकते थे, फिर भी लोगों ने असत्य का सहारा नहीं लिया। आपके देश का कोई भी न्यायाधीश क्या इस प्रकार की बात कह सकता है?

चाहे पीपल के पेड़ के नीचे हो या सेमर के, केवल देवताओं का दण्ड विधान ही या स्वयम् अपनी कल्पना ही उन्हें सत्य की ओर प्रेरित करने को पर्याप्त है। वह जानता है कि उसकी गुप्त से गुप्त बात भी ऊपर बैठा हुआ देवता जानता है और यदि उसने स्वार्थान्ध होकर असत्य भाषण करके लौकिक दण्ड विधान से बच भी गया तो दैविक दण्ड

का भागी तो उसे बनना ही पड़ेगा और यह दैविक दण्ड लौकिक दण्ड से सर्वथा भयंकर ही होता है। यदि कभी किसी भी कारण असत्य भाषण हो ही गया तो उसकी दैव भय प्रभावित कल्पना उसे क्षण भर भी शान्त नहीं रहने देती। दैविक दण्ड का भय उसे संत्रस्त किये रहता है। यदि उसके बाद स्वयम् उसे या उसके किसी प्रियजन को किसी दुर्घटना का शिकार होने का दुर्योग आ पड़ा तो उसे शतप्रतिशत यही विश्वास रहता है कि दैवेच्छा ने ही उस दुर्घटना की योजना की है। यदि कोई दुर्घटना भी हुई तो स्वयम् उसकी भयार्त कल्पना ही उसे किसी न किसी प्रकार की आपत्ति में ढकेल देती है। मैं मानता हूँ कि यह सब अन्धविश्वास ही है, परन्तु क्या ऐसा अन्धविश्वास प्रशंसनीय नहीं है ? हिन्दुओं की स्मृतियों में एक बात यह भी कही गयी है कि स्वयम् उसी के (साक्षी देने वाले के) पूर्वज स्वर्ग में बैठे रह कर यह देखते रहते हैं कि उनकी सन्तान किस प्रकार साक्षी देती है। यह भी एक प्रकार का अन्धविश्वास परन्तु प्रशंसनीय अन्धविश्वास है कि प्रत्येक हिन्दू यह मानता है कि उसके सत्य या असत्य भाषण के फलस्वरूप उनके पित्रों को स्वर्ग या नरक मे जाना पड़ता है।

कर्नल स्लीमैन ने अपने विवरण में एक ऐसे वार्तालाप की चर्चा की है जो एक अँगरेज अधिकारी तथा एक हिन्दू न्यायाधिकारी के बीच हुआ था। आप हमें अनुमति दें कि मैं उस वार्तालाप का वह अंश आप लोगों के समक्ष पढ़ूँ जो हिन्दू चरित्र से सम्बन्धित है। उक्त अँगरेज अधिकारी ने उक्त वकील स पूछा था कि—"यदि गंगा जल तथा कुरान को लेकर शपथ लेने की प्रथा को हटाकर भगवान के नाम पर पवित्र शपथ लेने की प्रथा चलायी जाय तो साक्षियो पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा ?"

उक्त हिन्दू ने उत्तर दिया "मैं अदालतों में तीस वर्षों तक वकालत कर चुका हूँ और इस बीच मुझे तीन तरह के गवाह मिले हैं। इनमें से दो प्रकार की साक्षियों पर तो इस परिवर्तन का कोई प्रभाव न पड़ेगा, परन्तु तीसरे प्रकार के लोग तो एकदम नियंत्रण विहीन हो जायेंगे।"

"आप कृपा करके यह भी बता दें कि हमारी अदालतों में उपस्थित होने वाले ये तीनों प्रकार के साक्षी कौन से हैं।"

"श्रीमान् प्रथम तो वे लोग हैं जो सदा सत्य ही कहेंगे चाहे उन्हें कुरान की, गंगा जल की या अन्य कोई शपथ दिलायी जाय या नहीं। यहाँ तक कि उनसे सत्य कहने के लिये न भी कहा जाय तो भी वे सत्य ही कहेंगे।"

"क्या आपका ख्याल है कि आप लोगों में इस प्रकार के लोगों की संख्या काफी बड़ी है ?"

"जी हाँ मेरा विचार ऐसा ही है। इस वर्ग में मैंने अनेक ऐसे मनुष्यों को पाया

है, जिन्हें कोई भी वस्तु सत्य से नहीं डिगा सकती। उनको पृथ्वी की कोई भी वस्तु या शक्ति सत्यच्युत नहीं कर सकती। आप कुछ भी कर सकते है परन्तु न तो डरवाकर और न रिश्वत देकर आप उन्हे असत्य भाषण के लिये मजबूर कर सकते हैं। वे जानबूझकर कभी या किसी भी दशा मे झूठ नहीं बोल सकते।"

"दूसरा वर्ग उन लोगों का है जो थोड़े भी उद्देश्य मे झूठ बोल सकते हैं यदि उन्हें शपथ के नियंत्रण से मुक्त कर दिया जाय। शपथ ले लेने के उपरान्त उन्हें दो भय होते हे। एक तो उन्हे भगवान का डर हो जाता है और दूसरे जनमत का।"

उसने आगे कहा कि "अभी तीन ही दिन पूर्व की बात है कि एक उच्च वर्गीया महिला से मुझे वकालतनामा लेना था, जिसके बल पर शहर की अदालत में चल रहे उसके एक मुकदमें की पैरवी करनी थी। उक्त महिला के एक भाई ने मुझे वकालतनामे पर उसका हस्ताक्षर कराके दे दिया और हस्ताक्षर की वास्तविकता प्रमाणित करने के लिये दो साक्षी मेरे सामने लाये गये। तब मैंने कहा कि 'तुम लोग जानते हो कि वह महिला पर्दे मे रहती हें और जब जज आप लोगो से पूछेगा कि क्या आप लोगों ने उक्त महिला को वकालतनामा देते हुए देखा है तब आप लोग क्या कहेंगे' उन दोनों साक्षियों ने जवाब दिया कि 'यदि जज बिना शपथ दिलाये हमसे पूछेगा, तो हम 'हां' कह देंगे, क्योंकि हम जानते हैं कि वकालतनामा पर उस महिला ने ही हस्ताक्षर किया है, परन्तु चूंकि हमने हस्ताक्षर करके आपके हाथ में कागज देते हुए नहीं देखा है अतः शपथ लेने पर हम लोग जज के समक्ष 'हां' नहीं कह सकेंगे। यदि हम लोगों ने हाथ में कुरान लेकर हां कह दिया तो समूचे नगर के लोग उंगली उठायेंगे कि हमने शपथ लेकर झूठ बोला है और हमारे अहितचिंतक सभी लोगो मे कह देंगे कि हमने गलत शपथ ली है।"

वह वकील आगे कहने लगा कि "इस वर्ग के मनुष्यों के लिये शपथ का नियंत्रण एक अटूट नियंत्रण है।"

"तीसरे वर्ग में वे मनुष्य आते हैं जो थोड़े से भी लाभ के लिये झूठ बोल देंगे चाहे उनके हाथ में कुरान या गंगा जल हो या न हो। कोई भी शक्ति उन्हें ऐसा करने से रोक नहीं सकती और ऐसे लोगों पर आपकी इस घोषणा का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा।"

"आपकी राय में आपके देश में अधिक संख्या किन लोगो की है?"

"मेरी राय में द्वितीय वर्ग के लोग अधिक है।"

"अर्थात् आपका यह मतलब है कि हमारी अदालतों में जो लोग साक्षी देने

आते हैं उनमें अधिकांश ऐसे होते हैं कि यदि उन्हें शपथ में बाध दिया जाय तो वे किसी भी दशा में झूठ नहीं बोलेंगे भले ही उन्हें बड़ा से बड़ा प्रलोभन दिया जाय।"

"जी हां"

"जिन लोगों को आपने द्वितीय वर्ग में सम्मिलित किया है अर्थात् जो लोग सबल कारण उपास्थित होने पर झूठ बोल देते हैं, क्या हमारी अदालतो में अधिकाश वे ही लोग उपस्थित होते हैं ? क्या आपका ऐसा मत है कि इन लोगों को यदि गंगा जल या कुरान की शपथ में न बाधा जाय तो अवश्य ही प्रबल कारण या उद्देश्य की उपस्थिति में अवश्य ही झूठ बोलेंगे ?"

"जी हाँ"

"क्या यह सत्य है कि उस वर्ग के लोग अधिकाश जन ग्रामीण ही होते हैं ?"

"जी हाँ"

"क्या आप यह कहना चाहते हैं कि जो लोग गंगा जल अथवा कुरान की शपथ के अभाव मे किन्तु प्रबल कारणों के उपस्थित होने पर झूठ बोल देते हैं, यदि उन्ही से उनके गॉव या समाज वालों के सामने प्रश्न पूछा जाय तो वे झूठ बोलने से इनकार कर देंगे ?"

"जी हाँ, मेरा निश्चय ही ऐसा विश्वास है। जो लोग आपकी अदालतो में झूठ बोलने में तनिक भी नहीं हिचकते, उन्हीं से यदि उनके गॉव वालों या बड़े बूढ़ों के सामने कुछ पूछा जाय तो वे अवश्य ही झूठ बोलने में लज्जित होंगे।"

"आपके कहने का तात्पर्य यह हुआ कि शहर वाले अपने परिचितों के बीच भी झूठ बोल सकते हैं, परन्तु गाँव वाले ऐसा करने में लज्जा का अनुभव करते हैं"

"जी हाँ, इस विषय में शहर वालों और गांव वालों की कोई तुलना ही नहीं हो सकती।"

"और यह भी सत्य है कि भारतीय आबादी का अधिकाश गॉवो में ही रहता है।"

"मेरा विचार है कि भारतीय जन संख्या में ग्रामीणों की संख्या की तुलना में नगर वासियों की अत्यल्प है।"

"तब आपका ऐसा विचार है कि भारतीय जन संख्या में अधिकाश ऐसे ही हैं, जिन्हें गंगा जल अथवा कुरान की शपथ दी जाय या नहीं, परन्तु वे बोलेंगे सच ही।"

"निश्चय ही मेरा ऐसा विश्वास है। वे सदैव सत्य ही कहेंगे, यदि उनसे कोई बात

उनके बड़ो या पड़ोसियों के सामने पूछी जाय या यदि उन्हें ऐसा विश्वास हो जाय कि जो कुछ वे कह रहे हैं उसका पता आज या कल उनके पड़ोसियों को चल जायगा।"

अपने हृदय की न्याय की सामान्य भावना से प्रेरित होकर ही मैंने उपरोक्त वार्तालाप को उद्धृत किया है। कर्नल स्लीमैन ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि पड़ोसियों से स्वतंत्र हो जाने पर या दूर हो जाने पर भारतीयों के सत्य भाषण पर कैसा प्रभाव पड़ता है। मेरा मुख्यतया यह विचार है कि मै आप लोगों के समक्ष भारतीयों की सत्यप्रियता का वही रूप रक्खूं जो पड़ोसियों से उन्मुक्त होने के बाद की परिस्थितियों में प्रदर्शित होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से मै भारतीय इतिहास की ईसा की एक सहस्राब्दि को अन्य समय से अलग कर देना अधिक न्यायोचित समझता हूँ।

यह सत्य है कि महमूद गजनवी के दो हजार वर्ष पहले तक के समय में बहुत थोड़े से ही विदेशी यात्रियों ने भारत भ्रमण किया था। कुछ थोड़े मे ही आलोचकों ने भारत के विषय में कुछ लिखा भी है। इतना सब होने पर भी जब कभी जिस किसी यूनानी, चीनी, फारसी या अरबी विद्वान ने भारतीयों के राष्ट्रीय-चरित्र पर लेखनी उठायी है तो उसने सदैव ही उनकी सत्य एवम् न्याय-प्रियता पर अवश्य ही कुछ न कुछ लिखा है। सभी प्रकार के लोगों की दृष्टि सर्वप्रथम भारतीयों की सत्यप्रियता और न्याय प्रियता ही पर पड़ी है।

ऐसे लेखकों में केसियस नामक यूनानी वैद्य का नाम सर्वप्रथम हमारी दृष्टि में आता है, जिन्होंने भारत एवम् भारतीयों पर लेखनी उठाया है। क्यूनाक्सा का युद्ध ४०४ वर्ष ईसा पूर्व में हुआ था और उक्त यूनानी लेखक उक्त युद्ध के समय में जीवित था। उसने फारस के दर्बार मे भारतीयों के चरित्र के विषय में जो कुछ सुना था, उसी को लेखबद्ध कर दिया है और भारतीयो के विषय में किसी विदेशी द्वारा लिखा गया यह सर्व प्रथम लेख है। उक्त लेखक ने "भारतीयों की न्यायप्रियता" नाम का एक परिच्छेद ही लिखा है।

मेगस्थनीज सिल्यूकस नाइकेटर का राजदूत था और पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) में चन्द्रगुप्त के दर्बार में रहता था। उसने लिखा है कि भारतीयों में चोरी की बात तो शायद ही कभी सुनाई पड़ती थी और सदैव ही सत्य एवम् पवित्रता को आदरणीय मानते थे।

एरियन नामक लेखक ईसा की दूसरी शताब्दी में भारतीय गुप्तचरों की चर्चा करते हुए लिखता है कि 'ये गुप्तचर यत्र-तत्र घूमते रहकर समाचार संग्रह करते रहते हैं और यदि राजा हुआ तो राजा को और यदि प्रजातंत्र हुआ तो उचित अधिकारी के पास इन समाचारों को भेजते रहते हैं। अबतक एक बार भी ऐसा नहीं हुआ है कि इन गुप्तचरों

ने कभी गलत सूचना दी हो। वास्तविकता यह है कि भारतीयों पर झूठ बोलने का अपराध लगाया ही नहीं जा सकता।'

कालक्रम में चीनी यात्री इन लेखकों के परवर्ती है। इन लोगों ने भी एक स्वर से भारतीयों की सत्यता एवम् उनके सत्साहस को प्रमाणित किया है। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसाग नामक चीनी यात्री बौद्ध साहित्य के अध्ययन के लिये भारत आया था। आइये, हम भारतीयों के विषय में उसके मत को देखें। वह लिखता है कि "यद्यपि भारतीय अत्यन्त सीधे स्वभाव के हैं फिर भी उनके चरित्र में स्पष्टवादिता एवम् ईमानदारी का अदभुत सम्मिश्रण है। जहातक धन का प्रश्न है वे कभी भी किसी भी चीज को अन्यायपूर्वक नहीं लेते। न्याय के प्रश्न पर उनकी उदारता प्रशसनीय है। उनके प्रशासन में भी सर्वत्र स्पष्टता दृष्टि गोचर होती है।

भारत के मुस्लिम विजेताओं तथा उनके पोष्य लेखकों ने भी यत्रतत्र भारतीयो के सम्बन्ध में लिखा है। इनमें से एक लेखक इद्रीसी नाम का है जिसने ग्यारहवीं सदी में भूगोल पर एक ग्रंथ लिखा है। यह लेखक भारतीयों की प्रशंसा निम्नलिखित शब्दो में करता है:—

"प्राकृतिक रूप से भारतीयों का झुकाव न्याय की ओर है और वे कभी किसी कार्य मे न्यायच्युत नहीं होते। उनका विश्वास, उनकी ईमानदारी, व स्वामिभक्ति तथा प्रतिज्ञापूर्ति सर्वज्ञात हैं। भारतीय इन गुणों में इतने आगे हैं और उनकी इस प्रकार मी ख्याति इस ढंग से चारो ओर फैली है कि प्रायः सभी देशों के लोग इस देश में आ आकर एकत्रित होते हैं।"

१३वीं शताब्दी में शम्सुद्दी अबू अब्दुल्लाह नाम का एक लेखक हुआ है। उसने अपने लेख में एक उद्धरण दिया है जो इस प्रकार है: "भारतीयों की जनसंख्या असंख्या है जैसे बालू कण। वे हिंसा और छल कपट से मुक्त हैं और न तो वे जीवन से डरते है न मृत्यु मे।"

उसी शताब्दी में हमें मार्कोपोलो भी एक साक्षी के रूप में मिलता है। ऐसा लगता है कि उसने ब्राह्मण शब्द, को (एबराईमान) लिखा है कि यद्यपि वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण लोग व्यापारी जाति के नहीं हैं तो भी वे राजाओं द्वारा बड़े-बड़े व्यापारिक कार्यों मे लगाये जा सकते थे। विशेषतया जब राज्य पर कोई संकट आ जाता था तभी वे व्यापारिक कार्यों में लगाये जाते थे। ऐसे समय का (संकट काल) विधान सामान्य कालीन विधान से सर्वथा भिन्न हुआ करता था और ऐसे समय में कितनी ही सामान्य व्यवस्थाओं के विपरीत कार्य भी किये जा सकते थे। मार्कोपोलो का कहना है कि "आप लोगो को जानना चाहिये कि ये ब्राह्मण लोग संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यापारी

होते हैं। उनकी सत्यवादिता भी प्रशंसनीय होती है। वे पृथ्वी की किसी भी वस्तु के लिये झूठ नहीं बोल सकते।"

चौदहवीं शताब्दी में फ्रायर जार्डेनस की साक्षी भी देखने योग्य है। अपने विवरण के क्रम में ही उसने वर्णय विषय से परे हटकर लिखा है कि 'दक्षिणी और पश्चिमी भारत के लोग सत्यवादी एवम् न्यायप्रिय होते हे।'

पन्द्रहवीं शताब्दी में कमालुद्दीन अब्दुर्रज्जाक समरकन्दी (जीवन काल १४१३ से १४८२) एक राजदूत के रूप में (सन १४४०-१४४५ई०) कालीकट तथा विजयनगर के राजाओं के यहाँ गया था। उसने सभी व्यापारियों को मिलने वाली सामान्य एवम् विशेष सुरक्षा की प्रशंसा की है।

सोलहवीं शताब्दी में शाहंशाह अकबर के वजीर अबुलफ़जल ने आईने अकबरी में कहा है कि "हिन्दू लोग धार्मिक, सहनशील, नम्र, प्रसन्नमुख, न्यायप्रिय, त्यागी, अपरिग्रही व्यापार एवम् व्यवहारकुशल, सत्यनिष्ठ एवम् सत्य प्रशासक कृतज्ञ तथा असीम प्रभुभक्त होते हैं तथा उनमें जो सैनिक वृत्ति में हें उन्हें यह पता भी नहीं है कि युद्ध भूमि से भागना कहते किसे हे"

वर्तमानकाल में (मैक्समूलर के समय में) मुसलमान लेखक यह मानने को तत्पर से दिखते हैं कि हिन्दुओं का हिन्दुओं के साथ जितना सौहार्द एवम् न्यायपूर्ण व्यवहार है उतना मुसलमानों का मुसलमानों के प्रति नहीं।

कर्नल स्लीमैन के ही अनुसार मीर सलामत अली एक सम्माननीय कर्मचारी था, उसने स्वयम् स्वीकार किया है कि "प्रत्येक हिन्दू अपने को इस बात का अधिकारी भी समझता है और इस कार्य में गर्व का अनुभव भी करता है कि वह किसी भी मुसलमान को अपना मित्र बनाले। बल्कि हिन्दू से उसी प्रकार का व्यवहार करने में वह उतने गर्व का अनुभव नहीं करता'। मुसलमानों में कुल मिलाकर बहत्तर फिरकों से कम नहीं है। मीर सलामत अली का ही कहना है कि इनमें से किसी भी फिरके में इतनी उदारता नहीं है कि वह पृथ्वी के किसी भी भाग के रहने वाले अपने ही फिरके या शेष इकहत्तर फिरकों में से किसी भी फिरके के किसी भी व्यक्ति को पूर्णतः विश्वासपात्र मान कर अपना मित्र बनाले। इसके विपरीत हिन्दुओं में इस सम्बन्ध में इतनी उदारता है कि वे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या जाति के किसी भी सदस्य को पूर्णतया विश्वासपात्र मानकर उसके मित्र बन सकते हैं।"

इसी प्रकार के उद्धरण अनेकानेक लेखकों एवम् उनके ग्रन्थों से दिये जा सकते हैं। हम शतशः उद्धरणों से यह प्रमाणित कर सकते हैं कि जो भी कर्मचारी पर्यटक या

लेखक हिन्दुओं के सम्पर्क में आया, वही भारतीयों के राष्ट्रीय चरित्र में निहित सत्यनिष्ठा[1] एवम् सत्य प्रियता से ही सर्व प्रथम प्रभावित हुआ और वह प्रभाव निर्विवाद रूपसे सर्वथा विस्मय की सीमा तक जा पहुँचा। प्राचीन लेखकों में से किसी ने भी उन पर असत्य प्रियता का दोष नहीं लगाया है। इस प्रकार की मान्यताएँ एक दम से निराधार तो हो ही नहीं सकतीं। उपरोक्त मान्यताएँ ऐसी तो हैं नहीं कि किसी ने देखा और लिख दिया। वास्तविकता यह है कि भारतीय चरित्र की ये मूलभूत बातें हैं जो सभी को सर्वत्र दिखायी पड़ी हैं और सभी को सर्वदा प्रभावित भी किया है। हमारे समय में भी ऐसे अनेक विदेशी हैं जो कहते हैं कि हिन्दू कभी भी झूठ नहीं बोलते। तुलना के लिये फ्रांस में पर्यटन करने वाले किसी अँगरेज लेखक को ले लीजिये तो आप पावेंगे कि उसने फ्रांसीसियों की ईमानदारी तथा सत्यनिष्ठा की शायद ही कभी प्रशंसा की हो। इसी प्रकार इंगलैण्ड के विषय में आप किसी भी फ्रांसीसी लेखक की राय पढ़िये तो उसमें शायद ही कहीं आपके लिये प्रशंसापूर्ण शब्द मिलें।

आप को इस बात पर आश्चर्य होगा कि यदि ये सभी बातें सत्य हैं तो क्या कारण है कि इंगलैण्ड में भारतीयों के विरुद्ध इतनी बातें कही जाती हैं। आप को ऐसा कोई भी कारण नहीं मिलेगा, जिससे अँगरेज लोग भारतीयों की अनेक बातों को सहते है, उन्हें संरक्षण प्रदान करते हैं, कि किन्तु उनका कभी भी विश्वास नहीं करते और नहीं उनसे कभी समानता का व्यवहार करते हैं।

कुछ कारणों पर तो मैं पहले ही प्रकाश डाल चुका हूँ। हमारे देश में भारत एवम् भारतीयों के विषय में जो भी और जैसा भी जनमत बनता है, उसका आधार होता

---

[1] हिन्दुओं की धर्मनिष्ठा एवम् सत्यता की प्रशंसा करते हुए एक पुर्तगाली लेखक ने लिखा है कि "हिन्दू धर्म का आचार-निर्णयकारी प्रभाव इतना विशाल था कि केवल उच्चवर्ण के लोग ही नहीं वरन् निम्नतम जाति के लोग भी शास्त्रोपदिष्ट युद्ध की सूक्ष्मतम् परम्पराओं का पालन करते हुए पाये जाते थे। रात को लड़ना अथवा छिपकर आक्रमण करना वे जानते ही नहीं थे। हिन्दू लोग सच्चे वीर थे, तभी तो शत्रुके प्रति उनमे लेशमात्र भी वैर नहीं रहता था और तभी तो वे युद्ध के बाद एक ही घाट पर स्नान करते और एक दूसरे को पान सुपारी देते थे।"

"दिये हुए वचन के प्रति समान्यतम् हिन्दू सैनिक के हृदय में इतना आदर था कि जब भी किसी युद्धवन्दी को प्रतिज्ञाबद्ध करके छोड़ा जाता था और वह नियतद्रव्य की व्यवस्था न कर पाता तो वह नियत समय के भीतर ही पुन वन्दी बनने के लिये आ जाता था। वचन भगकी अपकीर्ति को वे मरण से भी बुरा समझते थे। सत्यनिष्ठा के प्रति पूरी सावधानी का अभाव तथा शत्रु की किसी प्रतिकूल परिस्थिति से लाभ उठा-लेना हिन्दुओं मे सर्वथा निन्दनीय समझा जाता था" अनुवादक

है वह मत, जो हमारे देश के लोग कलकत्ता, बम्बई, मद्रास या अन्य किसी बड़े नगर के भारतीयों को देख, सुन या समझ कर स्थिर करते हैं। हम सभी को यह जानना चाहिये कि भारतीय नगरों के निवासियों में भारतीय चरित्र की वास्तविक बातें शायद ही देखने को मिलती हैं। भारत एक विशाल देश है। उसकी जनसंख्या भी उसी अनुपात में बड़ी है और इस जनसंख्या का सर्वाधिक बड़ा भाग गाँवों में ही रहता है। अतः भारतीय चरित्र को समझने के लिये हमें भारत के गाँवों एवम् ग्रामीणों को देखना चाहिये न कि नगरों और उनके निवासियों को। नगरों में रहने वालों में भी कुछ सम्माननीय परिवार हो सकते हैं, परन्तु उनके घरेलू जीवन के बारे में कुछ जान पाना हमारे देश के लोगों के लिये यदि असम्भव नहीं तो दुर्लभ तो अवश्य ही है। यदि किसी प्रकार ऐसे परिवारों की घरेलू बातों का हमें पता भी चल जाय तो हमें चाहिये कि हम उनकी बातों का निर्णय उन्हीं के मानदण्ड के अनुसार करें मगर हम उनके उचितानुचित का विचार करने लगते हैं अपने मानदण्डों के अनुसार। हम सब जानते हैं कि अच्छे बुरे का विचार करने का मानदण्ड सभी देशों एवम् जातियों में एक सा नहीं है। देशकाल एवम् स्थिति के अनुसार ये मानदण्ड सदैव ही बदलते रहते हैं। शिष्टाचार सौजन्य एवम् सभ्यता के भी मानदण्ड विभिन्न होते हैं। एक देश के मानदण्ड से दूसरे देश की सभ्यता, सज्जनता, एवम् शिष्टता का विचार करने से जो भी भ्रान्ति सम्भव हो सकती है, हम इंगलैण्ड निवासी भारतीयों के विषय में उसी भ्रान्ति के शिकार हैं। जब हम हिन्दुओं की ऐसी बातें सुनते हैं जो हमारे मानदण्ड के सर्वथा विपरीत होती हैं तो हम छी-छी करने लगते हैं। हम भूल जाते हैं कि हिन्दुओं की जिन मान्यताओं एवम् धारणाओं के कारण हम उन्हें निकृष्ट मानते हैं, उन्हीं में से कितनी ही उनकी उच्चता का प्रमाण देती हैं। अपने अविवेक में फँस कर हम उनके गुणों को भी दुर्गुण के रूप में देखने लगते हैं और इस प्रकार एक ऐसे भ्रान्त पथ पर चल पड़ते हैं जिसका न ओर मिलता है न छोर। रास्ते के आवश्यक मोड़ों को छोड़ते हुए केवल आगे ही बढ़ते जाने को हम अपना लक्ष्य बना लेते हैं।

मुझे भय है कि कहीं आप लोगों को ऐसा न प्रतीत होने लगे कि मैं भारत एवम् भारतीयता की आवश्यकता से अधिक वकालत कर रहा हूँ और भारत के राष्ट्रीय चरित्र के विषय में उचित-मतनिर्माण-पथ में अनावश्यक कठिनाइयाँ उपस्थित कर रहा हूँ, इस लिये आप अपनी दृष्टि भारतीय नागरिक-प्रशासन के एक ख्यातनामा अधिकारी माउण्ट स्टुअर्ट एलफिंस्टन की ओर फेरें जिन्होंने 'भारत का इतिहास' लिखा है। उनका कहना है कि "भारत में रहने वाले अँगरेजों को इस बात का बहुत ही कम अवसर मिलता है कि वे देशी लोगों के चरित्र के विषय में कोई मत स्थिर कर सकें। इंग्लैण्ड में भी लोग प्रायः अपने वर्ग के लोगों के बाहर की जनता के विषय में कुछ अधिक नहीं जानते। यदि हम कुछ जानते भी हैं तो उस जानकारी के आधार होते हैं हमारे समाचार पत्र या

कुछ पुस्तकें, जो उनका विवरण प्रस्तुत करती हैं। मुझे यह कहने में तनिक भी हिचक नहीं है कि भारत में ऐसे साहित्य का नितान्त अभाव है। भारत के निवासियों में यदि हम घुलना-मिलना भी चाहें तो हमारी सामाजिक स्थिति एवम् हमारा धर्म बाधा स्वरूप खड़े हो जाते हैं। ऐसी दशा में हम उनके विषय में कोई मत स्थिर कर ही नहीं सकते। भारतीय परिवारों के विषय में हम यदि कुछ जानते भी हैं तो उसका आधार होती है वे सूचनाएँ जो हमें समय-समय पर अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा दी जाती हैं। भारतीय चरित्र की श्रेष्ठता के किसी भी अंग का इन सूचनाओं में तो समावेश हो ही नहीं सकता।" विभिन्न सम्प्रदायों के जो धार्मिक संगठन भारत में कार्य करते हैं वे भी भारतीय चारित्र्य के उत्तम अंगों की जानकारी प्राप्त नहीं कर पाते, फिर न्यायाधिकारी, पुलिस मैजिस्ट्रेट, लगान विभाग के अधिकारी या कूटनीतिक विभाग के अधिकारी की तो बात ही क्या है। वे तो उक्त चारित्र्य का अल्पांश भी नहीं जान पाते। यदि कभी जान भी पाते हैं तो उनकी जानकारी उनकी दूषित मनोवृत्ति या वैयक्तिक स्वार्थ से प्रभावित हो जाती है। ऊपर से अपनी जानकारी का निर्णय वे अपने मानदण्ड से करते हैं। हम प्रायः इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जो व्यक्ति जरा-जरा सी बात पर रोने चिल्लाने लगता है उससे हम किसी भी प्रकार की कष्ट सहनशीलता एवम् सम्माननीय प्रतिक्रिया की आशा ही नहीं कर सकते या हम यह सोच लेते हैं कि जो व्यक्ति अपने को असत्य भाषी कहे जाने का अधिकारी बना लेता है वह किसी भी बुरे काम या बुराई से परे नहीं हो सकता, और न ही वह किसी भी प्रकार की बुराई से लज्जित ही हो सकता है। प्रायः हमारे लेखक देश और काल का विवेक नहीं रखते। वे मराठों और बंगालियों को एक ही डंडे से हाकते हैं और महाभारत कालीन नायकों की बुराइयों को वर्तमान काल के व्यक्तियों में आरोपित करते हैं। यह तर्क दिया जा सकता है और इस तर्क से भारतीयों की प्रशंसा के अनेक प्रमाणों को सारहीन कहा जा सकता है कि—"जो लोग भारतीयों के बीच जितने ही अधिक दिनों तक रहे हैं, उनका मत उतना ही सत्य के अधिक निकट होगा किन्तु यह तर्क मानव प्रकृति की परिभाषा देता है न कि भारतीयों के विषय में स्थिर किये गये मतों की। उससे अधिक मान्य बात तो यह है कि भारत से लौटे हुए अधिकारियों ने जब अधिक सुसभ्य और अधिक सुसंस्कृत जातियों के लोगों को देखा परखा तो उन्होंने भारतीयों को ही उत्तम माना।"

हिन्दुओं के विषय में हममें अनेक भ्रान्त एवम विपरीत धारणाएँ तो बद्धमूल हो ही गयी हैं, परन्तु उससे भी अधिक असाधारण बात यह है कि कुछेक विपरीत प्रचारकों के आधार पर हम उन्हीं विपरीत धारणाओं पर पूर्ण मनोयोग से चलते जा रहे हैं और उन अनेकानेक भारतीय नागरिक प्रशासन के कर्मचारियों, अधिकारियों, राजनीतिज्ञों तथा

उच्च अधिकार युक्त लेखकों द्वारा लिखी गयी बातों को भी भुला देते हैं, जिन्होंने उन विपरीत प्रचारकों की प्रत्येक बात का पूर्णतया खण्डन कर दिया है और जिन्होने बार-बार हिन्दू चारित्र्य के विपरीत कही गयी बातों को भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। इस स्थल पर भी मैं उन लोगो में से कुछेक ऐसे उद्धरण देना पसन्द करूँगा, जो इन भ्रान्त धारणाओं की निरर्थकता सिद्ध कर देते है।

हिन्दुओं का सामान्य विवरण देते हुए वारेन हेस्टिंग्ज ने कहा है कि—"वे सीधे और उपकारक होते है, यदि उनके साथ कुछ दयालुता की गयी तो वे उसके प्रति पूर्ण कृतज्ञ[1] होते है और यदि उनके साथ कोई कुछ बुराई भी कर देता है तो जिस प्रकार वे लोग उन बुराइयों के प्रति क्षमाभाव प्रदर्शित कर देते है, वैसा पृथ्वीतल के किसी भी देश का निवासी नहीं कर सकता। वे स्वामिभक्त, प्रेमी तथा वैधानिक अधिकारियों के आज्ञापालक होते हैं।"

इसी विषय पर लिखते हुए बिशप हेबर का कहना है कि—"हिन्दू[2] लोग बहादुर, शिष्टाचारी बुद्धिमान, जिज्ञासु तथा सुधार प्रेमी होते है। उनमें गम्भीरता, अध्यवसाय, कर्तव्यनिष्ठा, पितृ प्रेम वात्सल्य, धैर्य ऊँचे पैमाने पर होते है। दयालुता का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि आप उनकी आवश्यकताओं एवम् भावनाओं को समझें तो वे बड़े ही प्रभावित होते है। उपरोक्त सभी गुणों मे वे पृथ्वी के उन सभी मनुष्यों मे बढ़े हुए हैं, जिन्हें जानने सुनने का अवसर मुझे मेरे सारे जीवन में मिला है।"

एलफिंस्टन का भी ऐसा ही कथन है—"हिन्दुओं में किसी भी वर्ग में ऐसे गिरे हुए लोग नहीं होते, जैसे गिरे हुए लोग हमारे नगरों में होते है। भारत के ग्रामीण निरपवाद

---

[1]भारतीयो के आचार का विवरण देते हुए चीनी यात्री ह्वेनसाग लिखता है कि "भारतीयो के प्रति सेवा का कोई भी कार्य कर देने वाला व्यक्ति उनकी कृतज्ञता का सदा विश्वास कर सकता है, परन्तु उनका अपराध करने वाला उनके प्रतिशोध से बच भी नहीं सकता। उनका अपमान करने पर वे अपना कलक मिटाने के लिये प्राणों की बाजी लगा देते है। यदि कोई कष्ट मे पडा हो और हिन्दुस्तानी से सहायता मांगे तो वे अपने आपको भी भूल कर उसकी सहायता के लिये दौड पडते है। जब वे प्रतिशोध लेना चाहते हैं तो वे विरोधी को सचेत कर देने से चूकते नहीं। युद्ध में भागने वालो का वे पीछा तो करते हैं, परन्तु शरणागत की रक्षा अपना मुख्य धर्म समझते हैं"

[2]हिन्दुओ के विषय मे श्री क्रिडल की धारणा भी स्मरणीय है "हिन्दुओ के चरित्र की निष्कपटता तथा उनकी ईमानदारी उनकी मुख्य पहचान है। वे कभी भी अनीति युक्त वचन नहीं बोलते।"

इसी विषय मे बर्नार्डशा को भी देखें, "भारतीयो की मुखाकृति मे जीवन के प्रकृत-रूप का दर्शन होता है। हम तो कृत्रिमता का आवरण ओढ़े हुए हैं। भारतीय मुखमण्डल की सुकुमार रेखाओ मे ही कर्ता के करागुष्ठ की छाप दिखायी पडती है।" —अनुवादक

रूप से सौहार्द्र पूर्ण होते हैं, अपने परिवार के प्रति प्रेम भाव रखने वाले होते हैं, अपने पड़ोसियो के प्रति दयालु बने रहना उनकी विशेषता है तथा सरकार को छोड़ कर शेष सबके प्रति ईमानदार और सच्चे होते हैं। यदि भारतीय ठगों और डाकुओं को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो भी भारत में कुल मिलाकर उतने जुर्म नहीं होते, जितने हमारे छोटे से देश में (इंग्लैण्ड में) होते हैं। ठगों की तो एक अलग जाति ही है। न्याय से निराश होकर कुछ लोग डाकूदल भी बना लेते है। अन्यथा सामान्य रूप से हिन्दू जन नम्र और सज्जन प्रकृति के लोग हैं। बन्दियों के प्रति जितनी दया माया भारतीयों मे है, उतनी एशिया महादेश के किसी भी जाति में नहीं है। वे सामूहिक रूप से अनीति एवम् अनाचार से दूर रहते हैं और उनका यह गुण उनके लिये बड़ा सुविधा-जनक होता है। यदि हम उनके शिष्टाचार की उच्चता को समझ सकें तो हमें अपने में कोई ऐसा शिष्टाचार न दिखायी पड़ेगा, जिस पर हम गर्व कर सकें।"

आप लोग यह न समझ लें कि एलफिंस्टन ने भोट की तरह भारतीयों की प्रशंसा ही की है। इसके विपरीत यत्र-तत्र उसने भारतीयो की बुराइयो की कड़ी निन्दा भी की है। आगे चल कर उसने लिखा है कि—"इस समय भारतीयो में ईमानदारी की काफी कमी आ गयी है "परन्तु यह बुराई उन्हीं लोगों तक सीमित है कि जो हमारी सरकार से सम्बन्धित हैं। भारत में लगान निर्धारण एवम् वसूली की जो पद्धति है उसमें विवश होकर किसानों को शक्ति का सामना छल प्रपंच से करना ही पड़ता है।"

सर जान मालकम लिखता है कि "जब कभी भी ऐसा अवसर आया है कि देशी लोगों से कोई बात ठीक-ठीक ढंग से उन्हीं की भाषा में सुपरिचित अधिकारी द्वारा पूछी गयी है तो हमेशा ही यही पता चला है कि भारतीयों ने या तो भय के कारण असत्य भाषण किया है या बेसमझी के कारण। मैं यह कहना तो नहीं चाहूँगा कि भारतीय प्रजा में अपने समान स्तर के किसी भी देश की प्रजा से कम बुराई है, परन्तु मुझे पूर्ण निश्चय हे कि वे असत्य भाषण का सहारा लेने में किसी भी जाति से आगे नहीं हैं।"

सर थामस मनरो द्वारा दी गयी साक्षी तो और भी सशक्त है। वे लिखते हैं कि "यदि खेती की उत्तम प्रणाली, उत्पादन का अद्वितीय गुण, सुविधाजनक तथा आरामदे वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता पढ़ना, लिखना एवम् प्रारम्भिक गणित सिखाने के लिये गाँव-गाँव में खुली पाठशालाएँ, आपस का सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार एवम् उदारतापूर्ण अतिथि सत्कार और सबसे बढ़कर नारी जाति का सम्मान,[1] जिसमें आत्म विश्वास, आदर और

[1] आज के मिथ्या प्रचारक चाहे जो कह लें परन्तु आज भी भारत की नारियो को जो सम्मान प्राप्त है वह अन्य कहीं भी दुर्लभ है। हमारा आदर्श ही यह रहा कि—"एक चक्रोरथो यद्वदेकपक्षो यथा खग । आभर्योऽपि नास्तद्वदयोग्य सर्व कर्मसु ॥१॥

नम्रता का सम्मिश्रण हो, इत्यादि गुणों में भी कोई जाति सभ्य कही जा सकती है, तो हिन्दू लोग किसी भी यूरोपीय जाति से कम सभ्य नहीं हैं। यदि यूरोप और भारत के बीच सभ्यता का व्यापारिक रूप से आयात निर्यात होना सम्भव हो तो मुझे विश्वास है कि भारत से यूरोप को बहुत कुछ आयात करना पड़ेगा। यही दशा हमारे देश इंगलैंड की भी होगी।"

यह सत्य है कि भारतीयों के राष्ट्रगत चरित्र का ज्ञान प्राप्त करने के सीमित अवसर ही मुझे मिल सके हैं। सम्भव है कि जिन भारतीय सज्जनों से मिलने का अवसर मुझे मिल सका है, उन्हें आप विशिष्ट श्रेणी के व्यक्ति मानकर यह कहें कि भारत के सभी लोग इस प्रकार के नहीं होते। यह भी सत्य है कि उन सज्जनों से मेरा जो वार्तालाप हुआ है, उसमें उनके चरित्र का अवाञ्छनीय पक्ष मेरी दृष्टि में न आया हो। परन्तु पिछले बीस वर्षों में अनेक भारतीय छात्रों को देखने परखने के अवसर मुझे मिले हैं और मेरा विश्वास है कि उन अवसरों पर उनके चरित्र की त्रुटियों को भाँप सकना मेरे लिये सर्वथा सम्भव रहा है। साहित्यिक आदान-प्रदानों में विशेष कर साहित्यिक विरोधों में अनेक भारतीय विद्वानों एवम् छात्रों से मेरा संसर्ग हुआ है। मैंने उन्हें तब भी परखा है जब वे आपस में ही एक दूसरे का विरोध कर रहे थे और उस समय भी उन्हें परखा है जब उनका मत किसी यूरोपीय विद्वान के मत के विपरीत जा पड़ा है। इन सभी विरोध वार्ताओं में संलग्न भारतीयों को देखकर मैं यह कहने को बाध्य हूँ कि केवल एक बार को छोड़ कर प्रत्येक बार भारतीयों ने सत्य के प्रति जो समादर प्रदर्शित किया है वह हमारे योरप तथा अमेरिका में सदा और सर्वत्र नहीं दिखायी पड़ता। उनके तर्कों में शक्ति थी पर असभ्यता नहीं? वास्तविकता तो यह है कि मुझे सर्वाधिक आश्चर्य तब हुआ जब मैंने देखा कि वे विद्वान् भारतीय संस्कृत के उन विद्वानों को देखकर स्वयम् विस्मय विमूढ़ हो उठे जो शास्त्रार्थ काल में असंयत भाषा का व्यवहार करने लगते थे या जब कभी उत्तेजित हो उठते थे, क्योंकि उनके विचार से असंयत भाषा न केवल अयोग्य पैत्रिकता का ही लक्षण होती है वरन् अज्ञान का भी। मानव प्रकृति के विषय में भारतीयों का ऐसा ही दृष्टिकोण है। वाद-विवाद में जब भी उनको पता चल जाता कि उनका पक्ष गलत है तो वे झट अपनी कमजोरी को स्वीकार कर लेते थे साथ ही यदि उन्हें निश्चय रहे कि उनका पक्ष न्यायसंगत है तो वे किसी भी यूरोपीय या अमेरिकी विरोधी की पर्वाह नहीं करते थे। कुछ अपवादों को

यद्गृहे रमते नारी, लक्ष्मीस्तद्गृहवासिनी। देवता कोटिशो वत्स, न त्यजन्ति गृहं हि तत् ॥२॥ गर्ग

जैसे एक चक्र का रथ तथा एक पंख का पक्षी है वैसे बिना भार्या का पुरुष सभी कार्यों के लिये अयोग्य है ॥१॥

जिस घर में सद्गुण सम्पन्ना नारी सुखपूर्वक रहती है, उस घर में लक्ष्मी निवास करती है। हे वत्स करोड़ों देवता भी उस घर को नहीं छोड़ सकते ॥२॥ —अनुवादक

छोड़कर कभी भी किसी भारतीय ने सत्यपक्ष को नहीं छोड़ा, व्यर्थ का वाद विवाद नहीं किया और न कभी असत्य को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया। आज हमीं में ऐसे भी विद्वान हैं, ऐसे भी पुस्तक प्रकाशक हैं जो किसी बात को जानते हैं कि वह असत्य है, फिर भी केवल दलीलों के बल पर या उसे ही सत्य सिद्ध करके गर्व से सीना फुलाये घूमते हैं। उस क्षेत्र में भी हम भारत से बहुत कुछ आयात कर सकते हैं।

इसी स्थान पर मैं भी इतना जोड़ दूं कि स्वयम् हमारे ही देश के अनेक बड़े व्यापारियों ने मुझसे कहा है कि भारतीय व्यापारियों में व्यापारिक सम्मान की भावना अत्यधिक ऊँची होती है और शायद ही कभी कोई हुंडी ऐसी हो जिसका भुगतान पूरी इमानदारी के साथ तुरन्त न कर दिया गया हो। उनका कहना है कि जाली हुंडियों का वहाँ पर नाम ही नहीं है।

जान बूझ कर मैंने कुछ प्रमाणों को अन्त के लिये छोड़ रक्खा है, क्योंकि मुझे भय था कि कहीं आप उन प्रमाणों को शंकास्पद न समझ लें। ये प्रमाण स्वयम् हिन्दुओं के ही हैं। आप उनके पूरे साहित्य को देख जाइये। उसमें सर्वत्र आपको जितने भी विवरण मिलेंगे, उन सबमें सत्यनिष्ठा एवम् सत्यप्रेम ही सर्वोपरि दिखायी पड़ेंगे।[1] सत्य के

---

[1] पाठको की जानकारी के लिये कुछ उदाहरण देना अप्रासगिक नहीं होगा।—

अ—'शुद्ध पूता भवत यज्ञियास' शुद्ध और पवित्र बनो, परोपकारी हो।
ऋग्वेद (५-५१-१)

'सुगा ऋतस्य पंथा 'सत्य का मार्ग सुख से गमन करने योग्य है। ऋग्वेद (८-३१-१३)

'ऋतस्य पन्था न तरन्तिदुष्कृत', दुष्कर्मी सत्य मार्ग को पार नहीं कर पाते।
ऋग्वेद (९-७३-६)

आ—यजुर्वेद—'अहमनृता, सत्यमुपैमि,' मैं झूठ से बचकर सत्य को धारण करता हू।(१-५)

'ऋतस्य यथा प्रेत' सत्य के मार्ग पर चलो। (७।४५)

इ—अथर्ववेद—'सनोमुचत्वहस', वह हमें पाप से मुक्त करे। (४।२३।१)

मानोदिक्षत कश्चन,' हमसे कोई भी द्वेष न करे। (१२।१।२४)

ई—सत्यमेवेश्वरो लोके, सत्ये धर्म सदाश्रृत
सत्य मूलानि सर्वाणिसत्यान्नास्ति पर यदम्।।
दत्तमिष्टम् हुतम चैव तप्तानि च तपांसिच
वेदा सत्य प्रतिष्ठानास्तमात् सत्य मेव भवेत्

जगत मे सत्य ही ईश्वर है, धर्म सत्य पर ही आश्रित है। सत्य ही सर्वमूल है। सत्य से आगे कोई शक्ति नहीं है। दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद उन सबका आश्रय सत्य ही है अत सत्य परायण होना चाहिये।

(श्री बाल्मीकीय रामायण अयोध्या काड १०९।१३।१४) —अनुवादक

लिये उनके साहित्य मे जो शब्द प्रयुक्त हुआ है वही अर्थगर्भित है। उन्होने उसे सत् या असत्य कहा है। सत् शब्द अस धातु से बना है जिसके अर्थ होते हैं 'होना'। इस प्रकार सत्य शब्द का अर्थ हुआ 'जो है' अँगरेजी भाषा का सूथ (Sooth) शब्द इसी सत् से सम्बन्धित है। लैटिन भाषा का सेंस (Sens) शब्द भी उसी सत् से सम्बन्धित है।

हम सभी का ऐसा विश्वास है कि 'सत्य' वही होता है, जिसे अधिकाश जन सत्य कहते है या बहुमत को जिसके सत्य होने का विश्वास होता है। इस प्रकार के सत्य को हम सरलता से स्वीकार कर लेते है परन्तु ऐसा भी समय आता है जब एक सत्य कहने वाला ऐसे अनेक व्यक्तियों के बीच मे पड जाता है जिनके मस्तिष्क में भ्रान्त धारणाएँ बद्धमूल रहती हैं। वे अपनी भ्रान्त धारणाओं पर इतना दृढ विश्वास रखते है कि वास्तविक सत्य को न केवल स्वीकार ही नहीं करते वरन् उलट कर सत्य का ही विरोध करने लगते हैं और अन्त मे सत्य भाषी के ऊपर ही उनका क्रोध उमड पड़ता है। ऐसे सत्यभाषी चाहे गैलोलियो हो या डारविन, कालेंजो हो या स्टैनली, या चाहे अन्य कोई भी हो। जरा उनकी उस समय की प्रसन्नता का अनुमान लगाइये, जब वे अपने अन्तरतम् मे किसी वास्तविक सत्य का स्पष्ट आभाष पा लेते है, जब वे जान लेते है कि 'यही सत्य है' भले ही दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्र, पादरी, पुरोहित या विद्वान उस सत्य का विरोध करते हों।

संस्कृत साहित्य में सत्य शब्द के लिये दूसरा शब्द प्रयुक्त होता है 'ऋत्'। ऐसा प्रतीत होता है कि 'ऋत्' का वास्तविक अर्थ होता है, सीधा, प्रत्यक्ष और इसका विपरीतार्थक शब्द होता है अनृत्, जिसका अर्थ होता है 'असत्य या झूठ'।

वेदों में देवताओं की जो सबसे अधिक प्रशंसा की गयी है, वह यही है कि 'वे सत्य है,[1] सत् हैं, सत्यपूर्ण है, विश्वसनीय है'। इस बात को सभी जानते है और सभी

1—'ऋतम् च सत्यम् चाभीद्धातपसोऽध्यजायत' ऋतसूक्त (१०।१९०) उग्र तपस्या से सत्य प्रकट हुआ।

'सत्यम् बृहदृतमुग्रम् दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथ्वीम् धारयन्ति' अर्थात् ऋत्, सत्य, बृहत्, तप, उग्र, ब्रह्म और यज्ञ ही पृथ्वी के आधार हैं। पृथ्वीसूक्त (अथर्व १२ काण्ड)

'कामस्तग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथमम् यदासीत्। सतोबन्धुमसतिनिरबिन्दन हृदिप्रतिष्या कवयो मनीषा' (ऋग्वेद १०।१२९।४) नासदीयसूक्त सृष्टि रचना के पूर्व प्रभु ने संकल्प किया। प्राचीन कर्मराशि ही बीजरूप थी। विचार करने से असत् में ही सत् का साक्षात्कार हुआ।

*अव्याकृत कारण *जगत्

—अनुवादक

इस बात से सहमत हैं कि मनुष्य उन सभी गुणों को ईश्वर में या अपने देवताओं में आरोपित करता है जो उसकी समझ में सर्वोच्च या सर्वाधिक स्तुत्य होते हैं।

देवताओं के लिये जो दूसरा शब्द प्रयोग में आता है, वह अद्रुघ, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'धोका न देने वाला। अद्रुघ वाक् का अर्थ होता है वह, जिसका वचन कभी भी भंग नहीं होता'। इस प्रकार इन्द्र की स्तुति इन शब्दों में की गयी है कि 'वह हमारे शत्रुओं तक पहुँचे, उन्हें पराजित करे, वह सर्वोपरि है, सत्यभाषी है तथा अपने विचारों में सर्वाधिक सशक्त है।'

इसके विपरीत द्रुघवाक् शब्द का प्रयोग उन व्यक्तियों के अर्थ में होता है जो कपटाचारी होते हैं। वशिष्ठ एक महान् वैदिक कवि थे। वे कहते है कि 'यदि हमने अवास्तविक देवों की उपासना की हो, या यदि देवताओं मे हमारा विश्वास झूठा हो तभी हे जातवेदस्, तुम्हे मुझसे रुष्ट होना चाहिये अन्यथा नहीं। झूट बोलने वालों का नाश हो।

जब सत्यम् नपुसंक लिंगीय भावाचक सज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है तब और केवल तभी हम उसके अर्थ मे अँगरेजी के ट्रुथ (truth) शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु संस्कृत भाषा का 'सत्यम्' इससे भी अधिक अर्थ प्रगट करता है। इसका अर्थ होता है 'वह, जो है, जो वास्तव में है, जो वास्तव है'। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर 'सत्यम्' का प्रयोग इस भाँति हुआ है कि अँगरेजी 'ट्रुथ' शब्द उस अर्थ को प्रगट करने में अक्षम हो जाता है। ऐसे स्थलों पर 'सत्यम्' का अर्थ वहन करने के लिये 'दि ट्रुथ' (the truth) का प्रयोग करना चाहिये। यदि हम 'सत्येन उत्तभिता भूमि' का अनुवाद करना चाहें तो हम कह सकते हैं कि 'पृथ्वी सत्य पर ही आधारित है' (The earth is founded on truth)। मेरा विश्वास है कि प्रत्येक अनुवादक 'सत्यम्' को उपरोक्त अर्थ में ही ग्रहण करता है। लुडविग ने वास्तव में ऐसा ही अनुवाद किया भी है। अति प्राचीन काल के प्रारम्भिक कवियों के लिये 'सत्यम्' शब्द का ऐसा सारगभित अर्थ ग्रहण करना अवश्य ही सुदुष्कर हुआ होगा। अतः 'सत्येन उत्तभिता भूमिः' कह कर उन्होंने केवल यही प्रगट किया होगा कि जैसा कि हम देखते हैं, यह पृथ्वी रुकी हुई है किसी वास्तविक आधार पर, यद्यपि हम उस वास्तविक आधार को देख नहीं सकते'। इसी अदृश्य पर वास्तविक आधार को आगे चल कर उन्होंने 'ऋतु' कहा, 'ब्रह्म' कहा, और कितने ही अन्य नामों से पुकारा।

वास्तविकता यह है कि जहाँ सत्य के लिये इतना सम्मान होगा, वहाँ असत्य से उद्भूत अपराध के प्रति भी लोगो ने अवश्य विचार किया होगा या कम से कम इस प्रकार के अपराध की अनुभूति भी लोगों को अवश्य हुई होगी। इसीलिये एक वैदिक

ऋषि ने प्रार्थना की है कि 'जल उनको शुद्ध करे और उनके सभी पातकों तथा असत्य को बहा ले जाय'।

'हे जल, मुझमें जो भी बुराइयाँ हों, जहाँ कहीं भी हमने किसी को धोखा दिया हो या किसी को अभिशाप दिया हो या असत्य भाषण किया हो, उन सबको बहा ले जाओ'।

फिर अथर्ववेद ४।१६ में एक वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि 'हे देव तुम्हारा पाश उन लोगों को पकड़ ले, जो झूठ बोलते हैं परन्तु उन लोगों को छोड़ दे, जो सत्यभाषी हो।'

मैं चाहूँगा कि इस स्थल पर प्रसिद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कुछ उद्धरण दूँ।

'जो सत्य बोलता है वह अपनी ही वेदी पर प्रज्वलित अग्नि में मानो घृताहुति देता है। उसका स्वयम् का प्रकाश (ज्ञान) दिनानुदिन बढ़ता जाता है और उसका भविष्य सदैव ही वर्तमान से सुन्दर होता है, परन्तु जो असत्य भाषण करता है, वह अपनी वेदी की अग्नि को बुझा देता है, मानो उस पर शीतल जल डाल देता है। उसका स्वयम् का प्रकाश (ज्ञान) दिनोदिन क्षीण होता जाता है और उसका भविष्य सदैव ही वर्तमान की तुलना में असुन्दर होता जाता है। अतः मनुष्य को सदा सत्य ही बोलना चाहिये।[1]

आगे चल कर फिर कहा है कि "असत्य भाषण से मनुष्य अपवित्र हो जाता है"

फिर कहा गया है "जैसे किसी गड्ढे के आर-पार रक्खी गयी तलवार के धार पर चलने वाला व्यक्ति निरन्तर इस भय से त्रस्त रहता है कि कहीं वह छिटक कर गड्ढे में न गिर पड़े, वैसे ही मनुष्य को सदा सचेष्ट रहना चाहिये कि कहीं वह सत्यच्युत होकर असत्य-पंक में न फँस जाय, क्योंकि असत्य ही पाप है"।

कालान्तर में हम देखते हैं कि हिन्दुओं का सत्य के प्रति सम्मान एवम् उनकी सत्यनिष्ठा उस सीमा तक बढ़ गयी कि अनिच्छा पूर्वक या भावना रहित रूप से की गयी प्रतिज्ञा भी उनको बाधित करने लगी थी। कठोपनिषद् में एक कथा है कि—"एक ब्राह्मण ने सर्व-हुत् यज्ञ किया। उस यज्ञ का यह विधान है कि इसमें मनुष्य के पास जो कुछ भी रहता है वह सब दान में दे दिया जाता है। यज्ञ की समाप्ति पर स्वयम् उसके पुत्र ने कहा कि ब्राह्मण ने कुछ रख लिया है अतः उसका यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ। पिता ने पुत्र से पूछा कि आखिर कौन सी ऐसी वस्तु शेष रह गयी जिसे दान में नहीं दिया गया। पुत्र ने कहा "एक तो अभी मैं ही बँचा हूँ।" पिता स्तम्भित हो उठा। यद्यपि यज्ञ का सकल्प करते समय पुत्र बलिदान की भावना उसके मन में नहीं थी फिर भी पुत्र का बलिदान करने के लिये उसने अपने को बाधित समझा और उसका भी बलिदान दे दिया। बलि

[1] 'असतो मा सद्गमय' का उपदेश इसीलिये किया गया है।

के बाद वह पुत्र यमराज के पास पहुचा। यम ने प्रसन्न होकर उसे तीन वर माँगने को कहा। पुत्र ने एक वरदान में अपना जीवन माँगा, दूसरे में बलिदान के रहस्यों का ज्ञान माँगा तथा तीसरे वरदान में यह माँगा कि उसे यह ज्ञान हो जाय कि मृत्यु के पश्चात् क्या होता है। यमराज ने तीसरा वर देने से टालमटोल करना चाहा, परन्तु वे भी तो प्रतिज्ञा से बँधे हुए थे। उसके बाद दोनों में मृत्यु और जीवन पर अनेक प्रकार की वार्ताएँ हुईं जिनका संस्कृत के प्राचीन साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान है।[1]

रामायण का समूचा महाकाव्य ही दशरथ की प्रतिज्ञा पर आधारित है, जिन्होंने प्राण दे दिया, परन्तु प्रतिज्ञा नहीं तोड़ा। राम को वन भेजने में दशरथ को मर्मान्तक पीड़ा हुई थी, परन्तु वचन भंग का दोष उन्होंने अपने ऊपर नहीं लगने दिया। दशरथ की मृत्यु के बाद भरत ने भी गद्दी पर बैठना स्वीकार नहीं किया और राम को लौटाना चाहा, परन्तु राम भी पिता के वचन को कैसे तोड़ते। इस अवसर पर राम और जाबालि नामक ब्राह्मण की वार्ता के कुछ अंशों को उद्धृत करने के लोभ का मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

वह ब्राह्मण पुरोहित भी थे और सभासद् भी। उन्होंने रघुवंशी कह कर राम को सम्बोधित किया और कहा "हे राम आप रघुवंशियों में श्रेष्ठ हैं। आपके मनोभाव सज्जनोचित ह। आपका चरित्र पवित्र है आप इस प्रकार के व्यर्थ विचारों में क्यों पड़ते हैं ? क्या यहाँ कोई किसी का सम्बन्धी या कुटुम्बी है ? क्या यहाँ पर कोई किसी का पुत्र, पिता या भाई है ? मनुष्य अकेला पैदा होता है और अकेला मरता है। अतः यहाँ पर जो कोई किसी को माता, पिता या बन्धु कहता है वह अज्ञानी है, क्योंकि कोई किसी का कुछ नहीं है। अतः आपको अपने पिता का राज्य छोड़कर इस प्रकार का दुःखपूर्ण जीवन नहीं बिताना चाहिये, जिसमें आपको अनेक परीक्षाओं का सामना करना पड़ेगा। आप समृद्धिपूर्ण अयोध्या के राजा बनें। आपके पिता दशरथ वास्तव में आपके कोई नहीं थे और न आप उनके कोई थे। राजा कुछ और थे और आप कुछ और हैं। इसलिये आप वही करें, जो करने को आपको कहा जाता है। तब निश्चित दिनों को आप अपने पित्रों को तिलोदक दें, परन्तु यह भी जान लें कि यह सब अन्न की बरबादी ही है, क्योंकि मृतमनुष्य कुछ नहीं खा सकता। यदि यहाँ एक आदमी का खाया हुआ वहाँ पर मृत पुरुष के पेट में जाता है तो पर्यटकों के लिये भी उनके घर वालों को श्राद्ध-दान दे देना चाहिये, जिससे पर्यटन काल में वे खाने-पीने के झंझट से मुक्त रहें। ये वेद केवल ग्रन्थ मात्र हैं, जो मनुष्यों को त्याग, तपस्या, योग एवम् दान का उपदेश देते हैं। ये चतुर लोगों द्वारा इसलिये रचे गये हैं कि वे और उनकी सन्तानें बिना श्रम के ही

---

[1] शायद लेखक का तात्पर्य नासिकेतोपाख्यान से है। —अनुवादक

अपनी जीवन यात्रा पूरी कर सकें। आर्ष वचन कहीं स्वर्ग से नहीं आते। आप केवल उसे ही स्वीकार करें, जो तर्कों के प्रकाश में ठीक जान पड़ता हो। आप उसे ही ठीक मानें जिसका अनुभव आपकी इन्द्रियों कर सकें। जो कुछ भी अनुभवगम्य नहीं है, उसे आप त्याग दें। ... 'इहलोक ही परलोक है अतः जो कुछ भी मिल सके उसका आनन्द यहीं पर उठा लेना चाहिये, क्योंकि ये विलास की वस्तुएं प्रत्येक शुद्धात्मा को नहीं मिला करतीं। प्रायः पवित्रात्माओं को अत्यधिक कष्ट सहने पड़ते हैं तथा पातकी लोग इस लोक में प्रायः सुख-भोग करते दिखायी पड़ते हैं।''

ये भौतिकवादी मनोभाव विचित्र अवश्य दिखायी पड़ते हैं। उनकी विचित्रता तब और भी बढ़ जाती है जब ये एक ब्राह्मण के मुख से निकलते हैं। यहां पर कवि ने एक ऐसे सभासद् का चित्रण किया है, जिसके पास प्रत्येक बात का एक तर्क होता है और जिसकी प्रत्येक बात राजा को प्रसन्न करने के लिये होती है।

उपरोक्त बातों का राम ने जो उत्तर दिया है तनिक उसे भी देखिये। राम ने कहा[1] ''आपने जो कुछ मेरे लिये कहा है, वह उचित भी है और आदरणीय भी परन्तु वास्तव में यह आपकी बातों के विपरीत ही पड़ता है। जो पातकी जन सनातन नियमों के विपरीत आचरण करता है, उसे इस लोक में प्रतिष्ठा नहीं मिलती। मनुष्य के सत् और असत् कार्य ही उसे भला या बुरा, वीर या कायर, पवित्रात्मा या अपवित्रात्मा बनाते हैं। राजनीति में राजा के कार्यों में सत्य[2] तथा दयालुता ही स्मरणीय बनाते हैं। अतः सत्य ही राजा के कार्यों की कसौटी है। सत्य ही संसार का आधार है। सन्तों ने और देवताओं ने सत्य की स्तुति की है। राजा के लिये सत्य ही सर्वाधिक पूजनीय है। जो व्यक्ति इहलोक में सत्य बोलता है उसे सर्वोच्च और शाश्वत पद प्राप्त होता है। असत्यभाषी व्यक्ति से मनुष्य उसी प्रकार दूर हट जाते हैं जैसे साँप से। इहलोक की अच्छाइयों में सत्य ही मुख्य तत्व है। सत्य ही प्रत्येक वस्तु का आधार है। सत्य ही संसार का प्रभु है। पवित्रता सत्य पर आधारित रहती है। प्रत्येक पदार्थ की आधारशिला सत्य ही है, सत्य से उच्च कुछ भी नहीं है। तब मैं सत्य से पराङ्मुख क्यों बनूँ और अपने पिता जी की सत्यता

---

[1] ''लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वाहिमम् त्यजेत्। अतीयात् सागरोवेला न प्रतिज्ञामहम् पितुः'' वाल्मीकि रामायण लक्ष्मी चन्द्रमा को हिमवान दिन को छोड़ दे, समुद्र की मर्यादा टूट जाय पर मैं पिता की प्रतिज्ञा भंग न होने दूँगा।

[2] देखिये वाल्मीकि रामायण ''सत्य मेवा नृशस च राजं वृत्तम सनातनम्। तस्मात् सत्यात्मकम् राज्यम् सत्ये लोक प्रतिष्ठित''। हिंसारहित सत्य ही राजा का सनातन धर्म है। राज्य सत्यात्मक है सत्य में ही जगत् प्रतिष्ठित है।

—अनुवादक

की रक्षा क्यों न करूँ । न तो कौशल से, न धोखे से और न अज्ञानता से मैं सत्य के दुर्ग को तोड़ूगा। मैं अपने पिता द्वारा की गयी सत्य प्रतिज्ञा का अवश्य ही पालन करूँगा । मैंने वन में इसी भाँति रहने की प्रतिज्ञा अपने पिता के सामने की है, तब फिर मैं उस प्रतिज्ञा को तोड़ कर भरत की कही हुई बात को कैसे मान लूँ ?''

महाभारत भारत का दूसरा महाकाव्य है । इस महाकाव्य में अनेक ऐसे उपाख्यान हैं, जिनमें सत्य को ही सर्वोच्च सम्मान दिया गया है और जिनमें तत्कालीन पुरुष दिये हुए वचन के प्रति दास्यभाव सा रखते हुए दिखायी पड़ते हैं। महाभारत में भीष्म की मृत्यु एक महत्वपूर्ण घटना है। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि वे कभी भी किसी स्त्री पर आघात न करेंगे । वे शिखंडी को स्त्री मानते थे और उसका सामना होने पर वे शस्त्र रख कर मृत्यु को आवाहित कर लेते हैं।

यदि मैं स्मृतियों से उद्धरण देना प्रारम्भ करूँ या और भी परवर्ती ग्रन्थों से उद्धरण दूं तो आप देखेंगे कि उन तमाम उद्धरणों में निरपवाद रूप से सत्य की ही प्रतिष्ठा की गयी होगी।

मैं इस सत्य को दबाना नहीं चाहता कि भारत में ही कुछ परिस्थितियों में असत्य-भाषण की अनुमति दी गयी है। स्मृतिकारों ने कितनी ही परिस्थितियों में इसे क्षम्य माना है। इसी प्रकार की व्यवस्था देते हुए गौतम का कथन है कि "क्रोध के वशीभूत जन द्वारा किया गया असत्य भाषण या अत्याधिक आनन्द के उद्वेग में कहा गया असत्य, भय, पीड़ा या दुःखावेग में बोला गया झूठ, बच्चों, वृद्धों या भ्रमित मनुष्यों द्वारा कहा गया असत् वचन' मद्यपों या पागलों का झूठ अपने कर्ता को पतनशील नहीं बनाते। हम यों भी कह सकते है कि उपरोक्त परिस्थितियों में असत्य भाषण क्षम्य अपराधों की श्रेणी में रक्खा जाता है।"

यद्यपि अभी उपरोक्त सूची काफी बड़ी है, फिर भी आप देखेंगे कि उस सूची को तैयार करने में पर्याप्त ईमानदारी से काम लिया गया है। महाभारत में अनेक बार इन अपवादों का सहारा लिया गया है। महाभारत में कौशिक का प्रख्यात उपाख्यान है। कौशिक एक सत्यवादी के रूप में प्रख्यात थे, परन्तु एक बार सत्य भाषण के परिणाम स्वरूप ही उन्हें नरक वास करना पड़ा। बात यह हुई कि एक बार कौशिक एक जंगल से होकर कहीं जा रहे थे। रास्ते में कुछ व्यक्ति मिले, जो डाकुओं के भय से भागे आ रहे थे। भागते हुए वे एक ओर को निकल गये। उनके जाते ही डाकू भी आ पहुँचे और कौशिक से पूछने लगे कि वे व्यक्ति किधर गये। कौशिक ने उन्हें सही मार्ग बता दिया और डाकुओं ने उन सभी को पकड़ कर मार डाला। इस सत्य भाषण के परिणामस्वरूप उन्हें नरक में वास करना पड़ा।

यह बात सभी जानते है कि हिन्दुओं के समूचे जीवन पर पुरोहितों का अधिकार है। उनका समस्त जीवन यज्ञों और बलिदानों में ही बीतता है। इस प्रकार की बातों में हिन्दुओं की दृढ़ आस्था को सभी लोग जानते हे, फिर भी महाभारत के गायक ने इस प्रकार कहने का साहस किया है।

'यदि तराजू के एक पलड़े पर सहस्र अश्वमेध यज्ञ का फल रख कर दूसरे पर केवल सत्य भाषण का फल रख दिया जाय तो सत्य[1] भाषण-फल का पलड़ा सदा ही भारी रहेगा'

दुष्यन्त का दरबार लगा है। शकुन्तला खड़ी है। राजा ने उसे अपनी पत्नी मानने एवम् गर्भस्थ शिशु को अपना मानने से इनकार कर दिया है। तनिक इस अवसर पर शकुन्तला की सुनिये। राजा ने उसकी प्रार्थना सुनने से भी इनकार कर दिया है। तब हार कर उसने किससे प्रार्थना की। उसने सर्वोच्च सत्ता से ही प्रार्थना की और वह सर्वोच्च सत्ता क्या थी ? वह थी 'आत्मध्वनि', आत्मा की ध्वनि'।

शकुन्तला ने कहा, 'हे राजा, यदि आप सोचते हे कि मैं अकेली हूँ तो आप अन्तर्गत के महापुरुष को नही जान पाये ह। वह आपके प्रत्येक बुरे कार्य को देखता परखता है। उसी के दृष्टि-पथ म आप बुरा कार्य कर रहे ह। दुष्कर्मा जानता है कि उसके दुष्कर्म को कोई नहीं देखता परन्तु देवता सब कुछ देखते ह, अन्तर्तम म बसा हुआ पुरातन पुरुष सब कुछ देखता है'।

मेरा विचार है कि इतने उद्धरण पर्याप्त हैं। एक बार मैं फिर से कह देना चाहता हूं कि मेरी यह इच्छा कदापि नहीं है कि मैं भारत के करोड़ों व्यक्तियों को करोड़ो देवदूतों के रूप में आपके समक्ष चित्रित करूँ, परन्तु मेरी ऐसी इच्छा अवश्य ही है कि करोड़ों भारतीयों के ऊपर असत्य भाषण का जो आरोप लगा दिया गया है वह निराधार है, इतना आप अवश्य समझ लें। यह केवल सत्य ही नहीं है वरन सत्य के एकदम विपरीत भी है। जहाँ तक १००० ई० के बाद की बात है, वहाँ तक तो मैं ऐसा ही कहूँगा। यदि आप किसी बालक को डरा दें तो वह अवश्य ही झूठ बोलने लगेगा। इसी प्रकार यदि

[1] महाभारत शान्ति पर्व में सत्यकी महिमा सुनिये —

धर्मं सनातनस्सत्यम, सत्यम् ब्रह्म सनातन।

वेदो यस्योपनिवत्सत्यम्, सत्यस्योप्य निषिद्दम ॥

दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम। सत्य सनातन धर्म है, सत्य सनातन ब्रह्म है, सत्य वेदों का रहस्य है, सत्य का रहस्य संयम है और संयम से ही मोक्ष है।

—अनुवादक

आप करोड़ों व्यक्तियों के समूह को भय त्रस्त कर दें तो वह अवश्य ही आपके फन्दों से बचने के लिये असत्य का सहारा लेगा। सत्यता एक विलास की भावना है और शायद विलास की सर्वाधिक बड़ी सामग्री है। आप लोग विश्वास करें सत्यता सर्वाधिक व्ययशील सामग्री है। भाग्यवान् है वह व्यक्ति, जो बाल्यावस्था से सत्यता का उपभोग करने का अवसर पाता रहे। हमारे जैसे समय में और इगलैण्ड जैसे स्वतंत्र देश में सत्य का ही सहारा लेना बहुत कुछ सरल है। इस समय और इस देश में असत्य का सहारा न लेने से भी हमारा काम चल सकता है, परन्तु ज्यों ज्यों हमारी अवस्था बढ़ती जाती है, त्यों त्यों सत्य भाषण की कठिनाइयाँ बढ़ती जाती हैं, त्यों त्यों हम 'केवल सत्य और सत्य के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं' कहने की कठिनाइयों को समझते जाते हैं। इस सत्य को भी हिन्दुओं ने हृदयंगम कर लिया था। वे भी जान गये थे कि, सत्य, केवल सत्य, पूर्ण सत्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहना कितना कठिन है, किस प्रकार असम्भव के समीप है। सत्यथ ब्राह्मण मे एक छोटी सी कथा है। मेरे विचार से वह कथा बड़ी ही सारगर्भा है और उसमे सत्य की वास्तविक भावना है और सत्य-भाषण की कठिनाइयों का उसमें पूर्ण दिग्दर्शन है। आरुण औपवेशी से उसके परिवार वालों ने कहा 'आपकी अवस्था काफी अधिक हो गयी है अतः आप वलि-अग्नि की स्थापना करें'। उसने उत्तर दिया 'इस प्रकार तुम लोगों की इच्छा है कि मैं मौन व्रत धारण कर लू। क्योंकि अग्निस्थापना करने वालो को सदा सत्य ही बोलना चाहिये और मैं यह भली भाति जानता हूँ कि सत्य केवल मत्य और मत्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहना कितना कठिन है। इससे तो अच्छा है कि मैं मौन व्रत ही धारण करलू। 'अग्निस्थापना का कोई फल नहीं है यदि असत्य[1] भाषण से न बचा जाय'।

मुझे सन्देह है कि संसार के किसी भी देश के प्राचीन साहित्य में सत्य केवल सत्य और सत्य के अतिरिक्त और अन्य कुछ नहीं कहने की कठिनाइयों को इतनी सुन्दर अभिव्यंजना की गयी है। हमारे भी देश में एक कहावत है, जिसका अर्थ है कि मौन सोना है और भाषण चाँदी' (Silence is gold and speech is silver) परन्तु यह कहावत में भी सत्य भाषण की कठिनाइयों की उतनी सुन्दर अभिव्यंजना नहीं है।

---

[1] ससार में क्या कभी किसी राजा ने इस प्रकार की घोषणा की है जैसे छान्दोग्य के अश्वपति ने की थी —

'न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यप
नाना हिताग्निर्ना, विद्वान न स्वैरी स्वैरिणी कुत '

मेरे समस्त जनपद मे एक भी चोर, कजूस, शराबी, अग्निहोत्र न करने वाला अविद्वान और व्यभिचारिणी हो ही कैसे सकती है। —अनुवादक

मै यह समझता हूँ कि आने वाले कुछ महीनों के बाद ही आप लाखों भारतीयों के भाग्य विधाता बनेंगे। अतः मैं चाहता हूँ कि वहाँ जाने के पूर्व उन भ्रान्त धारणाओं को आपके मस्तिष्क से हटा दूँ जो निरन्तर बढती रहकर उन्मादावस्था को पहुँच सकती है। राष्ट्रीय दुर्भावनाएँ सदैव ही पागलपन की ओर ले जाती है। मुझे स्वदेश वासियों मे ऐसे व्यक्ति मिले है जो सभी प्रकार से मुझसे उच्च है। यदि आप भारत में भी ऐसे व्यक्ति खोजेंगे तो आपको मिलेंगे। यदि आपको उन व्यक्तियों से निराशा हो तो तत्क्षण ही आप उज्वल चमड़ी वाले किसी ऐसे स्वदेशवासी का स्मरण करें, जिस पर पहले आप विश्वास कर सकते थे परन्तु अब नही कर सकते। अन्तर्राष्ट्रीय निर्णयों में हम सभी गलती कर सकते है। अभी पिछले ही दिनों किसी एक पत्रिका में एक उच्च राजनैतिक व्यक्ति के निम्नलिखित शब्दों को पढने का संयोग मुझे मिला है:—

'हमारा अनुभव ही हमें सिखा सकता है कि नैतिकता विहीन जाति के लोगों को सर्वाधिक आश्चर्यजनक प्रतीत होती है मानवों की वह जाति, जिसके शब्दों में पूर्ण विश्वास रक्खा जा सकता है।' देशी लोग नैतिकता को छोड़कर और किसी बात मे हम से पीछे नहीं है। हमें चाहिये कि हम उन्हें चारित्रिक दृढ़ता की शिक्षा दे न कि साहित्य और विज्ञान की'।

यदि आप इन भावनाओं के साथ हिन्दुओं के पास जायेंगे तो न तो आप उन्हें चारित्रिक दृढ़ता ही सिखा सकेंगे और न विज्ञान या साहित्य ही। वे स्वयम् अपनी स्मृतियों की ओर झुकेंगे, वे अपने ही साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करेंगे और हमें कम से कम एक पाठ तो अवश्य ही सिखा सकेंगे और वह पाठ होगा सत्यता का, अपने प्रति सत्यता का। इसी को दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते है कि इस पाठ को पढ़ कर हम स्वयम् अपने को ही उनसे छोटा मानने लगेंगे।

याज्ञवल्क्य ने क्या कहा है?

"यह हमारा धर्म नहीं है, और न ही यह हमारा चमड़ा है जो हमको पवित्र बना देता है। वास्तव में पवित्रता की साधना करनी पड़ती है। अतः किसी भी किसी को प्रति ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये जो वह स्वयम् अपने प्रति दूसरों द्वारा किया जाना पसन्द नहीं करता"—

तनिक मनुस्मृति को भी देखिये, जिसकी इतनी अधिक बुराई किए जाने की है। उसकी शिक्षा पर ध्यान दीजिये: "बुरा काम करने वाले समझते है कि उनकी बुराई को कोई नहीं देखता परन्तु देवताओं से कुछ नहीं छिपा है और सबसे बढ़ कर तो हम स्वयम् ही (आत्मा ही) अपने कार्यों को देखते रहते हैं"

"अहम् ही अहम् का साक्षी है अहम् ही अहम् का शरणास्थल है, अहम् से घृणा न करो क्योंकि वही हमारे भले बुरे को देखता रहता है"

'हे मित्र, यदि तुम सोचते हो कि तुम अकेले हो तो स्मरण रक्खो कि वह सर्वोत्तम मौन विचारक (महान् अहम्) तुम्हारे भीतर ही है। तुम्हारा अन्तर्तम ही उसका निवास है। वही इस बात को निर्देशित करता है कि कौन कार्य भला है और कौन कार्य बुरा है'।

'हे मित्र यदि तुम समूचे जीवन में एक बार भी असत् का आश्रय ग्रहण करते हो तो जन्म से लेकर असत्-आश्रय-काल तक सभी पुण्य कार्यों का फल नष्ट हो जाता है'।

इसी विषय में वशिष्ठ को भी देखना प्रासंगिक ही होगा :

'पवित्रता की साधना करो न कि अपवित्रता की, सत्य बोलो न कि असत्य, दूरदर्शी बनो न कि अन्यथा, सर्वोच्च को ही लक्ष्य बनाओ न कि निम्नतम् को।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत में नैतिकता की कमी है परन्तु समूचे संसार में ऐसा देश कहाँ है जहा नैतिकता का ही साम्राज्य है ? मेरा विश्वास है कि नैतिकता के आधार पर यदि संसार के सभी देशों का सर्वेक्षण किया जाय तो परिणाम देख कर अनेक सभ्य देश के निवासी लज्जा से सर झुका लेंगे। हम लोगों को यह भी न भूलना चाहिये कि विभिन्न देशों में नैतिकला के विभिन्न आदर्श हैं और उनके मापदण्ड भी विभिन्न हैं। विशेष कर भारत वालों की नैतिकता का आदर्श अन्य सभी देशों से भिन्न हैं। हमको इस बात पर भी आश्चर्य नहीं होना चाहिये यदि पिता के समय के नैतिक आदर्श पुत्र के समय में उपहासजनक हो जायँ। आज का उचित कल अनुचित हो सकता है। अपने देश-वासियों का विचार करते समय हम अपने देशवासियों के नैतिक आदर्श को आधार बना सकते हैं, परन्तु अन्य देश वासियों का विचार करते समय हमें उसी देश के आदर्शों को आधार बनाना चाहिये न कि अपने देश के आदर्शों को। हम चाहे इतिहासकार हों या राजनैतिक व्यक्ति, हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि दयालुता कभी किसी को हानिप्रद नहीं हो सकती। भारत में अंगरेजी साम्राज्य के लिये सर्वाधिक घातक बात यही होगी कि हमारे युवक, हमारे देश के लोग भारत में यह समझ कर पहुँचें कि हम नैतिकता विहीन गर्त में जा रहे हैं, या झूठों के घोंसले में जा रहे हैं। मेरा विश्वास है कि 'प्रत्येक मनुष्य झूठा है' ऐसा कहने वाला व्यक्ति अवश्य ही भ्रमपूर्ण रास्ते पर चल रहा होगा। किसी भी देश के सामूहिक या वैयक्तिक जीवन पर इतना बड़ा आघात नहीं करना चाहिये।

तृतीय भाषण

संस्कृत साहित्य का मानव पक्ष

अपने प्रथम भाषण में मैंने यह प्रयत्न किया कि हमारे देश के उन लोगों की भ्रान्त धारणा दूर हो जाय, जो यह समझ बैठे हैं कि भारत आज भी अपरिचित है और आगे भी अपरिचित ही बना रह जायगा या जो यह मान बैठे हैं कि जिन लोगों को भारत में लम्बे समय के लिये रहना पड़ेगा वे उस जीवन धारा और विचार धारा से सर्वथा अलग जा पड़ेंगे, जिसकी आधारशिला पर वे इंग्लैण्ड में या योरप के अन्य देशों में जीवन यापन कर रहे हैं।

अपने द्वितीय भाषण में एक दूसरी मान्यता को हटाने का प्रयत्न किया था। हम लोगों ने मान लिया है कि जिन हिन्दुओं के साथ हमारे भारतीय नागरिक-प्रशासन के अधिकारियों के जीवन का स्वर्णकाल बीतेगा, उनकी जाति सर्वप्रकारेण नैतिकताविहीन है, सत्य के लिये उनके हृदयों में इतना कम सम्मान है, कि वे सदा सर्वदा हमारे लिये विदेशी ही बने रहेंगे और उनके संग किसी प्रकार का सहअस्तित्व या सौहार्द सम्भव ही नहीं है। इसी मान्यता को दूर करने का प्रयत्न मैंने किया था।

आज हम तीसरी भ्रान्त मान्यता को हटाने की दिशा में सोचेंगे। यह तीसरी धारणा यह है कि 'भारत का साहित्य, विशेषतया संस्कृत साहित्य भले ही विद्वानों एवम् पुरातत्व प्रेमियों के लिये रुचिपूर्ण हो, परन्तु हमारे लिये उसमें रुचिपूर्ण सामग्री का पूर्ण अभाव है, उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जो हमें अन्यत्र से न मिल सके और युवक प्रशासनाधिकारियों के लिये तो वह बहुत ही कम काम की है।' हम सोचने लगे हैं कि यदि हम हिन्दुस्तानी या तामिल भाषा में अपने मनोभावों को प्रगट कर सकते हैं, तो हमारा काम चल जायगा, कितनों का तो ऐसा विचार है कि चूंकि उन्हें भारत के सामान्य व्यक्तियों से ही काम पड़ेगा, अतः उन्हें सांसारिक व्यक्ति बन कर सांसारिक व्यवहार की बातों का ही ध्यान रखना पड़ेगा और यदि कहीं वे अपने को विद्वान् बनाने या शोधात्मक कार्यों में लगा देंगे तो उनकी कठिनाइयां बढ़ेगी ही, घटेंगी नहीं।

मेरा मत इसके विपरीत है। जिस किसी भी युवक को भारत में रहने का लाभप्रद आनन्द उठाना हो, उसे मैं यही राय दूंगा कि वह संस्कृत पढ़े और अच्छी तरह पढ़े। इस पढ़ने से उसका तो भला होगा ही उसके देश वासियों का भी भला होगा।

मैं जानता हूं कि मेरी राय के जवाब में यह कहा जायगा कि आज के युग में इस साहित्य को पढ कर क्या होगा। आप कहेंगे कि संस्कृत मृत भाषा है। आप पूछेंगे कि क्या आज का हिन्दू भी अपने प्राचीन साहित्य को देख कर लज्जित नहीं होता? क्या वे स्वयम् अँगरेजी नहीं पढ़ते और क्या वे अपने प्राचीन कवियों एवम् दार्शनिकों की तुलना में लाक, ह्यूम और मिल का अधिक समादर नहीं करते?

यह सत्य है कि एक प्रकार से विचार करने पर संस्कृत को मृत भाषा कहा जा सकता है। मेरा विश्वास है कि आज से दो हजार वर्ष पहले ही संस्कृत मृतभाषा हो चुकी थी। ५०० वर्ष ईसा पूर्व में ही महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को आदेश दिया था कि वे संस्कृत के बदले जनभाषा में ही उपदेश दें। ईसा पूर्व को तीसरी शताब्दी में सम्राट् अशोक ने अपनी आज्ञाओं को शिलाओं और लाठों पर जनपदीय भाषाओं में ही अंकित कराया था ताकि प्रत्येक प्रान्त के लोग उन्हें पढ़ और समझ सकें। ये शिलालेख उत्तर में काबुल से दक्षिण में मैसूर तक और पश्चिम में गुजरात से, पूर्व में उड़ीसा तक फैले हुए थे। ये विभिन्न जनपदीय भाषाएँ संस्कृत से उतनी ही भिन्न थीं, जितनी भिन्न लैटिन भाषा इटालनी (इटली की) भाषा से हैं। अतः ऐसा मानने का पर्याप्त कारण है कि यदि अधिक पहले नहीं तो कम से कम ईसा पूर्व की तीसरी शताब्दी में संस्कृत भाषा का सामान्य जनों द्वारा बोला जाना बन्द हो चुका था।

चुल्ल बग्ग में एक मनोरंजक विवरण दिया गया है, जिसमें महात्मा बुद्ध के कुछ ब्राह्मण शिष्यों ने उनसे शिकायत की कि सामान्य जन अपनी भाषा में उनके उपदेशों का स्वरूप बिगाड़ देते हैं, शब्दों का ठीक से उच्चारण नहीं करते और समूचा उपदेश विकृत हो जाता है। उन्होंने प्रस्तावित किया कि क्यों न बुद्ध के उपदेशों को संस्कृत में कर दिया जाय, परन्तु महात्मा बुद्ध ने उस प्रस्ताव को मानने से इनकार कर दिया और आदेश दिया कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी सुविधा दी जानी चाहिये कि वह उनके उपदेशों को अपनी ही भाषा में ग्रहण करे।

ए हार्डी ने 'मैनुअल आफ बुद्धिज्म' नामक ग्रन्थ में एक अनुच्छेद का उद्धरण दिया है, जिससे हमको पता चलता है कि जिस समय महात्मा बुद्ध अपना प्रथम उपदेश दे रहे थे तो श्रोताओं की संख्या अत्यधिक थी, परन्तु प्रत्येक श्रोता यही समझ रहा था कि समूचा भाषण उसी की जनपदीय भाषा में दिया जा रहा था जब कि तथ्य यह था कि महात्मा मागधी भाषा में भाषण दे रहे थे।

इन सभी बातों से प्रमाणित होता है कि ईसा पूर्व की तीसरी शताब्दी में ही जन-भाषा के रूप में संस्कृत का प्रचलन बन्द हो चुका था।

फिर भी भारत के अतीत और वर्तमान मे इतना तारतम्य है कि यद्यपि अनेक क्रांतियां हुईं, अनेक धार्मिक सुधार हुए और अनेकानेक विदेशियों के आक्रमण हुए, परन्तु आज भी हम कह सकते हैं कि संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जो आज भी उस विशाल देश के एक कोने से दूसरे कोने तक बोली और समझी जाती है।

यद्यपि बौद्ध धर्मावलम्बी राजाओं ने अपनी आज्ञाओं एवम् उपदेशों को जनपदीय भाषाओं मे प्रचारित किया, परन्तु आज दिन भी जनता के अनेक प्रकार के कागजात तथा अधिकारियों के अनेक प्रपत्र संस्कृत भाषा में ही लिखे जाते हैं। यद्यपि बौद्धो एवम् जैनियों के उपदेशों का संग्रह जनपदीय भाषाओं मे ही रक्खा गया, फिर भी भारत का साहित्य उसी संस्कृत में लिखा गया जिसकी व्यवस्था पाणिनि ने दी थी। आप कालिदास तथा अन्य तत्कालीन कवियों की कृतियों का अवलोकन करें तो आप देखेंगे कि उनमें सामान्य जनों एवम् स्त्रियों के मुख से प्राकृत भाषा मे ही सब कुछ कहलवाया गया है, परन्तु उन कृतियों के विशिष्ट पात्र निरपवाद रूप से संस्कृत मे ही बोलते हुए चित्रित किये गये हैं। इस बात के ऐतिहासिक महत्व की ओर से आप आँखें नहीं मूंद सकते।

आज जब कि एक शताब्दी से भारत में अंगरेजों का शासन चल रहा है तथा इतने ही दिनों से वहा अंगरेजी की पढ़ाई हो रही है, फिर भी मेरा विश्वास है कि आज भी जिस प्रकार संस्कृत भाषा भारत में बोली और समझी जाती है, उस प्रकार दाँते कालीन योरप में लैटिन भाषा कभी भी और कहीं भी बोली और समझी नहीं जाती थी।

जब भी किसी भारतीय विद्वान का कोई पत्र मेरे पास आता है तो वह संस्कृत में लिखा गया होता है। जब भी किसी धार्मिक या वैधानिक मामले में किसी प्रकार का विवाद उठ खड़ा होता है तो पक्ष विपक्ष के लोग संस्कृत में ही अपना मन्तव्य प्रकाशित कराते हैं। आज भी भारत में कुछ पत्रिकाएँ ऐसी हैं, जो संस्कृत में प्रकाशित होती हैं और उन्हें वे लोग पढ़ते हैं जो संस्कृत को सभी अन्य देशी भाषाओं से उत्तम मानते हैं। बनारस से एक पत्रिका 'पंडित' नाम से प्रकाशित होती है, जिसमें न केवल प्राचीन ग्रन्थों का ही समावेश होता है वरन् इंगलैण्ड तथा अन्य देशों में प्रकाशित होने वाले साहित्य पर टीका टिप्पणी भी रहती है और यह समूची पत्रिका संस्कृत में ही छपती है।

बनारस से ही एक दूसरी पत्रिका का 'पुराकामानन्दिनी' नाम की संस्कृत में ही निकलती है जिसमें बहुमूल्य सामग्री रहती है। विद्योदय नाम की एक संस्कृत पत्रिका कलकत्ता से भी निकलती है। इसमें यदा कदा महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित होती है। और भी अनेक पत्रिकाएँ होंगी, जिनका मुझे ज्ञान नहीं है।

बम्बई से भी एक क्रमिक मासिक पत्रिका श्री मोरेश्वर कुंठे जी निकालते हैं, जिसका नाम है 'षड्दर्शन चिन्तनिका। "इस पत्रिका में प्राचीन दार्शनिकों की कृतियाँ

प्रकाशित हुआ करती हैं। उन पर टीका टिप्पणी भी प्रकाशित होती है। इस पत्रिका का मराठी और अँगरेजी अनुवाद भी प्रकाशित होता है।

ऋग्वेद भारतीय वाङ्मय की सर्वाधिक प्राचीन कृति है। इसके भी दोहरे संस्करण प्रकाश में आ रहे है, एक बम्बई से तथा दूसरा प्रयाग से। पहले में मूल की संस्कृत टीका तथा उसका मराठी एवम् अँगरेजी अनुवाद रहता है और दूसरे में संस्कृत में ही मूल का पूरा स्पष्टार्थ दिया रहता है साथ ही हिन्दी में उसकी व्याख्या भी दी हुई रहती है। ये ग्रन्थ पाठको के चन्दे से प्रकाशित हो रहे हैं और इस प्रकार के चन्दा देने वालों की सूची काफी बड़ी है।

भारत की देशी भाषाओं तथा बंगाली, मराठी या हिन्दी में भी अनेक पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। उनमें भी यत्र-तत्र संस्कृत के लेख निकलते रहते हैं। उदाहरण रूप में बनारस से निकलने वाली 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' तथा कलकत्ता से निकलने वाली 'तत्त्वबोधिनी' के साथ अन्य कई नाम भी लिये जा सकते हैं।

अभी पिछले ही दिन मैंने केशव चन्द्र सेन के दल की पत्रिका 'लिबरल' में एक लेख पढ़ा है जिसमें नदिया के वेद ज्ञानी ब्रह्मव्रत समाध्यायी तथा बम्बई विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विद्वान (M. A) काशी नाथ त्र्यम्बक तैलंग की भेंट का विवरण प्रकाशित हुआ था। एक व्यक्ति पूर्व का था और दूसरा पश्चिम का, परन्तु दोनों ने अति सुविधा पूर्वक संस्कृत में वार्तालाप किया था।

संस्कृत ग्रन्थों की संख्या तो और भी असाधारण हैं। ये ग्रन्थ देशी मुद्रणालयों से ही प्रकाशित हुए हैं और आज भी होते रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों की माग अत्यधिक है, क्योंकि जब भी मैंने प्रकाशन तिथि के एक दो वर्ष बाद इन ग्रन्थों को मंगाना चाहा तो पता चला कि उनके संस्करण समाप्त हो गये हैं। भारत में ही इतने अधिक संस्कृत ग्रन्थों का खप जाना यह सिद्ध करता है कि भारत के लिये संस्कृत एक मृत भाषा नहीं है। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि इंग्लैण्ड में ऐंग्लो सेक्सन ग्रन्थों की एवम् इटली में लैटिन ग्रन्थों की दशा इस प्रकार की कदापि नहीं है।

इतना ही नहीं, सुनने में तो यह आता है कि अब भी भारत के मन्दिरों में रामायण, महाभारत एवम् पुराणों का नियमित पाठ होता रहता है और कोटि-कोटि दर्शनार्थी इनसे लाभ उठाते रहते हैं। गाँवों में भी इन कथावाचकों के चतुर्दिग् श्रोताओं की एक भीड़ सी लग जाती है और कथा श्रवण काल में श्रोता जन रससे सराबोर हो उठते हैं। आज भी राम के वनवास से प्रत्यावर्तन के समय प्रत्येक हिन्दू नाना प्रकार की साजसज्जा से उत्सव मनाता है। कहते हैं कि पूर्ण महाभारत के पाठ में नब्बे दिन लगते हैं या कभी-कभी तो छः मास भी लग जाते हैं। बाहरी लोग कह सकते हैं कि ये कथा-

वाचक व्यास और वाल्मीक को क्या समझ पावेंगे, परन्तु मेरा विश्वास है कि ये कथा-वाचक अवश्य ही उन्हें समझ पाते होंगे, अन्यथा उनकी वाणी में इतना रस कहाँ से आता।

यद्यपि वैदिक अध्ययन को प्रोत्साहन देने वाला किसी प्रकार का लोभ भारत में सहस्राब्दियों से नहीं है, फिर भी आज दिन भी भारत में ऐसे अनेक ब्राह्मण हैं, जिन्हें समूचा ऋग्वेद कंठाग्र है और जो बिना ग्रन्थ को देखे हुए उसे आद्योपान्त[1] सुना सकते हे। हम कह सकते हैं कि जो बात ऋग्वेद के विषय में सत्य है, वही बात अन्य ग्रन्थों के लिये भी सत्य है।

यदि हम यह भी मान लें कि संस्कृत एक मृत भाषा है, तो भी हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिये कि चाहे भारत की आर्य भाषाएँ हों और चाहे द्राविडियन भाषाएँ हों, उन सभी का मूल स्रोत संस्कृत है। मेरा मत है कि संस्कृत का आरम्भिक ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् भारत की सभी भाषाओं को सीख पाना अत्यधिक सरल हो जाता है। मुझसे भी अधिक योग्य विद्वानों ने इस विषय पर इतना अधिक और इतनी अधिक बार कह दिया है कि मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। आप में से जो लोग संस्कृत व्याकरण का क ख ग भी जानते होंगे, उन्हें मेरी बातों की सत्यता का पता लगा होगा भले ही वे बंगाली मराठी, हिन्दी या तामिल का अध्ययन करना चाहते हों। आप ऐसे दो कर्मचारियों को ले लीजिये जिनमें से एक तो हिन्दुस्तानी के साथ संस्कृत भी जानता है और दूसरा केवल हिन्दुस्तानी जानता है। यदि ये दोनों कर्मचारी भारत और भारतीयों का प्रतिभापूर्ण मूल्याकन करना चाहें, तो, निश्चय मानिये कि इनकी मूल्यांकन शक्ति में उतना ही अन्तर होगा, जितना उन यात्रियों द्वारा इटली की मूल्यांकन-शक्ति में होगा, जिनमें से एक तो लैटिन भाषा का जानकार है और दूसरा कुक ऐण्ड कम्पनी द्वारा दिये गये एक गाइड द्वारा संचालित होता है। स्पष्ट हे कि इटलीवासियों का जितना परिचय लैटिन ज्ञाता को मिलेगा, उतना दूसरे पर्यटक के लिये सर्वथा असम्भव हे।

अब आइये हम लोग तनिक सावधानी पूर्वक यह देखें कि लोग जो संस्कृत भाषा को मृत या कृत्रिम मानते हैं, उस मान्यता में सत्य का कुछ अंश है या नहीं। कुछ लोगों का मत है कि संस्कृत में जो भी साहित्य पाया जाता हे वह कभी भी सामान्य जन का साहित्य नहीं रहा। वह तो विद्वानों द्वारा केवल विद्वानो के लिये ही रचा गया साहित्य है अतः जन-जीवन का परिचय प्राप्त करने म रुचि रखने वाले छात्र को संस्कृत साहित्य में कुछ नहीं

[1] भारतीय शिक्षा व्यवस्था के मर्म को समझ लेने पर यह बात साधारण ही प्रतीत होगी। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में बिना अच्छा पुस्तकालय बनाये न तो कोई अच्छा डाक्टर हो सकता है और न वकील, परन्तु भारतीय शिक्षा प्रणाली मे ग्रन्थो का महत्व अति साधारण ही होता है।

—अनुवादक

मिल सकता। उदाहरण में उनका कहना है कि यदि हम संस्कृत साहित्य का सहारा लेकर हिन्दुओं के क्रमिक मानसिक विकास का अध्ययन करना चाहें तो हमें कोई सामग्री नहीं मिलती। कुछ दूसरों का मत है कि वर्तमान काल में संस्कृत साहित्य में किसी प्रकार की प्रेरणा-दायिका शक्ति बोध नहीं रह गयी है। एक शताब्दी के बृटिश शासन के पश्चात् अब संस्कृत साहित्य यह बता सकने की स्थिति में नहीं रह गया है कि भारतीय मस्तिष्क किधर जा रहा है और न ही उसमें इतनी प्रभविष्णुता शेष रह गयी है कि वह भारतीयों पर किसी प्रकार का प्रभाव डाल कर भले या बुरे रास्ते पर लगा सके।

अब आइये हम तथ्यों का विश्लेषण करें। 'संस्कृत साहित्य' एक विशाल विस्तृत एवम् अस्पष्ट शब्द है। जिन रूपों में वेद हमें उपलब्ध हैं, उस रूप में उनकी रचना यदि ईसा से १५०० वर्षों पूर्व हुई और यदि आज भी संस्कृत में ग्रन्थ लिखे पढे जा रहे हैं तो हमारे सामने संस्कृत-साहित्य-सरिता की एक ऐसी धारा है जो निरन्तर पैंतीस सौ वर्षों से समान रूप से प्रवाहमान् है। चीन को छोड़कर अन्यत्र इस प्रकार की धारा का पाया जाना नितान्त असम्भव है।

संस्कृत साहित्य की विशालता एवम् उनकी विविधता का सही मूल्यांकन दे सकना कठिन कार्य है। हम धीरे धीरे संस्कृत साहित्य के उन बहुमूल्य रत्नों से परिचित हो रहे हैं जो अभी पाडुलिपियों की स्थिति में प्रकाशकों की प्रतीक्षा में आंखे बिछाए पड़े हैं या जो कभी और अब नहीं मिलते, परन्तु जिनके उद्धरण पिछले तीन चार शाताब्दियों के ग्रन्थों में अधिकृत रूप से पाये जाते रहे हैं और आज भी पाये जाते हैं।

पिछले दिनों भारत सरकार ने एक आदेश दिया है कि प्राचीन ग्रन्थों की खोज के लिये भारत का सर्वेक्षण किया जाय। इस कार्य में संस्कृत के कितने ही यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों को उन स्थानों में भेजा गया, जहाँ प्राचीन ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों के होने की सम्भावना थी। उन विद्वानों को आदेश दिया गया था कि वे प्राप्त ग्रन्थों की विषयानुसार सूची बना लें। इन सूचियों में से कुछ सूचियाँ प्रकाशित हुई हैं। उनको देखने से पता चलता है कि भारत में अप्रकाशित प्राचीन ग्रन्थों की संख्या दस सहस्र से ऊपर है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि संस्कृत का अप्रकाशित साहित्य ही यूनान और इटली के सम्पूर्ण संयुक्त साहित्य से अधिक है। इसमें संदेह नहीं कि इन सभी में कुछ अति सामान्य ग्रन्थ भी हो सकते हैं, परन्तु हम भी और आप भी जानते हैं कि हमारे ही समय में एक मान्य दार्शनिक की कृतियों की तुलना कूड़े से की गयी है। जो कुछ मैं आप लोगों पर प्रगट करना चाहता हूँ वह यह है कि भारत के तीन चार हजार वर्षों के इतिहास में संस्कृत साहित्य एक प्रशस्त राजपथ की भाँति है। यह कहना सत्य के अधिक समीप होगा कि संस्कृत साहित्य एक पर्वतीय राजपथ की भाँति है। वह मैदान के संघर्षों से सर्वथा निर्लिप्त हो सकता है। यह भी सम्भव है कि जीवन के दैनन्दिन संघर्षों में

व्यस्त मैदान के सहस्रों लोगों ने उस पर्वतीय राजपथ का दर्शन भी न किया हो और इस राजपथ पर इक्के दुक्के पर्यटक के ही पग पड़े हों, परन्तु जो मानव जाति के इतिहास में रुचि रखते हों या जो मानव के मानसिक विकास के क्रमों का अध्ययन करना चाहते हों, उनके लिये ये एकाकी पर्यटक ही युगों के प्रतिनिधि के रूप में दिखायी पड़ेंगे। ये एकाकी पर्यटक ही भारत के क्रमिक मानसिक विकास का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते भी हैं। हम लोगों को भ्रमित नहीं होना चाहिये। संसार का वास्तविक इतिहास वास्तव में कुछ लोगों का ही इतिहास होगा। और जैसे हम एवरेस्ट की ऊँचाई को नाप कर हिमालय की ऊँचाई का अनुमान लगाते हैं, वैसे ही हमें भारत का अनुमान वैदिक गायकों के माध्यम से ही लगाना होगा, उपनिषदों के सन्त ही हमारा पथ प्रदर्शन करेंगे, वेदान्त और सांख्य दर्शनों के प्रचारक ही हमें भारत विषयक ज्ञान देंगे और प्राचीन स्मृतियों के प्रणेताओं के माध्यम से ही हमें तत्कालीन भारत का ज्ञान होगा। जो लोग गाँवों में जनमे और वहीं मर गये और जो जीवन के अलस स्वप्नों से एक बार भी नहीं चौंके, उनका अध्ययन करने से हमें भारतीय इतिहास की स्पष्ट झाँकी कदापि नहीं मिल सकेगी।

यह सत्य है कि भारत के करोड़ों लोगों के लिये संस्कृत एक मृत भाषा है, उसका साहित्य भी मृत है बल्कि इससे भी आगे बढ़कर अस्तित्वविहीन साहित्य है, परन्तु क्या यही बात संसार के सभी साहित्यों विशेषतया प्राचीन संसार के साहित्यों के लिये पूर्णतः सत्य नहीं है ?

उपरोक्त समस्त तथ्यों के प्रकाश में मैं लोगों के इस मत को मान लेने के लिये एकदम तैयार हूँ कि 'संस्कृत साहित्य का अधिकांश भाग कभी भी उस रूप में जीवित या राष्ट्रीय नहीं रहा, जिस रूप में ग्रीस या रोम के साहित्य ने जन जीवन का प्रतिनिधित्व किया था। यह भी सत्य है कि संस्कृत के जिन ग्रन्थों ने विदेशियों में ख्याति अर्जित की है, वे सभी उस युग की देन हैं, जिसे विद्या का पुनरुत्थान-युग कह सकते हैं। उन ग्रन्थों के लेखकों ने स्वयम् संस्कृत भाषा सीखी थी और उन्होंने यह समझकर लिखा ही था कि वे विद्वानों के लिये लिख रहे थे न कि जन साधारण के लिये।

अपनी इस बात को स्पष्ट करने के लिये मुझे बहुत कुछ कहना पड़ेगा।

ऋग्वेद काल से प्रारम्भ करके दयानन्द द्वारा स्वसम्पादित ऋग्वेद की भूमिका लिखे जाने के समय तक के साहित्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। यहाँ यह बात भी बता देना समुचित ही होगा कि दयानन्द द्वारा लिखी गयी ऋग्वेद की भूमिका भी कम रुचिपूर्ण नहीं है। पहले विभाग में वह साहित्य होगा जो तूरानियों के आक्रमण के पहले का है और दूसरे विभाग में वह साहित्य होगा जो इस आक्रमण के बाद वाले समय में लिखा गया। प्रथम विभाग में वेदों का विशाल साहित्य और प्राचीन साहित्य है और द्वितीय विभाग में शेष सब।

यदि हम (भारत पर) शकों या सीदियनों या इण्डोसीदियनों के आक्रमण को तूरानियन आक्रमण की संज्ञा दें तो उसका एकमात्र कारण यही होगा कि भारत पर या भारत के प्रशासन पर अधिकार कर लेने वाले फिरकों को राष्ट्रीयता के विषय में कुछ कहकर मैं अपने को बाधना नहीं चाहता। ये अधिकार ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक चलते रहे।

इन फिरकों का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है 'यूची'। यूची वह नाम है जो चीन के इतिहास ग्रन्थों में इन फिरकों के विषय में लिखा गया है। इन फिरकों के विषय में जो कुछ भी ज्ञात हो सका है, वह चीनी इतिहास के माध्यम से ही जाना जा सका है। उनका सम्बन्ध दूसरी जातियों से जोड़ने के लिये कितने ही सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। यह कहा गया कि उनका रंग गुलाबी रंग का तथा उज्वल रंग का था और वे घोड़े की पीठ से बाण चला सकते थे। चूंकि यूची नाम गोथी नाम से मिलता-जुलता था अतः रेमूसत ने उनका सम्बन्ध जर्मन के गोथ फिरके से जोड़ा और दूसरे लोगों ने गेटे जाति के साथ इनको सम्बन्धित किया। गेटे लोग गोथ लोगों के ही पड़ोसी थे। एक कदम और आगे बढ़ कर टाड ने भारत की जाट और राजपूत जातियों को इन्हीं से जोड़ा। आशा है कि कालान्तर में इस गुत्थी को सुलझाने वाली प्रकाश-किरण अवश्य ही आवेगी और तब तक के लिये हमें इतने से ही संतोष करना पड़ेगा कि ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक इन तूरानियों के या और भी आपत्ति-जनक शब्द प्रयोग करना चाहें तो यों कहें कि इन उत्तरी जातियों के लगातार आक्रमणों ने भारत में एक महान् क्रांति उपस्थित कर दी। चीन के इतिहास से भारत में इन जातियों की उपस्थिति का पता चलता है और अनेक प्रकार के सिक्कों एवम् शिलालेखों से इस जानकारी को बल भी मिलता है। भारत का इतिहास भी इस बात की पर्याप्त जानकारी देता है, परन्तु इन आक्रमणों की भारत में उपस्थिति का सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण मेरी राय में वह रुकावट या वह रिक्तता है जो तत्कालीन संस्कृत ग्रन्थों की रचना धारा को कुछ समय तक के लिये एकदम रोक देती है और यह रिक्तता ईसा पूर्व की प्रथम शती से ईसा की तीसरी शती तक बनी रहती है।

यदि हम भारत की सामाजिक व राजनैतिक दशा पर विचार करें तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि किसी युद्धप्रिय जाति द्वारा आक्रमण किये जाने पर और आक्रमण के सफल हो जाने पर देश की स्थिति क्या होगी। आक्रान्ता देश के किलों पर अधिकार कर लेंगे, पुराने राजाओं को या तो हटा देंगे या अधीनस्थ बना लेंगे या उन्हीं को अपना प्रतिनिधि बना लेंगे और तब सारे कार्य पूर्ववत् ही चलने लगेंगे। लगान दी जाती रहेगी, कर वसूल होते रहेंगे और भारत के ग्रामीणों अर्थात् अधिकांश भारतीयों की जीवनचर्या बिना तनिक भी अशान्ति या असन्तोष का अनुभव किये चलती रहेगी। इस सत्ता परिवर्तन से सर्वाधिक प्रभावित होगी पुरोहितों की श्रेणी, यदि वे नवीन शासकों से अपना मित्रतापूर्ण

सम्बन्ध न बना लेंगे। भारत का यह पुरोहित वर्ग ही वहां का प्रमुख रूपेण शिक्षित वर्ग होता है अतः पूरी सम्भावना है कि अपने प्राचीन संरक्षकों के अधिकारच्युत हो जाने से उनके साहित्य-रचना-कार्य में विघ्न उपस्थित हो जाय। इसके शताब्दियों पूर्व ही बुद्ध के द्वारा चलाये गये धर्म का उदय हो चुका था और कालान्तर में सम्राट् अशोक द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिये जाने के परिणामस्वरूप ब्राह्मणों की प्रमुखता का अन्त यों भी हो चला था। उत्तर के ये विजेतागण चाहे जिस धर्म को मानते रहे हों, परन्तु वे वैदिक धर्म को तो अवश्य ही नहीं मानते रहे होंगे। ऐसी दशा में उन्होंने बौद्धों से ही अपना सम्पर्क बढ़ाया होगा। शायद इसी सम्पर्क के कारण था शकों की प्राचीन गाथाओं को बुद्ध के सिद्धान्तों में मिला लेने के कारण ही बौद्धों में महायान शाखा का उदय हुआ, जिसे कनिष्क ने एक सभा का आयोजन करके अन्तिम रूप प्रदान किया। हमें स्मरण रखना चाहिये कि कनिष्क भी इन्हीं तूरानी शासकों में से एक था, जिसने ईसा की प्रथम शताब्दी में उत्तरी भारत पर शासन किया।

ऐसी स्थिति में हम समूचे संस्कृत साहित्य को पूर्वोक्त दो विभागों में बांटें तो तूरानियन आक्रमण काल के पूर्ववर्ती साहित्य को हम प्राचीन साहित्य और प्राकृतिक कह सकते हैं और परवर्ती साहित्य को आधुनिक या कृत्रिम।

प्रथम काल में सर्वप्रथम हमारी दृष्टि जाती है वेदों की ओर। वेद शब्द का यदि विस्तृत अर्थ लिया जाय तो उसका अर्थ होता है ज्ञान। वेद अति विशाल हैं, परन्तु अति दुर्भाग्य का विषय है कि समय के सामान्य प्रवाह में से अवशिष्ट भाग ही हम पा सकते हैं। बौद्धों के त्रिपिटक पाली भाषा में हैं, जिसमें बाद में बहुत कुछ जोड़ दिया गया है।

संस्कृत साहित्य के द्वितीय विभाग में उक्त साहित्य के अतिरिक्त सब कुछ आ जाता है। दोनों ही कालों के और भी छोटे विभाग किये जा सकते हैं परन्तु उनसे इस समय हमें कोई प्रयोजन नहीं है।

अब मैं यह स्वीकार कर लेने की स्थिति में हूं कि द्वितीय काल का अर्थात् आधुनिक संस्कृत साहित्य कभी भी न तो जीवित साहित्य रहा और न राष्ट्रीय। यत्र-तत्र इनमें प्राचीन काल के अवशेष मिल जाते हैं, जिन्हें आधुनिक साहित्यकारों ने साहित्यिक, धार्मिक तथा नैतिक रुचियों के कारण अपना लिया था और जब भी हम उन अवशेषों के विषय में आवश्यक जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं तो उनसे भारत का वह अतीत प्रकाशित हो उठता है जो समय के प्रवाह में वेदों से लुप्त हो गया था। उदाहरणार्थ आधुनिक काल के पिंगल शास्त्रों में वैदिक काल के छन्द भी पाये जाते हैं और अनेक प्रकार की वैदिक सामग्री भी पायी जाती है। ये सामग्रियाँ कुछ तो गद्यरूप में अर्थात् सूत्रों में थी और कुछ

पद्यरूप में अर्थात् गाथाओ में थीं। रामायण और महाभारत नामक महाकाव्यों ने इतिहासों एवम् आख्यानों का स्थान ले लिया है। पौराणिक काल के पुराण बदले हुए रूपों में वैदिक पुराण ही हैं।

कालान्तर का आधिकाश साहित्य विद्वत्ता एवम् कृत्रिमता पूर्ण है और कहीं भी इसमें मनोरंजकता का अभाव नही है। इनकी मौलिकता भी सन्देह से परे हैं और इनका सौन्दर्य भी प्राच्य विद्यानुरागी जनों के लिये इसमें रुचिपूर्ण सामग्री भरी पड़ी है साथ ही इतिहासकारों तथा दार्शनिकों के लिये भी योग्य सामग्री इस राशि में सर्वत्र सुलभ है।

भारत के प्राचीन साहित्य की बात इससे भिन्न है। इस साहित्य में वेदों का साहित्य तथा बौद्धों का धार्मिक साहित्य है। इसी साहित्य में हमें उस अद्वितीय अध्याय के दर्शन होते हैं जिसमें मानव जाति की शिक्षा का सम्पूर्ण रहस्य निहित है। मानव जाति के जो भी सज्जन अपनी भाषा या यों कहें कि अपने विचारों के ऐतिहासिक विकास में रुचि रखते हैं, जो लोग धार्मिक या पौराणिक आख्यानों के प्राथमिक विकास के ज्ञान के प्रति अनुराग रखते हैं, जो लोग नक्षत्र विज्ञान की आधार शिला की खोज को अपने अध्ययन का विषय बनाना चाहते हैं, जो लोग संगीत पिंगल, व्याकरण, शब्द-रचना-विज्ञान इत्यादि विषयों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, जो लोग प्रथम दार्शनिक विचारों की पृष्ठ भूमि को स्पष्ट रूप से देखना चाहते है या यह जानना चाहते है कि इस पृथ्वी पर पारिवारिक जीवन सर्व प्रथम किस रूप में प्रारम्भ हुआ तथा किस प्रकार शनैः शनैः ग्रामीण जीवन या राजनैतिक जीवन विकसित हुए चाहे वे धार्मिक आधार पर विकसित हुए हों या पारम्परिक आधार पर या आनुवन्धिक आधार पर, उन्हें चाहिए कि वे वैदिक साहित्य का अध्ययन उसी मनोयोग से करें जिस मनोयोग से वे ग्रीस, रोम या जर्मनी के साहित्य का अध्ययन करते हैं।

बौद्ध साहित्य से हम जो कुछ सीख सकते हैं, उस पर अभी हमें ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। मुझसे बार-बार पूछा जाता है कि बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म की सुपरिलक्षित समानता पर मेरे क्या विचार हैं, इससे पता चलता है कि हमारे देश के लोग बौद्ध धर्म में अधिकाधिक रुचि लेने लगे हैं। मुझे आशा है कि यह रुचि अभी और भी बढ़ेगी, बढ़नी भी चाहिये। आपके सामने दिये जाने वाले सीमित भाषणों में मेरे लिये सम्भव नहीं है कि मैं तमाम आवश्यक बातों पर प्रकाश डाल सकू। मेरी ऐसी इच्छा भी नहीं है। इस भाषण में तो मै वैदिक साहित्य का संक्षिप्त सर्वेक्षण मात्र करना चाहता हूँ। मैं यह दिखाने का प्रयत्न अवश्य ही करुंगा कि वैदिक प्रार्थनाओ, ब्राह्मणग्रन्थों, सूत्रों एवम् उपनिषदों से हम क्या सीख सकते हैं।

यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि यूरोप के विद्वानों ने संस्कृत साहित्य का प्रथम परिचय पाया, उन ग्रन्थो के माध्यम से जो द्वितीय काल में प्रकाशित किये गये थे। भगवद्गीता,

कालिदास के नाटक जैसे शकुन्तला तथा विक्रमोर्वशीयम, महाभारत तथा रामायण के कुछ उपाख्यान जैसे नलोपाख्यान, हितोपदेश की कहानियां, भर्तृहरि शतक इत्यादि वास्तव में कुतूहल वर्द्धक हैं। जब इन प्रकाशनों का योरप में प्रचार हुआ तो यह कहा गया कि ये सभी ग्रन्थ अति प्राचीन काल की कृतियां हैं, भारतीयों में इनसे अधिक उच्च साहित्यिक कृतियाँ असम्भव थी। इन्हीं सब प्रचारों के कारण यह स्वाभाविक ही था कि इन कृतियों की ओर इंगलैण्ड के सर विलियम जोन्स तथा जर्मनी के हर्डर तथा गोथे का ध्यान आकर्षित होता और यह हुआ भी। उस समय कालिदास का नाम लेना या कालिदास सम्बन्धी वार्ता करना विद्वानों का फैशन सा हो गया था। यहां तक कि अलेक्जण्डर वान हम्बोल्ट ने 'कास्मोस' नामक ग्रन्थ में लिखा कि "विरजिल एवम् होरेस का महान समकालीन, जो विक्रमादित्य की महती सभा का सभासद् था"। उस समय लोगों का यही विचार था कि कालिदास का संरक्षक विक्रमादित्य वही सम्राट था, जिसने ५६ वर्ष ईसा पूर्व में विक्रम सम्वत् चलाया था, परन्तु अब सब कुछ बदल गया है। शकों को पराजित करने वाला तथा ५६ वर्ष ईसा पूर्व में विक्रमीय सम्वत् चलाने वाला विक्रमादित्य चाहे कोई भी रहा हो, परन्तु वह ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में नहीं हुआ था। अब तत्कालीन भारतीयों को न तो निरक्षर ही माना जाता है और न उनके काव्य को कला विहीन ही कहा जाता है। इसके विपरीत अब हम भारतीय काव्य को उन्हीं मापदंडों से मापते हैं जिनसे हम पारसी एवम् अरबी, इटली एवम् फ्रांस के काव्यों को मापते हैं और अब हम यह मानने लगे हैं कि कालिदास के ये नाटक हमारे उन नाटकों से तनिक भी उच्च नहीं हैं जो हमारी लाइब्रेरियों में पड़े सड़ रहे हैं। संस्कृत साहित्य के आलोचक अब इन नाटकों को उतना प्राचीन भी नहीं मानते। ईस्वी सन ५८५-८६ के एक शिलालेख में कालिदास को एक प्रख्यात कवि माना गया है और उनके नाम को भारवि के साथ लिया गया है। कालिदास को इससे अधिक प्राचीन मानने का कोई कारण मुझे तो नहीं दिखाई पड़ता। जिनेन्द्र ने भारवि के किरातार्जुनीय के १५ अध्यायों की टीका लिखी है और उसका समय है ८७० ई० के आस पास। यदि इस बात को भी सत्य मान लें तो भी कालिदास तथा भारवि ईसा की पांचवी या छठीं शताब्दी से पहले के नहीं हो सकते। मनुस्मृति को भी लोग अति प्राचीन काल का मान लेते हैं परन्तु मेरी राय में यह ग्रन्थ भी ईसा की चौथी शती से अधिक प्राचीन काल का नहीं हो सकता। मैं जानता हूं कि मेरी इन बातों को संस्कृत के कितने ही विद्वान बकवास की संज्ञा देंगे, परन्तु मैं तो इन कृतियों को और भी बाद का मानने को तैयार हूं। हम सभी को प्रत्येक सत्य को मानने के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये, भले ही वह प्राचीन मान्यताओं के विरुद्ध पड़ता हो। क्या हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण है जिसके बल पर हम यह कह सकें कि जिस छन्दबद्ध रूप में आज की मनुस्मृति प्राप्य है, वह ईसा की तीसरी शती के पूर्व की है? यदि यह बात सत्य है तो हम क्यों न इसे खुलकर कहें, क्यों न इस प्रकार

की मान्यता के विरोधियों का विरोध करें और अपने सन्देहों का समाधान पा जाने के कारण क्यों न कृतज्ञता ज्ञापन करें ?

यह सत्य है कि मनु अपने समय के सर्वोच्च विधानाधिकारी थे। यह भी सत्य है कि प्राचीन वैधानिक सूत्रों में मनु और मानवम् का नाम बार-बार लिया गया है, परन्तु इससे तो यही सिद्ध होता है कि तूरानियन आक्रमण के बाद का साहित्य उन साहित्यिक अवशेषों से भरा पड़ा है जो समय प्रवाह से बचाये जा सके थे। यदि जस्टीनियन[1] की विधान संहिता के समान मनु के धर्म शास्त्र का भी अस्तित्व होता तो क्या सम्भव था कि प्राचीन साहित्य में उसका नाम न लिया जाता ?

वराहमिहिर[2] की मृत्यु ५८७ ई० में हुई थी। उन्होंने मनु का नाम अनेक बार लिया है परन्तु मानव-धर्म-शास्त्र की चर्चा एक बार भी नहीं की है। एक स्थान पर उन्होंने मनु के कुछ श्लोकों को अवश्य उद्धृत किया है, परन्तु वे श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में कहीं भी नहीं मिलते।

मेरा विश्वास है कि ईसा की चौथी, पांचवीं और छठीं शती का समय ही भारत में विद्या का पुनरुद्धार काल था। शिलालेखों से प्रमाणित होता है कि भारवि और कालिदास इसी समय में थे। हम यह भी जानते हैं कि छठीं शताब्दी में भारतीय साहित्य की ख्याति फ़ारस तक पहुँच चुकी थी और फारस के बादशाह खुसरो नौशेरवाँ (शासन काल ५३१-७६ ई०) ने बारोजी नामक शाही वैद्य को इसलिये भारत भेजा था कि वह पंच तंत्र की कहानियों को फारसी में अनूदित कर लावे। भारत के प्रख्यात नवरत्नों का यही समय है और मुझे सन्देह है कि कभी हम इस योग्य हो सकेंगे कि वैदिक साहित्य और बौद्ध कृतियों के अतिरिक्त संस्कृत में जो भी कृतियाँ प्राप्त हैं, उन्हें हम इस समय की पूर्ववर्ती सिद्ध कर सकें।

यद्यपि जब इन आधुनिक कृतियों से लोगों का प्रथम परिचय हुआ तो इनके प्रति पर्याप्त रुचि जागृत हुई और आज भी इन्हीं के माध्यम से भारतीय साहित्य संसार में समादृत होता है, फिर भी गम्भीर विचारकों ने इन कृतियों को सुन्दर और मनोरंजक अवश्य माना परन्तु इन्हें इस योग्य नहीं माना कि इनके बल पर भारतीय साहित्य को संसार के साहित्य में स्थान मिल सके या भारतीय साहित्य को ग्रीक, लैटिन, इटालियन, फ्रेंच, इंग्लिश या जर्मन साहित्य के समकक्ष रक्खा जा सके।

एक समय वास्तव में ऐसा था जब लोग यह सोचने लगे थे कि भारतीय साहित्य के विषय में जो कुछ ज्ञातव्य था सब ज्ञात हो चुका। लोगों का यह भी सोचना था कि

---

[1] कास्टैण्टीनोपुल का सम्राट् जो रोमनला का संग्रहकर्ता था।

[2] प्रसिद्ध हिन्दू नक्षत्र शास्त्री, जिन्होंने वृहद्-वाराही संहिता लिखी है।—अनुवादक

भारतीय साहित्य में भाषा विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता ही एकमात्र ऐसा विषय है जिसके बल पर इसको विश्वविद्यालयों में शिक्षा की एक शाखा माना जा सकता है परन्तु उसी समय अर्थात् आज से चालीस वर्ष पूर्व एक नयी बात पैदा हो गयी जिसने पाश्चात्यों के लिये भारतीय साहित्य का स्वरूप ही बदल दिया। इस नयी बात को आन्दोलन रूप में चलाने वाले थे पेरिस के कालेज डी फ्रास के प्रोफेसर बर्नाफ, जिनकी विद्वत्ता का सम्मान सभी तत्कालीन लोग करते थे। वे विस्तृत दृष्टिकोण के तथा ऐतिहासिक मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। उन्होंने अपना सारा जीवन भारतीय साहित्य के शोध करने में ही लगा दिया। उनके पिता ने ग्रीक भाषा का व्याकरण लिखा था जो आगे चल कर बहुत ही प्रख्यात हुआ। उनका पालन पोषण पिता की ही देख रेख में हुआ था। युवावस्था में वे बैरिस्टर बने और तब उनके मित्रों में गिजोट, थापर्स, मिनेट तथा विलमेन जैसे ख्याततनामा व्यक्ति थे। उनके समक्ष भविष्य की स्वर्णिम आशाएँ थीं और तब किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि यही व्यक्ति एक दिन भारतीय साहित्य के प्रति लोगों की मान्यताओं में क्रान्ति उपस्थित कर देगा। इतिहास के अध्ययन ने उन्हें संस्कृत की ओर झुकाया। उनकी रुचि का विषय था इतिहास, मानव जाति का इतिहास, संसार का इतिहास। इतिहास की जिज्ञासा शान्त करने में उन्होंने पल्ला पकड़ा वैदिक एवम् बौद्ध साहित्य का। थोड़ी ही अवस्था में उनकी मृत्यु हो गयी अत. वे जो कुछ कर जाना चाहते थे उसका अल्पांश ही कर पाये, किन्तु वह अल्पांश ही अत्यधिक महत्वपूर्ण था। उनका कार्य उनके शिष्यों के हाथों में चलता रहा और इस बात को आज कोई भी अस्वीकृत नहीं कर सकता कि तब से लेकर अब तक वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य विषयक जितने भी शोध हुए हैं वे सब के सब बर्नाफ के उन लेक्चरों के ही परिणामस्वरूप हुए हैं जो उन्होंने कालेज डी फ्रास में अपने शिष्यों के समक्ष दिया था।

आप पूछ सकते हैं कि संस्कृत साहित्य में ऐसा क्या मिलेगा जो विश्व के अन्य साहित्यों में नहीं मिलता। इस प्रश्न के उत्तर में मेरा कथन है कि संस्कृत साहित्य में हमें वास्तविक आर्य के दर्शन होते हैं। इन आर्यों को हम यूनानी, रोमन, जर्मन केल्ट तथा स्लाव लोगों के रूपों में देख चुके हैं, परन्तु जिस आर्य का पता हमें संस्कृत साहित्य से मिलता है, उसका व्यक्तित्व इन सबसे निराला है। संस्कृत साहित्य के आर्यों की उत्तर की ओर बढ़ने वाली शाखा ने अपनी कार्य शक्ति एवम् राजनैतिक शक्ति का उपयोग किया और उसे वे उच्चतम सीमा तक ले गये, उनकी दक्षिण गामी शाखा ने अपनी विचारशक्ति और ध्यान-शक्ति को कार्यरत किया और वे भी उसे उसके परिणामों की उच्चतम सीमा तक ले गये। हम देखते हैं कि आर्य-फिरकों ने विभिन्न भूमियों पर अधिकार किया। अधिकार करने के लिये लड़े गये युद्धों में युद्धप्रिय देव इन्द्र और मरुत् उनके संचालक थे। कालान्तर में हमें इन्हीं आर्यों को कृष्णवर्ण आदिवासियों तथा आर्यों के नवीन दलों के

आक्रमणों से अपने नवनिर्मित गृह की रक्षा करते देखते हैं, किन्तु युद्धों का वह काल शीघ्र ही समाप्त हो जाता है और जब एक बार ये आर्य अपने द्वारा जीते गये देशों को ही स्वदेश बना लेते हैं तो धीरे धीरे राजनैतिक तथा यौद्धिक कार्यों पर एक वर्ग विशेष का एकाधिकार हो जाता है। इस एकाधिकार को आप अधिकार की भी संज्ञा दे सकते हैं और कर्तव्य की भी। शेष जन संख्या छोटे छोटे गाँवों में बस सुख शान्ति एवम् सन्तोष पूर्वक खेती बारी, पशुपालन एवम् ध्यान और चिन्तन में लग गयी। अपने गावके बाहर के घटनाओं एवम् परिस्थितियों से वे इतना कम या बिल्कुल ही नहीं प्रभावित होते थे मानों वह घटना घटी ही नहीं। प्रकृति ने उन्हें इतना अधिक दिया था और वह भी इतने कम श्रम से प्राप्त हो जाता था कि उनका सारा समय मनन चिन्तन में लगने लगा। बाह्य संसार की उन्हें एकदम से चिन्ता नहीं रह गयी थी अतः उनकी प्रवृत्ति ही अन्तर्मुखी हो गयी। वे बाह्य परिस्थितियों को सुलझाने के स्थान पर आन्तरिक उलझनों को सुलझाने में लगे। भर्तृहरि का कथन है कि :—

"प्रत्येक वन में पेड़ों पर फल लदे हैं जिन्हें प्रत्येक मनुष्य इच्छानुसार तोड़ कर खा सकता है। प्रत्येक स्थान पर नदियों का शीतल एवम् मधुर जल पीने के लिये प्राप्य है। सुन्दर लताओं से कोमल शैय्या भी बन जाती है। तब भी अभागे मनुष्य धनिकों के द्वार पर नाना प्रकार के कष्ट सहते हैं।"

भारतीय आर्यों के इस परम शान्त जीवनोपयोग को प्रथम दृष्टि में देख कर हम लोगों के मन में यही भाव उठेंगे कि यह तो मानव की अवनतावस्था है न कि उन्नतावस्था, क्योंकि हम लोगों के विचार से जीवन जैसा होना चाहिये, भारतीय जीवन उसके एकदम विपरीत था, परन्तु जीवन के प्रति तनिक और उच्च दृष्टिकोण बना लेने से ही हम देखेंगे कि इन दक्षिणगामी आर्यों ने जीवन के अच्छे बुरे विभागों में से अच्छे विभाग को ही चुना था, या यों कहें कि उन्होंने वही चुना था जो उनके लिये अच्छा था, योग्य था, स्पृहणीय था, जब कि हम उत्तरगामी आर्य अनेक संघर्षों में फँस कर जीवन की समस्त सुख-शान्ति व सन्तोष खो बैठे थे।

हर प्रकार से एवम् हरस्थिति में विचार करने से हमें इस प्रश्न को विचारणीय मानने को बाध्य होना पड़ेगा कि—"जिस प्रकार प्रकृति में एक उत्तर है और एक दक्षिण, क्या उसी प्रकार के उत्तरीगोलार्द्ध और दक्षिणी गोलार्द्ध मानव स्वभाव में भी तो नहीं हैं?' मानव के ये दोनों ही प्रकार के स्वभाव विकास योग्य हैं, इनका विकास होना भी चाहिये था और वही हुआ भी। एक पक्ष है क्रियाशील, संघर्षमय तथा राजनैतिक तथा दूसरा पक्ष है शान्त, चिन्तनशील एवम् दार्शनिक। उपरोक्त प्रश्न को सुलझाने के योग्य सामग्री जिस मात्रा में वैदिक साहित्य में पायी जाती है, उतनी प्रचुरता से संसार

के किसी भी साहित्य में नहीं पायी जाती, उस वैदिक साहित्य में जो स्तुतियों से प्रारम्भ होकर उपनिषदों में समाप्त होता है। इस साहित्य का अध्ययन करते समय मानो हम एक नये संसार में प्रविष्ट होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि इस नवीन संसार का प्रत्येक कोना आकर्षक ही हो, विशेष कर हम लोगों के लिये तो हो ही नहीं सकता, परन्तु इसमें एक मोहकता अवश्य है और वह यह है कि यह वास्तविक है, इसका विकास नैसर्गिक है और जैसा कि नैसर्गिक रूप से विकसित हर पदार्थ का गुण होता है, वैसा ही इसका भी एक निहित उद्देश्य है और यह हमें एक ऐसा पाठ पढ़ाता है जो पढ़ने योग्य है, सीखने योग्य है। इस प्रकार का यह पाठ हम अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलेगा। हम न तो इसकी प्रशंसा करनी है और न ही इससे घृणा करनी है। बस हमें तो इस वैदिक साहित्य का केवल अध्ययन करना है और इसे समझने के लिये यथा सम्भव हर प्रयत्न करना है।

ऐसे भी हठी विद्वान हो गये हैं, जिन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय मस्तिष्क का विकास किसी भी अन्य देशीय मस्तिष्क के विकास से उत्तम प्रकार का हुआ। इतना ही नहीं, वे हमें बाध्य करते हैं कि हम अपने दर्शन, धर्म एवम् अपनी नैतिकता से ऊंचे प्रकार का धर्म, दर्शन एवम् नैतिकता का आभास पाने के लिये वेदों तथा बौद्ध साहित्य की ओर वापस जाना चाहिये। मैं न तो उन विद्वानों का नाम लूँगा और न उनके ग्रन्थों का ही, परन्तु जब मैं देखता हूँ कि कुछ अन्य विद्वान वैदिक साहित्य की इस प्रकार आलोचना करने लगते है, मानों वह १६वीं शताब्दी का साहित्य हो अथवा मानो वैदिक साहित्य एक ऐसा शत्रु हो, जिसका दमन करना अनिवार्य हो और जो हमारी दया का, हमारी सहानुभूति का तनिक भी अधिकारी नहीं है तो मेरा धीरज छूट जाता है। यह सत्य है कि वेद वाक्य मनोभावों से भरा हुआ है, इसमें की गयी कल्पनाएँ हम लोगों को भी अमानवीय लगती हैं। इससे किसी को इनकार नहीं हो सकता, परन्तु ये अमानवीय कल्पनाएं भी रुचिपूर्ण एवम् शिक्षाप्रद हैं। यदि हम विभिन्न विचार प्रणालियों एवम् विभिन्न प्रकार की भाषाओं पर उदारतापूर्वक विचार करें तो इन कल्पनाओं में सत्य की किरणें दिखायी देंगी और इन किरणों का महत्व इसलिये और भी बढ़ जाता है कि वे अंधेरीनिशा के कृष्णपट से फूट कर निकलती हैं।

इसी एक बात के कारण भारत के प्राचीन साहित्य या वैदिक साहित्य का महत्व है और इसीलिये न केवल प्राच्यविद्यानुरागियों के लिये ही वरन प्रत्येक शिक्षित स्त्री पुरुष को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

कुछ समस्याएँ और भी होती हैं, परन्तु अभी उन पर विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम जीवन के कठिन संघर्षों में इतने व्यस्त रहते हैं कि हमें उन पर विचार करने का अवसर ही नहीं मिलता, परन्तु ये समस्याएँ हमारा पीछा नहीं छोड़तीं। वे बार बार हमारे सामने आया ही करती हैं और जब वे आती हैं तो हमारे समस्त जीवन को इस प्रकार

और इस हद तक झिंझोड़ देती हैं कि हम उस झिंझोड़ को औरों के समक्ष स्वीकार भी नहीं कर पाते और कभी कभी तो हम स्वयम् अपने से ही उन्हें स्वीकार नहीं कर पाते। यह सत्य है कि सात दिनों के सप्ताह के एक दिन को हमने आराम और चिन्तन के लिये अलग कर दिया है। वास्तव में हमने इस दिन को उस प्रकार के चिन्तन के लिये अलग कर रक्खा है, जिसे ग्रीक भाषा में 'टा मैजेष्टा' कहते हैं और जिसका अर्थ होता है 'जीवन की सर्वाधिक महान् वस्तुएँ'। यह सत्य है कि इस सातवें दिन को भी हम या तो नियमानुसार चर्च जाने में बिता देते हैं या विचारहीन विश्राम करने में, परन्तु चाहे रविवार हो या अन्य कोई दिन, चाहे युवावस्था हो या वृद्धावस्था ऐसे क्षण हमारे जीवन में अवश्य ही आते हैं भले ही वे कम ही आते हों या बहुत अधिक दिनों के अन्तर से आते हों, पर आते अवश्य हैं, जब जीवन के ये महान् किन्तु साधारण प्रश्न अपनी सम्पूर्ण दृढता के साथ हमारे सामने खड़े हो जाते हैं कि 'हम क्या हैं? पृथ्वी पर के इस जीवन का क्या उद्देश्य है? क्या हमें यहाँ तनिक भी आराम नहीं मिलता है? क्या अपने पड़ोसियों की प्रसन्नता का अन्त करके ही हम अपनी प्रसन्नता अर्जित करते रहेंगे? और क्या जब हम अपने घर को भाप, गैस और विद्युत के सहारे यथा सम्भव विलासपूर्ण बना चुके हैं तब भी क्या हम उन हिन्दुओं से अधिक सुखी हो सके हैं जो अपने आधुनिक मज्जा हीन आरम्भिक गृहों में सुख शान्ति पूर्वक रहते हैं?

जैसा कि हमने अभी कहा है कि हमारा जीवन क्रम ही भिन्न है। उत्तरी देशों की जलवायु के कारण हमारा जीवन अधिक संघर्षमय है और यह संघर्ष साधारण नहीं है। हमारे जीवन में वृद्धावस्था की अनिश्चित दशा, हमारे उलझे हुए सामाजिक जीवन में सहज दुर्घटनाओं इत्यादि से सुरक्षित रहने के लिये धन संग्रह जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गया है और विश्राम तथा चिन्तन के क्षण हमारे लिये बहुत कम रह गये हैं। यह स्थिति उस समय से तो वैसी ही चली आ रही है जब से हम ट्यूटनिक जातियों के इतिहास का पता पाते हैं। रोमनों और यूनानियों की भी यही स्थिति रही है। हमारे यूरोपीय जलवायु में जाड़े की ऋतु अत्यधिक लम्बी भी होती है और इस ऋतु में सर्दी भी कड़ाके की ही पड़ती है। हमारे यहाँ की भूमि भी प्रायः ऐसी है कि उसे जोतना अति सरल नहीं है। हमारे यहाँ के छोटे छोटे राज्यों में स्वार्थों का संघर्ष भी बना ही रहता है अतः हम सब में आत्म रक्षा की मनोवृत्ति अधिक सुदृढ़ हो गयी है। यदि इस मनोवृत्ति का श्रोत खोजना चाहे तो हमें अपनी जाति के मूल में ही जाना पड़ेगा। हम देखते हैं कि हमारी अच्छाइयों के साथ हमारी बुराइयाँ भी परिस्थितियों की ही देन हैं। हमारे चारित्र्य का सर्वांश चाहे शिक्षा से बना हो या पैत्रिकता के आधार पर बना हो या आवश्यकता के आधार पर बना हो परन्तु उसके निर्माण में इन परिस्थितियों का ही विशेष हाथ रहा है। हम सभी का जीवन यौद्धिक जीवन है अतः हमारे जीवन का सर्वोच्च आदर्श ही

यौद्धिक हो उठा है। हम तब तक काम करते रहते हैं जब तक कि काम करने में हम एक दम अक्षम नहीं हो जाते और यदि हमारी मृत्यु काम करने में ही हो जाती है तो हम गर्व[1] का अनुभव करते है। अपने कठिन श्रम द्वारा हम या हमारे पूर्वजों ने जो कुछ प्राप्त किया है या जो कुछ बनाया है या परिवार, दूकान, फैक्ट्री या राज्य की स्थापना की है, हम उस पर गर्व करते हैं। हम अपनी सभ्यता पर गर्व करते है अपने वैभवपूर्ण नगरों, सुचिक्कण राज पथों, पुलों, जहाजों, रेलपथों, टेलीग्राफ, विद्युत प्रकाश, सिनेमा, मूर्तियों, संगीत तथा थियेटरों पर हम गर्व करते हे। हम सोचते है कि हमने जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर लिया है, हम तो यहां तक सोचने लगे है कि हमने जीवन में इतना कुछ प्राप्त कर लिया है कि हम अब उन साधनों को किसी प्रकार छोड़ नहीं सकते। दूसरी ओर ब्राह्मणों और बौद्धों ने जो शिक्षा हमें बार बार दी हे उसका मुख्य अंश यही है कि 'हमें यहाँ नहीं रहना है, यह जीवन तो एक गाव से दूसरे गाव तक की यात्रा मात्र है जो जीव की महान यात्रा का एक अति तुच्छ अंश है, हिन्दू ग्रन्थों मे इस प्रकार हमें यह पढ़ने को मिलता है :—

'जिस प्रकार एक गाव से दूसरे गाव को जाने वाला यात्री खुले आसमान के नीचे रात्रि बिता कर प्रातःकाल फिर अपनी यात्रा पर चल देता है, इसी प्रकार हमारे माता, पिता, स्त्री और धन हमारे रात्रि कालीन विश्राम है। बुद्धिमान मनुष्य इनमें रमते नहीं'।

जीवन के प्रति भारतीय दृष्टि कोण[2] को हेय दृष्टि से देखने के स्थान पर यदि हम थोड़ा रुक कर यह विचार करलें कि उनका जीवन दर्शन एक दम गलत है और हमारा

---

[1] पाश्चात्यो के लिये 'To die in harness' सर्वाधिक बड़ी प्रशसाकी बात मानी जाती है। —अनुवादक

[2] इस विषय पर श्री भगवान दास जी का मत भी उनकी 'आत्मविज्ञान' (Science of the self) नामक पुस्तक में देखें।

'It Is the ancient Socialism, which, some are convinced is trvely sciententific, because based on the science of Psychology, the most important of all Scinces, as is being widely recognized in the west while modern socialism (Communism), which calls itself scientific fails to be so, because it ignores and even goes positively against some foundamental facts and laws of human nature, and therefore will fail to realise its objectives, and fail exactly in the degree in and to the extent, which it violates those facts and laws.

एक दम सही, तो क्या समुचित न होगा? हम लोगों ने अपनी कर्मठता की धुन में आनन्द को भी कार्य की ही श्रेणी में सम्मिलित कर लिया है। क्या यह पृथ्वी केवल कार्य का ही क्षेत्र है जो हम नित्य सदा सर्वदा 'और भी जल्दी और भी जल्दी' मचाये रहते हैं? क्या हम उत्तरापथ के आर्य आनन्द तथा कार्य की थोड़ी सी कम मात्रा से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे? और थोड़ा सा मनन चिन्तन के लिये समय नहीं निकाल सकते थे? क्या हम थोड़े से विश्राम काल की व्यवस्था नहीं कर सकते थे? हमारा जीवन अल्पकालीन है, यह सत्य है, परन्तु हम मक्खियाँ तो नहीं हैं, जो प्रातःकाल जन्म लेती हैं और सायंकाल मर जाती हैं। प्रेरणा के लिये हमारा अतीत है, सुनहरे स्वप्नों के लिये हमारा भविष्य है। ऐसी दशा में क्या यह सम्भव नहीं है कि भविष्य की कुछ गुत्थियाँ अतीत की कुंजियों से सुलझ जायँ?

फिर क्यों हम अपना समूचा ध्यान वर्तमान् पर ही केन्द्रित किये रहें? हम धन, शक्ति एवम् ख्याति की दौड़ में अहर्निश क्यों लगे रहें! हम थोड़ा सा विश्राम लेकर उसी के लिये कर्ता को धन्यवाद क्यों न दे लिया करें?

All this world of objects, which is named by the word 'this' is made of and by the ideation and hence non, who knows not the science of the self can carry action to fruitful issues

He, who knows the inner purpoese of the laws of process and its orders ideated by the self existent, alone can rightly as certain and enjoin the rights and duties of the different classes of human beings of their social occupations and vocations and of their ashrams." अर्थात् प्राचीन समाजवाद की वैज्ञानिकता को लोग मानने लगे हैं क्योकि वह वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर आधारित है × × वैज्ञानिक समझे जाने वाला वर्तमान साम्यवाद असफल हो रहा है क्योकि वह प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध है × × ×

यह भौतिक ससार, जिसे हम 'इदम्' नाम से पुकारते हैं, किसी विशिष्ट कल्पना के आधार पर है, अत उस भीतरी अध्यात्म तत्वो को जानने वाले ही विभिन्न वर्गों के अधिकारो एवम् कर्तव्यो को निरुपित कर सकते हैं × × मनु को भी देखें 'न ह्यध्यात्मवित् कश्चित्, क्रिया फल मयाश्नुते।'

अध्यात्म तत्व का अज्ञानी क्रिया फल को प्राप्त नहीं कर सकता। —अनुवादक

मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि मानवीय शक्ति, शान्त सहिष्णुता, जन भावना और वैयक्तिक गुण जो यूरोपियन नागरिकों में पाये जाते हैं, वे प्रशंसनीय हैं परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि ये गुण मनन स्वभाव के एक पक्ष में है। हो सकता है कि यह पक्ष भी महत्व पूर्ण हो और इसी को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाना मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य हो।

हमें यह भी न भूलना चाहिये कि मानवीय प्रवृत्ति का दूसरा भी पक्ष हो सकता है शायद इसी पक्ष को ही सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाना मानव का लक्ष्य हो। सम्भव है कि लम्बी जीवन यात्रा में इस जीवन का यही ध्येय हो। इसीलिये हमें इस पक्ष को भी नहीं भुला देना चाहिये। यदि हम पूर्व की ओर विशेषकर भारत की ओर अपनी दृष्टि फेरें, जहाँ का जीवन अधिक संघर्ष पूर्ण नहीं था, जहा की जलवायु सम शीतोष्ण थी, भूमि उपजाऊ थी। जहाँ की वनस्पतियों से इतना भोजन मिल जाता था कि शक्ति और स्वास्थ्य का अभाव नहीं हो पाता था, जहाँ साधारण झोपड़ी या कभी कभी केवल गुफाओं में ही निवास की समस्या हल हो जाती थी, जहाँ के जन-जीवन को लन्दन और पेरिस के जन-जीवन से प्रतिस्पर्द्धा नहीं करना था, जहां का सामाजिक जीवन प्रकृति के नियमों के अनुकूल था, जहां के छोटे छोटे गांवों की सीमाएँ ही जन-जीवन की इकाइयाँ थीं, क्या वहीं यह स्वाभाविक नहीं था या आप यह कह सकते हैं कि क्या वहां यही स्पृहणीय नहीं था कि वे लोग मानव स्वभाव के द्वितीय पक्ष को ही सशक्त करते, जो कर्मठ नहीं था, संघर्षशील नहीं था, प्रतिप्रेमी नहीं था? बल्कि शान्त था, चिन्तनशील था और मननशील था? यदि सिन्धु प्रदेश में या गंगा प्रदेश में पहुंच कर आर्यों ने अपने समूचे जीवन को ही शाश्वत रविवार या विश्राम दिन समझ लिया, तो क्या हमें इस बात पर आश्चर्य करना चाहिये? वे जानते थे कि यह जीवन अंतिम है और इसे एक दिन समाप्त होना है यदि इसीलिये उन्होंने निश्चय कर लिया कि जिस जीवन का अन्त होने वाला है, उसके लिये घोर आवश्यकता से अधिक झंझट क्यों किया जाय तो क्या यह हमारे लिये आश्चर्य का विषय है? वे राज प्रासादों का निर्माण क्यों करते? वे अहर्निश श्रमसाधना क्यों करते? शरीर की छोटी मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति में जो थोड़ा सा श्रम या समय लगा उसके अतिरिक्त समय व श्रम को यदि उन्होंने आन्तरिक चिन्तन में लगाया तो बुरा क्या किया? उन्होंने अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ इतनी घटा कर रक्खीं कि बहुत थोड़े से श्रम और उसस भी थोड़े समय में उनकी पूर्ति हो गयी तो उन्होंने इसे अपना अधिकार समझा (आप उस अधिकार को कर्तव्य भी कह सकते हैं) कि वे इस प्रवास में (क्यों कि यह पृथ्वी हमारा प्रवास स्थान है न कि स्थायी निवास) अपने चतुर्दिक का भी अध्ययन करे, अपने से परे हटकर भी सोचें और यह प्रयत्न करें कि जिसे हम उस पृथ्वी का जीवन कहते है उसका वास्तविक रहस्य क्या है तथा उसका वास्तविक उद्देश्य क्या हैं।

यह सत्य है कि इस प्रकार की जीवन भावना को हम काल्पनिक कह सकते हैं, अवास्तविक कह सकते है, अप्रायोगिक कह सकते हैं, परन्तु क्या वे लोग (भारतीय जन) हमारी जीवन-भावना को अदूरदर्शी, झंझटपूर्ण, और अन्त में इसलिये अप्रायोगिक नहीं कह सकते कि हमने जीवन को सुखी बनाने के लिये जीवन को ही बलि कर दिया है जैसे रोगमुक्त होने के लिये कोई आत्म-हत्या ही कर ले[1] ?

इसमें सन्देह नहीं ये दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादी हैं। चाहे पूर्व हो या पश्चिम, इन दृष्टिकोणों को किसी ने निष्ठापूर्वक नहीं अपनाया है। हम निरन्तर कार्यरत ही नहीं रहते, हम विश्राम भी करते है, हम भी चिन्तन करते हैं और न ही हिन्दू लोग निरन्तर विश्रामरत ही रहते हैं, निरन्तर 'दा मैजिस्टा' का चिन्तन ही करते रहते हैं, वे भी आवश्यक होने पर वीरता पूर्वक लड़ते हैं और वे हाथ से ही ऐसे कलात्मक उपादान बना डालते हैं कि स्वयम् उनके और क्रेता के भी सन्तोष की सीमा नहीं रहती। इन कलात्मक उत्पादनों में उनका श्रम तथा उनका समय ही उनकी पूंजी के रूप में होते हैं।

मैं जो कुछ भी आप लोगों के सामने कहना चाहता हूँ वह यह है कि भारतीय आर्य जिन उद्देश्यों की पूर्ति में लगे थे वे अवश्य ही उनकी विपरीत बातों में पिछड़ गये। उनमें यौद्धिक गुण कम हो गये। उत्तर पथ गामी आर्यों ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति में मन लगाया और वे उन गुणों में पिछड़ गये, जिनमें भारतीय आर्य शिखर पर पहुँच सके थे। उत्तरी आर्यों का संघर्ष के बिना काम ही नहीं चल सकता था, परन्तु इससे यह परिणाम निकाल लेना कि भारतीय आर्यों का जीवन ही नष्ट हो गया, ठीक नहीं है। यह सत्य है कि हम उनके दृष्टिकोण को अपने लिये स्पृहणीय नहीं मान सकते, परन्तु भारतीय आर्यों से यह शिक्षा तो ग्रहण ही कर सकते हैं कि जीवन को सुखी बनाने के लिये हम जीवन का ही बलिदान न कर दें।

इतिहास साक्षी है कि प्राचीन का सर्वाधिक प्रख्यात विजेता जब एक भारतीय योगी के सामने पहुँचा तो वह आश्चर्य से खड़ा रह गया। उस समय उसे इस बात का अत्यधिक दुःख हुआ कि उसे उस योगी की भाषा का ज्ञान नहीं था अन्यथा वह उससे प्रत्यक्ष वार्ता कर सकता था, नहीं तो उसे ऐसे दुभाषियों की सहायता ग्रहण करने को बाध्य होना पड़ा जो योगी के भावों का अधिकृत रूप उसके सामने नहीं रख पाते थे।

---

[1]यही सब सोचकर किपलिङ्ग ने कहा है कि :—

The west is west and the east is east, the twain shall never meet—"पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम है। इन दोनो का कभी मेल नहीं हो सकता। भोगो के बाद त्याग की वृत्ति का उत्पन्न होना स्वाभाविक है और हिन्दू सस्कृति 'प्रापणात सर्व कामानाम् परित्यागो विशिष्येव (मनु २-९५) कह कह कर प्रारम्भ से ही त्याग को स्वीकार करती है। —अनुवादक

मैं चाहता हूँ कि अब हमारे देश के लोगों के समक्ष ऐसा अवसर न आवे। अब संस्कृत का सीखना उतना कठिन नहीं रह गया है। मैं भारतीय नागरिक प्रशासन के प्रत्येक कर्मचारी को विश्वस्त कर देना चाहता हूँ कि यदि वे संस्कृत का आवश्यक ज्ञान प्राप्त करके भारत एवम् भारतीयो में जायेंगे तो उन्हीं विचित्र लोगों के बीच उन्हे ऐसी शिक्षायें मिलेंगी जिन्हें हम जीवन की अत्यधिक व्यस्तताओं के बीच फँसकर भूल जाते हे या यदि उन्हें भूल नहीं जाते तो उन्हे घृणा की दृष्टि से देखते हे।

मेरी इच्छा है कि म आप के सामने कुछ ऐसी सूक्तियाँ रक्खूं, जिन्हें भारतीयों के मुख से प्रायः आप सुनेंगे। दिन भर के कार्यों को समाप्त करके सायंकाल जब वे गांव के किसी पेड़ के नीचे एकत्र होते है तब उनके मुखों से ऐसी अनेक बातें सुनने को मिलती हैं जो उन्हें तो सत्य मालूम देती हैं परन्तु हम लोग उन्हें मात्र सत्यवाद (Truism) ही कहेंगे।

'जब हम सभी लोगो को एक साथ ही भूमि के भीतर सोना है तो मूर्ख लोग एक दूसरे को क्यों चोट पहुँचाते हे ?'

'मोक्ष की आकाक्षा रखने वाला उस श्रम के शतांश से ही मोक्ष पा लेता है, जो मूर्ख लोग धन-प्राप्ति के लिये करते हैं'।

'गरीब लोगों को धनिकों की तुलना में अधिक सुस्वादु भोजन मिलता है, क्योंकि श्रमजनित भूख भोजन का स्वाद बढ़ा देती है'।

'हमारा शरीर पानी का बुल्ला है, हमारा जीवन एक पक्षी के समान है। अपने प्रियजनों की संगति सदा नहीं रहती। हे वत्स तब भी तू क्यों सुषुप्त पड़ा है ?'

'जैसे पानी में प्रवाहित दो तिनके मिलते, कुछ दूर साथ बहते और फिर विलग हो जाते हैं, वही दशा हमारे प्रियजनों की भी है'।

'परिवार, स्त्री, पुत्र यहाँ तक कि हमारा शरीर भी नश्वर है। वे हमारे हैं ही नहीं, तब हमारा क्या है ? केवल नेकी और बदी ही हमारी है।'

'जब तुम यहाँ से चलोगे तो कोई भी संग नहीं जायगा परन्तु तुम्हारे भले और बुरे कार्य तुम्हारे संग ही जायेंगे, चाहे तुम जहाँ जाओ'।

'वेद के अनुसार जीव नित्य है, शरीर अनित्य है। शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव मुक्त हो जाता है, परन्तु हमारे कार्यों के बन्धन उसे बांधे ही रहते हैं'।

'जिस प्रकार फटे कपड़ों को उतार कर हम नया वस्त्र पहन लेते हैं, वैसे ही आत्मा पुराना शरीर त्याग कर नवीन शरीर धारण कर लेता है। उसका नवीन शरीर उसके पिछले कर्मों का ही परिणाम होता है[1]'।

---

[1] वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा, न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

'जीव किसी भी शस्त्र से नहीं मरता, अग्नि उसे जला नहीं सकती, पानी उसे गला नहीं सकता और हवा उसे सोख भी नहीं सकती[1]'।

'न तो आत्मा को चोट पहुचती है, न वह जलता है, न भीगता है और न सूखता है, वह अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है, अचल है और अनादि है[2]'।

'वह अभौतिक है, अपरिवर्तनशील है, ज्ञान से परे हैं। यदि तम्हें आत्मा के गुणों का ज्ञान है तो उसके लिये दुःख मत करो[3]'।

'आत्म ज्ञान से बढ़ कर कोई भी उपलब्धि नहीं है'

'प्रत्येक जीवित शरीर में जीव का निवास है, जो पंच महाभूतों में बँधा रहता है। वह अमर है, निर्दोष है। उस आत्मा की उपासना करते हैं जो चल शरीरों में भी अचल ही बना रहता है, वे भी अमर हो जाते हैं'।

प्रत्येक कार्य से निलिप्त रहकर ज्ञानी लोग आत्म ज्ञान प्राप्त करने में लगे रहते हैं'।

अभी हमें इस विषय पर फिर से विचार करना होगा, क्योंकि 'आत्मज्ञान' वेदान्त का विषय है और वेदान्त वेद का अन्तिम लक्ष्य है। ग्रीस की सर्वोच्च विद्या थी "हमारा स्वयम् का ज्ञान" और भारत का सर्वोच्च ज्ञान था 'आत्म-ज्ञान'।

यदि मुझे एक शब्द में भारतीय चारित्र्य की विशिष्टता निर्देशित करनी हो तो जिस ढंग से मैंने भारतीय चारित्र्य का चित्रण किया है, उसके अनुसार मैं 'सर्वोच्च' शब्द का प्रयोग करूंगा, परन्तु इस शब्द को मैं उस अर्थ में ग्रहण नहीं करता जिस अर्थ में इसे कापट साहब ने प्रयुक्त किया है। इस शब्द को मैं इसी अर्थ में ग्रहण करता हूँ कि "भारतीय मस्तिष्क ने जैसे प्रयोगात्मक ज्ञान से आगे निकल जाने का निश्चय कर लिया था'। कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं जो प्रयोगात्मक ज्ञान से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। उनका विश्वास उसी ज्ञान में होता है जिनके आधारमूलक तथ्य सुनिर्धारित हों, पूर्णरूपेण वर्गीकृत हों और सुपरिचित हों। यह भी सत्य है कि प्रयोगात्म ज्ञान का अनुपात सैद्धान्तिक ज्ञान से बड़ा है और यदि ज्ञान ही शक्ति है तो इस ज्ञान से हमें शक्ति भी उपलब्ध होती है। जो व्यक्ति प्रायोगिक ज्ञान को उपयोग में ला सकता है वह अवश्य शक्ति का

[1] नैनम् छिन्दति शस्त्राणि, नैनम् दहति पावक
न चैतम् क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुत

[2] अच्छेद्योमदाह्योऽयम क्लेद्योऽशोण एवच
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽयम् सनातन ॥

[3] अव्यक्तोऽयम चिन्त्योऽयमविकार्योऽमुच्यते
तस्मादेवम् विदित्वैन नानुशोचितुमर्हसि ॥

(गीता अध्याय २।२२,२३,२४,२५) —अनुवादक

भंडार हो सकता है हमारा युग इसी ज्ञान-एवम् तज्जनित शक्ति के पीछे पागल है। उसे इस ज्ञान का गर्व भी कम नहीं है। यदि हम इसी से सन्तुष्ट हो सकते और इसके परे अन्य कुछ की इच्छा न करें तो हमारा जीवन सुख के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है। वही हमारी पूर्ण उन्नतावस्था हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु हम सन्तुष्ट न हों तब ?

वास्तव में इतनी अधिक या यों कहें कि अधिकतम् उपलब्धियों के पश्चात् भी यह निश्चय है कि हम असन्तुष्ट ही रहेंगे, क्योंकि हम बिना इन सबके 'परे' देखे रह ही नहीं सकते। एक बार जिसने इस 'परे' को देख लिया, उसकी दशा उस व्यक्ति की सी हो जाती है जो कुछ देर तक सूर्य की ओर घूर कर देख लेने के पश्चात् जिस किसी भी ओर देखता है, उसे सूर्य का ही बिम्ब दिखायी पड़ता है। आप इस परेदर्शी व्यक्ति के सामने सीमित (जो अनन्त न हो) पदार्थों की बात कीजिये तो वह कहेगा कि 'सीमित तो असम्भव है और बिना अनन्त के असीम के सीमित शब्द ही अर्थ हीन है। आप उसके समान मृत्यु की बात कीजिये तो वह कहेगा कि यह तो जन्म है। आप उसके सामने काल (Time) की बात करेंगे तो वह कहेगा कि 'काल' तो उस अविनाशी का छाया मात्र है। हमारे लिये हमारी इन्द्रियाँ ज्ञान-ग्राहक यन्त्र है, परन्तु उनके लिये यही इन्द्रियाँ यदि भ्रमित करने वाली नहीं हैं तो भावना की उड़ान में बाधक अवश्य हैं। हमारे लिये यह पृथ्वी, यह जीवन तथा वह सब कुछ वास्तविक है, जिसे हम देख, सुन, सकते हैं या स्पर्श कर सकते हैं। हम यह सोचते हैं कि यह हमारा घर है, ये हमारे कर्तव्य हैं, ये हमारे आनन्द हैं इत्यादि। उसके लिये यह पृथ्वी एक ऐसी वस्तु है जो आज है, पर कभी नहीं भी थी और आगे भी नहीं रहेगी, हमारा जीवन एक अल्पकालीन स्वप्न है, जिससे हमें शीघ्र ही जगना है। हम जिन स्वतुओं के अस्तित्व को पूर्ण सुनिश्चित मानते हैं उन्हें वह अज्ञान या अज्ञान मूलक मानता है। साराश यह कि हम इन्द्रियानुभूति के परे कुछ भी नहीं मानते और उनका सब कुछ इन्द्रियानुभूति के परे ही है।

आप एक क्षण को भी यह न समझ लें कि 'परे'*के विचारक मात्र स्वप्नदर्शी हैं। वे ऐसे कुछ भी नहीं हैं। यदि हम अपने को ईमानदारी से टटोलें तो हममें से प्रत्येक देखेगा कि हमारे जीवन में भी ऐसे क्षण आते हैं जब ये सर्वोच्च भावनाएँ हमें भी घेर लेती हैं। भारतीय चारित्र्य में यह सर्वोच्च भावना जिस ऊँचाई तक पहुँच सकी है, वह अन्यत्र कहीं भी असम्भव है, फिर भी कोई व्यक्ति, जाति या राष्ट्र ऐसा नहीं है जो इस 'परे' का आकांक्षी नहीं है। यदि हम थोड़ा गम्भीरता से सोचें तो यह 'परे की आकांक्षा' ही हमें सर्वत्र 'धर्म' के रूप में दिखायी पड़ेगी।

इस स्थल पर यह आवश्यक हो जाता है कि धर्म[1] और धार्मिक को अलग अलग समझ लें। एक व्यक्ति किसी भी धार्मिक मत को मान सकता है, वह ईसाई मत में परिवर्तित हो सकता है या मुसलमान मत को अपना सकता है या किसी समय वह किसी अन्य धार्मिक मत को ग्रहण कर सकता है, जिस प्रकार वह विभिन्न भाषाओं में अपने विचार व्यक्त कर सकता है, परन्तु किसी भी आवश्यक मत को मानने के लिये धर्म आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में यदि अधिक नहीं तो एक बार हो क्षितिज के उस पार अर्थात् उस 'परे' की ओर आकृष्ट अवश्य होता है और असीम या अनन्त की भावना अवश्य सबको अपने प्रवाह में बहा ले जाती है। इस प्रकार की भावना यदि एक बार भी जाग्रत हो गयी तो जीवन भर बनी ही रह जाती है, कभी भी साथ नहीं छोड़ती। जो व्यक्ति इन्द्रियानुभवगम्य संसार से ही सन्तुष्ट हो जाता है, जिसे इसके सीमित होने का ज्ञान ही नहीं होता तथा इन्द्रियानुभव की सीमित प्रवृत्ति तथा निषेधात्मकता (Finite and negative character) से जिसका मस्तिष्क कभी आन्दोलित ही नहीं होता उसके मनस् में धार्मिक भावना का उदय सम्भव ही नहीं है। जब हम यह भली भांति समझ लेते हैं कि सीमित होना ही मानव के ज्ञान की प्रवृत्ति है, मानव-मस्तिष्क के लिये केवल तभी सम्भव है कि वह सीमित के परे असीम की कल्पना कर सके। इस असीम को चाहे आप 'परे' कहें, या अदृश्य कहें, या अनन्त कहें या दैवी या स्वर्गीय कहें। आप निश्चय मानिये किसी धार्मिक मत की सम्भावना से पूर्व यह 'परे' की कल्पना आवश्यक है। यह धर्म कैसा होगा, यह निर्भर करता है जाति के चरित्र पर जो इसे स्वरूप प्रदान करती है, चतुर्दिक् फैली प्रकृति पर तथा ऐतिहासिक अनुभव पर।

हमारे सामने अनेक धार्मिक मतमतान्तर हैं। हम उन मतमतान्तरों की बात नहीं कर रहे है जो बाद में विभिन्न महापुरुषों या पैगम्बरों द्वारा समय समय पर चलाये गये हैं। हमारे सामने वे पुरातन कालीन धार्मिक मत हैं जो आदि कालीन पृथ्वी पुत्रों द्वारा चलाये गये थे या स्वयमेव पारम्परिक रूप से चल पड़े थे। हमारे सामने अनेक मत अवश्य हैं, फिर भी हम न तो उनके महत्वपूर्ण विषयों को जानते हैं, न उनके मूल स्रोत को और न ही उनके धीमे विकास के रूप को। हमारे सामने यहूदियों का मत है, जिसके बारे मे लोगों का मत है कि वह अपने प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण था। उस धर्म का भी मूल स्रोत और उसका विकास क्रम जान पाना अति कठिन है। आप यूनानियों एवम् रोमनों के

---

[1]पाठको से निवेदन है कि इसके पूर्व एकाध स्थल पर धर्म शब्द आया है वहां मत से ही तात्पर्य है। इसके पूर्व मैंने इतनी गम्भीरता से विचार ही नहीं किया था। धर्म तो दो हो ही नहीं सकता। आगे भी मत के अर्थ में धर्म का प्रयोग मिल सकता है। —अनुवादक

धार्मिक मतों को ले लीजिये या ट्यूटनिक, स्लाव, तथा केल्टिक जातियों के धार्मिक मतों को ले लीजिये। आप देखेंगे कि इन मतों के विकास का समय तभी बीत चुका था, जब हम उन्हें जान भी नहीं पाये थे।

अब आइये हम भारत के प्राचीन निवासियों की ओर देखें। उनकी धार्मिक मान्यताएँ ऐसी नहीं थीं कि अन्य मान्यताओं की संगति में चलती रही हों। उनके लिये जितनी भी मान्यताएँ थीं सब की सब केवल धार्मिक और केवल धार्मिक ही थीं। इस धार्मिकता में केवल प्रार्थनाएँ और उपासनाएँ ही नहीं थीं वरन् उनका दर्शन, कानून, उनकी नैतिकता और राजनीति भी उसी धार्मिकता[1] का अविभाज्य अंग बन गयी थीं। शेष जितने भी जीवन सम्बन्धी कार्य थे वे सब के सब उसी धार्मिकता के प्रतिरूप थे।

अब प्रश्न होता है कि वह कौन सी शिक्षा है जिसे हम भारत के प्राचीन साहित्य या वेदों से ग्रहण कर सकते हैं।

यदि आप यूनानियों के देवताओं के बारे में यह जानना चाहें कि वास्तव में वे कुछ भौतिक उपादानों के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है तो इसके लिये न तो यूनानी भाषा के ही पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता है और न यूनानी धर्म के ही। स्कूल का प्रत्येक छात्र जानता है कि जियस (Zeus) में आकाश तत्व की भावना है, पोसीडान (Poseidon) में समुद्र की भावना है, हेडस में यमलोक की भावना है, एपोलो में सूर्य का परिचय मिलता है, आर्टेमिस से चन्द्रमा का तथा हेफास्टास में अग्नि का परिचय मिलता है, परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी यदि हम यूनानियों के दृष्टिकोण पर विचार करें तो हमें जीयस में और आकाश तत्त्व में बहुत कुछ अन्तर दिखायी पड़ेगा। इसी प्रकार एपोलो एवम् सूर्य में भी कम अन्तर न दिखायी पड़ेगा। यही स्थिति आर्टेमिस एवम् चन्द्रमा की भी होगी।

अब हमें यह देखना है कि वेदों से हमें क्या मिल सकता है। यदि आप थोड़े मनोयोग के साथ वेद का अध्ययन करें तो आप देखेंगे कि इसमें यत्र तत्र थोड़े से छन्द दार्शनिकता को अनावृत करते हैं। इन छन्दों के इतने अधिक उद्धरण दिये जा चुके हैं और आज भी दिये जा रहे हैं कि लोगों की ऐसी भावना बनती जा रही है कि वेद केवल उपदेशात्मक छन्दों से ही भरे पड़े हैं। यह भी सत्य है कि उसमें पौराणिक स्तोत्र भी मिलते

---

[1] इस विषय में श्री रमेश चंद दत्त को देखें—प्राचीन भारत की सभ्यता के इतिहास में उन्होंने लिखा है। "योरप धर्म का आदर्श भगवान की महत्ता, ईसा के उपदेश, चर्चों में धर्मोपदेश एवम् धार्मिक कार्यों तक ही सीमित है परन्तु हिन्दुओं के तुच्छातितुच्छ कार्य भी धर्म से सम्बन्धित है हमारा 'धर्म' शब्द इतना व्यापक है कि वह निर्जीव पदार्थों के भी धर्म (Property) की व्यवस्था देता है यही कारण है कि धर्म-निरपेक्षता की भावना को हिन्दू लोग ग्रहण ही नहीं कर पाते।" —अनुवादक

हैं और इन स्तोत्रों में सम्बन्धित देवताओं का व्यक्तित्व उसी नाटकीय ढंग से निखार पर आ गया है जैसे होमर के स्तवनो में। फिर भी आप देखेंगे कि वेद में अधिकाश अग्नि, जल, आकाश, सूर्य, तूफान इत्यादि के स्तवन भरे पड़े हैं और इन्हीं प्रार्थनाओं में इन भौतिक उपादानों को जिन सामान्य नामों से अभिहित किया गया है वे ही आगे चल कर सम्बन्धित देवताओं के लिये व्यक्ति वाचक संज्ञा के रूप में व्यवहृत होने लगे हैं। इतना होते हुए भी इन प्रार्थनाओं में न तो कहीं अविवेक के दर्शन होते हैं और न ही पौराणिकता के। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि वेद में कहीं भी ऐसा कुछ नहीं है जो अविवेक पूर्ण हो या जो हमारी सहानुभूति को जागृत न करता हो। हम देखते हैं कि हिन्दू ऋषियों ने कहीं तूफानों की प्रार्थना की है, ताकि वे रुक जायँ, कहीं आकाश की प्रार्थना की है कि पानी बरसे या कहीं सूर्य से चमकने की प्रार्थना की है, परन्तु इन सब में अविवेक कहाँ है? जो भी व्यक्ति मानव तर्क के क्रमिक विकास का अध्ययन कर चुका है या कर रहा है, उसे इन प्रार्थनाओं को देखकर तनिक भी आश्चर्य न होगा। आप यह जानते हैं, आप को यह जानना चाहिये कि सुदूर अतीत में वय एवम् अनुभव प्राप्त व्यक्तियों के भी तर्क उसी प्रकार के होते थे जैसे आज हमारे बच्चों के होते हैं। वह काल भी मानव जाति के बचपन का ही काल था। तब उनकी तर्क शक्ति उतनी विकसित नहीं हुई थी, जितनी आजकल के लोगों की होती है। बच्चों का मस्तिष्क प्रायः भौतिक पदार्थों के गुणों को ही पदार्थ मान बैठता है। चन्द्रमा और चन्द्रिका को अलग करके देखने की न तो उन्हें आवश्यकता ही है और न वे इतना अधिक सोच विचार ही कर सकते हैं। बच्चों की इस तर्क शक्ति को आप लोग विभिन्न नामों से भले ही पुकारते हों, पर जानते इसे सब हैं। हम सभी जानते हैं कि गुण और पदार्थ, कारण तथा परिणाम, कार्य एवम् कर्ता को अलग अलग देखने की प्रवृत्ति शिशु प्रवृत्ति ही है और यह प्रवृत्ति हममें आपमें सभी में पायी जाती है। एक शिशु किसी कुर्सी से टकराकर गिर जाने के बाद जब उस कुर्सी को ही मारने लगता है तो हम इसी प्रवृत्ति का दर्शन करते हैं। इसी प्रवृत्ति के वशवर्ती होकर बच्चे गा उठते हैं "रेन, रेन, गो टु स्पेन' (Rain, Rain, go to spain)। इस छोटी पंक्ति में हम को आपको कोई आनद न मिले यह सम्भव है, परन्तु बच्चों के लिये यही गीत परमानन्द दायक हे। इस गीत का कुछ विशेष अर्थ न भी हो तो भी यह अविवेक पूर्ण इसलिये नहीं है कि यह स्वाभाविक है। कम से कम उस समय के लिये तो इस प्रकार के गीत अनिवार्य ही हैं जब मानव मस्तिष्क अविकसित था या शिशु काल में था।

प्राचीन धर्म के विकास में वेद का समय इस प्रकार का था। इस समय में जो कुछ भी देखा, सुना, कहा या गाया जाता था, वह सब स्वयम् सिद्ध था। मानवीय-मस्तिष्क के इस प्रकार के शिशुकाल का परिचय जैसा हमें वेद में मिलता है, विशेषकर जैसा हमें ऋग्वेद में मिलता है वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। मानव मस्तिष्क के क्रमिक विकास के

इतिहास का यही एक अध्याय ऐसा है जो भारतीय साहित्य में और केवल भारतीय साहित्य में ही सुरक्षित है जब कि हम उसे व्यर्थ ही यूनानी या रोमन या अन्य किसी साहित्य में खोजते फिरते हैं।

जो लोग अपने को नृतत्व शास्त्र (मानव शरीर रचना विज्ञान) का छात्र मानते हैं वे लोग इस बात को मानते हैं कि आदिम मानव या प्रागैतिहासिक कालीन मानव का अध्ययन करने के लिये आवश्यक है कि एशिया, अफ्रीका, पालोस्नेशिया तथा अमेरिका के कुछ भागों में पाए जाने वाले आदिवासियों का अध्ययन किया जाय। यह विचार ठीक भी है और तद्विषयक जानकारी हमें वेट्ज़, टेलर, लुबाक इत्यादि विद्वानों की कृतियों में संग्रहीत रूप में मिलती है, परन्तु आइये, हम तनिक ईमानदारी से काम लें और यह स्वीकार करें कि जिन साधनों के द्वारा हम प्रागैतिहासिक कालीन मानव का विवरण प्रस्तुत करना चाहते हैं, वे सब विश्वसनीय नहीं हैं।

इतना ही नहीं, हम आदिवासियों के विषय में उसी काल की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं जो उनके जातीय इतिहास का अन्तिम अध्याय है। आज वे जैसे हैं, हम उसी का तो अध्ययन कर सकते हैं। क्या हमें उनकी पूर्व स्थिति का तनिक भी ज्ञान प्राप्त है ? हम भी और आप भी जानते मानते हैं कि इतिहास से हमें इस बात का पता चलना चाहिये कि हम आज जो कुछ हैं और सभ्यता व संस्कृति की यात्रा में जहाँ कहीं भी हैं, वहाँ तक हम कैसे पहुँचे हैं, बीच में हमें कौन सी सुविधाएँ मिल चुकी हैं, किन सुविधाओं से हम वंचित रहे हैं तथा किन कठिनाइयों ने हमारी प्रगति को पग पग पर बाधित किया है। इन बातों की जानकारी हमें उन जातियों के जीवन का अध्ययन करने से नहीं मिल सकती। इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें उनकी भाषा के क्रमिक विकास का अध्ययन करना होगा। भाषा का अध्ययन करने से हमें उन जातियों के सुदूर अतीत का ज्ञान उसी सीमा तक प्राप्त हो सकेगा जिस सीमा तक होमर हमें यूनानियों के विषय में बताता है। वेद की संस्कृत का अध्ययन भी उसी प्रकार हमें अतीत कालीन हिन्दू-जन-जीवन का परिचय दे सकता है। भाषा का अध्ययन ही हमें यह बताता है कि ये अविकसित मूर्तिपूजक, उनकी उलझी हुई पौराणिक व्यवस्थाएँ, उनकी अस्वाभाविक परम्पराएं, उनकी समझ में न आने वाली विचित्रताएँ एवम् बर्बरताएँ आज या कल की नहीं हैं, उनका भी एक इतिहास है और आज वे जहाँ हैं, वहाँ तक पहुँचने में उन्होंने सहस्राब्दियों की यात्रा की है। यदि हम उनकी सृष्टि को एक विशेष सृष्टि न समझ बैठें तो हमें मानना पड़ेगा कि वे उतने ही प्राचीन हैं जितने हिन्दू, ग्रीक या रोमन। हम यह तो मान सकते हैं कि विकास क्रम में उनकी प्रगति धीमी रही है। इतना भी माना जा सकता है कि कुछ वर्षों, दशाब्दियों या शताब्दियों तक उनकी प्रगति रुद्ध ही रही हो। हम यह भी मान सकते हैं कि आज ये आदिम जातियाँ उसी स्थिति में हैं, जिसमें हिन्दू लोग ३००० वर्ष पूर्व थे, परन्तु यह सब

अनुमान ही है और यदि उनकी भाषाओं का अध्ययन किया जाय तो उपरोक्त सभी मान्यताओं के विरुद्ध सोचने को बाध्य होना पड़ता है। सम्भव है कि उनकी प्रगति में अत्यधिक कठिनाइयाँ आ गयी हों। यह भी हो सकता है, कि एक बार पूर्ण विकास तक पहुँच कर ये जातियाँ फिर बर्बरता की ओर लौट गयी हों और इस प्रकार उनके जिस स्थिति को हम प्रारम्भिक माने बैठे हैं शायद वह मध्य कालीन हो। यह भी हो सकता कि कुछ विवेक और ज्ञानपूर्ण मान्यताएँ या परम्पराएँ ही पथ भ्रष्ट होकर उन्हें इस अवस्था में पहुँचा दिये हों, और उनको आज भली भाँति ग्रहण ही न कर पाते हों। आप किसी अविकसित आदिम जाति को ले लीजिए जो आप की समझ में विकास पथ पर एक पग भी नहीं आयी है। गम्भीरतापूर्वक उनके उन नियमों का अध्ययन कीजिये, जिनके सहारे उनके विवाहादि होते हैं। आप देखेंगे ये नियम इतने अधिक उलझे हुए हैं कि इनकी उलझनें समझ से परे हो जाती ह। ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन नियमों में उनका अविवेक, अन्धविश्वास, मिथ्याभिमान और उनका अज्ञान अपनी उच्चतम सीमा तक पहुच गये हैं और वे हमारे लिये, हमारी समझ के लिये एकदम अगम्य हो गये हैं परन्तु गम्भीरतापूर्वक और बिना ऊबे हुए यदि हम देखने लगें और अन्त तक देखते रह जायँ तो हमें अनेक अविवेकों में विवेक की भी झलक दिखायी पड़ेगी। हम देखेंगे कि किस प्रकार ज्ञान ही बढ़ते-बढ़ते (या यों कहें कि घटते-घटते) अज्ञान बन गया है, आचार ही शिष्टाचार बन गये हैं और यही शिष्टाचार बढ़ते-बढ़ते स्वाग की सीमा तक जा पहुँचे हैं। ऐसी स्थिति में क्या हम केवल इसीलिये उन आदिम जातियों के वर्तमान जीवन को ही आदिमकालीन जीवन मान लें कि हम उनके अतिसुदूर अतीत का उत्खनन करके उसे अनावृत नहीं कर सकते ?

मैं यह नहीं चाहता कि मेरी बातों को या मुझे कोई गलत समझ लें। मैं भारत के प्राचीन साहित्य के पक्ष में यह दावा नहीं करना चाहता और न करता ही हूँ कि कोई उसे जंगली जातियों की कथाओं, परम्पराओं और उनके गीतों से अधिक महत्व दे। जिसे हम प्रकृति की स्थिति कहते हैं, उसमें रहने वालों के गीतों, परम्पराओं एवम् उनकी कथाओं का जो महत्व है, वही महत्व मैं प्राचीन भारतीय साहित्य को भी देना चाहता हूँ। मानव विज्ञान में रुचि रखने वाले छात्र के लिये दोनों ही समान उपयोगी हैं। मैं तो केवल इतना कहता हूँ कि यदि कोई आदि कालीन मानव जाति के अध्ययन में रुचि रखता है तो वेद का सहारा लेना चाहिये। इस साहित्य के सहारे हम मानव जाति की उस स्थिति तक पहुँच सकते हैं, जहाँ से वह समझ में आने योग्य होती है। आप लोग इस बात का ध्यान रक्खें कि जब मैं आदि कालीन या प्रारम्भिक मानव की बात करता हूँ तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि मैं एकदम से उस दिन की बात कह रहा हूँ जिस दिन मनुष्य चौपाया से दोपाया बना। बार-बार मुझसे लोग पूछते हैं कि क्या यह विश्वास कर लें कि ज्यों ही मनुष्य हाथों का सहारा छोड़ कर केवल पैरों के सहारे चलने लगा,

त्यों ही उसके मुख से वैदिक ऋचाएँ निःसृत होने लगीं ? मैं तो ऐसा कभी नहीं कहता। आप जानते हैं कि यदि किसी जंगली पेड़ को काट दिया जाय तो उसके अन्दर एक के बाद दूसरे उतने ही छल्ले निकलेंगे जितना प्राचीन वह वृक्ष होगा। उसी प्रकार के छल्ले (जीवन-स्थिति) हमें वेद की प्रत्येक ऋचा में या यों कहना चाहिये कि वेद के हर एक शब्द में बहुत बड़ी संख्या मे मिलेंगे।

जैसे मे पहले कह चुका हूं वैसे ही एक बार मैं फिर कहना चाहूँगा कि यदि हम यह मान लें कि वैदिक ऋचाएँ ईसा पूर्व १५०० से लेकर १००० वर्षों तक रची गयीं तो हमें यह सोच कर विस्मय विमूढ हो जाना पड़ेगा कि इतने प्राचीन काल में भी भारतीय मस्तिष्क ने किस प्रकार उन विचारों को ग्रहण कर लिया जो हमें आज उन्नीसवीं शती में भी आधुनिक प्रतीत होते हे। यदि हमारे पास इस बात का कोई भी प्रमाण होता कि वेद की रचना ईसा पूर्व १००० वर्ष के बाद अर्थात् बौद्ध मत के प्रचारित होने के ५०० वर्षों पूर्व के बाद में हुई तो म वेद के रचना काल सम्बन्धी सभी मान्यताओं का त्याग कर देता। मैं यह नही कहता कि आगे भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलेगा। सम्भव है कि हम आगे चल कर यह सिद्ध कर सके कि वेद इतने प्राचीन नही ह जितना उन्हें हम आज मानते हे, परन्तु आज तो संस्कृत का प्रत्येक विद्वान इस बात को मानने के लिये बाध्य है कि किसी भी प्रकार वैदिक साहित्य बौद्धमत के उदय के ५०० वर्षों पूर्व के बाद का सिद्ध ही नहीं किया जा सकता।

तब फिर हम क्या करें ? ऐसी स्थिति मे हमें अपनी मान्यताओं को अपरिवर्तित रूप में ही रखना होगा और तब भी यदि हम देखते हैं कि ३००० वर्षों पूर्व मानव मस्तिष्क ने इतना विकास कर लिया था कि वह उन विचारों को ग्रहण कर ले सकता था जो आज १९वीं शताब्दी में भी हमें निश्चित रूप से आधुनिक जान पड़ते हैं तो हमें उन धारणाओं को बदल देना पड़ेगा जो हमने उन बर्बर, आदिम मानवों के विषय में बना रक्खा है, साथ ही हमें यह बात भी याद रखनी होगी कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो बात बड़े-बूढ़ों को नहीं सूझती वही छोटे बच्चों को सूझ जाती हे और यही बात विभिन्न काल के मानवों के लिये भी सत्य हो सकती है।

इन तमाम बातों के प्रकाश में मेरा यह कहना है कि यदि किसी को मानव जाति का अध्ययन करना हो, या आप चाहें तो यों कह सकते हैं कि यदि किसी को आर्य जीवन के विषय में अध्ययन करना हो तो उसके लिये वैदिक साहित्य का अध्ययन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण अध्ययन होगा। संसार का कोई भी साहित्य इस क्षेत्र में वैदिक साहित्य का मुकाबला नहीं कर सकता। मैं यह कहना चाहता हूँ कि यदि किसी को अपने में रुचि हो, अपने पूर्वजों, अपने इतिहास या स्वजाति के बौद्धिक विकास क्रम में रुचि हो तो उसके लिये वैदिक साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। इस विषय का इतना सम्यक् ज्ञान अन्यत्र कहीं

मिल ही नहीं सकता। मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि यदि कोई यह जानना चाहे कि उदार शिक्षा के मौलिक तत्व कौन-कौन से हैं तो उसे वैदिक साहित्य से इतना कुछ प्राप्त हो सकता है कि उतना न तो बेबिलोन या पर्शियन बादशाहों के समय का इतिहास ही बता सकता है और न इसराइल तथा जूडा के बादशाहों के कारनामे ही बता सकते हैं।

मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि लोग इन तथ्यों को बड़ी ही उदासीनता या यों कहें कि बड़ी ही अनिच्छापूर्वक स्वीकार करते हैं। उससे भी अधिक आश्चर्य तब होता है जब मैं देखता हूँ कि नृतत्त्वशास्त्र के विद्यार्थी भी इसी उदासीनता से पीड़ित हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इस चमत्कारपूर्ण साहित्य का अध्ययन करने के बदले वे अपनी अधिकाश शक्ति उन बहानों की खोज में लगा देते हैं, जिनसे यह सिद्ध किया जा सके कि वैदिक साहित्य का अध्ययन आवश्यक नहीं है। हम लोगों को ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि चूकि योरप की अधिकाश भाषाओं में ऋग्वेद अनूदित हो चुका है अतः अब उसमें अध्ययन करने योग्य कुछ भी नहीं रह गया है। बात ऐसी नहीं है वरन् इसके बिल्कुल विपरीत है। ये सभी अनुवाद परीक्षणात्मक रूप से किये गये हैं। यद्यपि पिछले तीस वर्षों में मैंने स्वयम् अधिकांश ऋचाओं को अनूदित किया है फिर भी अपने विचार मे मैंने यही प्रयत्न किया है कि ऋग्वेद की उन ऋचाओं का अर्थ क्या होना चाहिये। सम्भव है कि 'वास्तविक अर्थ क्या है' इस पर मेरा विचार गया ही न हो। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि केवल १२ ऋचाओं के अनुवाद के लिये ही मुझे एक बड़ा सा ग्रन्थ लिखना पड़ा। अभी हम वैदिक साहित्य के ऊपरी सतह पर हैं और इतने को ही देखकर हमारे आलोचक यह कहने लगे हैं कि वैदिक साहित्य में ऐसा कुछ भी नहीं है जो हमें आदिम मानव की स्थिति से परिचित करा सकें। बड़ी-बड़ी दलीलें देकर लोग इस साहित्य की व्यर्थता सिद्ध करना चाह रहे हैं। यदि आदिम मानव से वे उस व्यक्ति का अर्थ लगाते हैं जो सर्व प्रथम इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ तब वे एक ऐसी बात की खोज में रत हैं जो उन्हे कभी भी नहीं मिलेगी, भले ही उनके हाथ आदम और हव्वा के बीच का पत्र व्यवहार (यदि वह कभी हुआ हो) ही क्यों न लग जाय। आदिम से हमें केवल उन मनुष्यों का अर्थ ग्रहण करना चाहिये जिनके विषय में कुछ जान सकने की सम्भावना हो। यदि हम इस प्रकार का अर्थ ग्रहण करते हैं तो एतद्विषयक अध्याय के लिये ऋग्वेद के शब्दों और ऋचाओं से अधिक उपयोगी कहीं कुछ भी नहीं है।

चतुर्थ भाषण

क्या वैदिक संस्कृति निषेधात्मक थी ?

यह सत्य हो सकता है कि वाद-प्रतिवाद से लाभ की अपेक्षा हानि की ही संभावना अधिक होती है, आलोचनाएँ और प्रत्यालोचनाएँ कुपथगामिनी प्रतिभाओं को जन्म देती हैं, व्यक्ति मिथ्या प्रशंसाओं के चक्कर में अर्थ का अनर्थ कर डालता है और प्रत्येक वाद-प्रतिवाद के पश्चात प्रायः यही प्रतीत होता है। हमारे चारों ओर का अन्धकार कुछ हल्का होने के स्थान पर कुछ अधिक सघन ही हो गया है। लोगों का कहना है और यह कहना सही भी है कि यदि आज किसी सुचतुर वकील को यह सिद्ध करने की आवश्यकता आ पड़े कि गैलीलियो के सिद्धान्त के विपरीत हमारी पृथ्वी ही समूची सृष्टि का केन्द्र है (गैलीलियो के पूर्व यही मत मान्य था) तो उसे तर्कों का अभाव नहीं होगा और यह भी पूर्ण सम्भव है कि हमारे इंगलैण्ड के न्यायाधीश तथा जूरी लोग उस वकील के पक्ष में निर्णय भी दे दें। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि सत्य में स्वयं की एक ऐसी शक्ति है कि बार-बार असत्य के समक्ष हारने पर भी वह अन्त तमाम विरोधों के ऊपर उठकर असत्य पर विजयी हो जाता है। गैलीलियो का सिद्धान्त ही हमारी इस स्वीकृति का प्रमाण है। आप लोग जानते है कि इस समय संसार के अधिकांश लोग गैलीलियो के सिद्धान्त को मानते हैं परन्तु यदि उस सिद्धांत के सही होने का प्रमाण आप मांगें तो उन अधिकांश लोगों में से अधिकांश जन ऐसे ही होंगे जो एक भी प्रमाण न दे सकेंगे। मैं यह भी मानने को तैयार हूं कि इस संसार में जितने भी अच्छे कार्यकर्त्ता, शोधक या सर्वोत्तम कार्यों के कर्ता हो गये हैं, जिन्होंने ज्ञान की प्राप्ति-प्रसार एवम् प्रचार में महान् योगदान दिया है तथा जिन्होंने सत्य प्राप्ति के साधनों को सहुलत किया है, उन्होंने न तो कभी परम्पराओं की परवाह की और न लोकापवाद या लोकमत की चिन्ता। वाद-प्रतिवाद के प्रतिपूर्ण उदासीन रहकर, दाईं ओर से मिलने वाली प्रशंसा स्वयं विपरीत दिशा से आने वाले निन्दा जाल का तनिक भी ध्यान न करते हुये वे सत्य प्राप्ति-मार्ग पर सीधे चलते चले गये हैं। यह सब कुछ सत्य है, पूर्ण सत्य है, फिर भी परिस्थितियां कुछ ऐसी आ पड़ी हैं कि अपने समूचे एक भाषण में यही प्रयत्न करना चाहूँगा कि आप लोगों के मस्तिष्क से उन अनेक आपत्तियों एवम् प्रतिवादों को हटा दूं जो वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में किये जाते रहे हैं और आज भी किये जा रहे हैं। मैंने भारत के प्राचीन साहित्य के प्रति जो

दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं उन पर प्रतिवादो एवम् प्रतिवादकर्ताओं की संख्या न तो कम ही है और न वे प्रतिवादकर्ता नगण्य ही हैं। वैदिक साहित्य की जिस विशेषता तथा उसके जिस ऐतिहासिक महत्वा को मैने प्रतिपादन किया है, उन पर अनेक आपत्तिया अनेक गण्यमान्य विद्वानों द्वारा उठायी गयी है और मेरा मत है कि यदि इन आपत्तियों का निवारण नहीं किया गया तो सत्य को अनावृत करना कठिन हो जायगा। हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि वैदिक साहित्य के अति प्राचीन होने पर भी उस पर मेरे द्वारा प्रस्तुत किया गया दृष्टिकोण नया है, उस दृष्टिकोण पर योग्य विचारकों एवम् निर्णायकों की संख्या अल्प है, इस विषय में गलतिया सामने आती है। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि बड़ो की गलतिया भी हमारे मार्गदर्शन की क्षमता रखती हैं। कहा तो यहा तक जा सकता है कि सत्य प्राप्ति के मार्ग में चलने वाले का भटक जाना अनिवार्य ही है और यही भटक जाना सत्य प्राप्ति की सहायिकाएँ भी होती है। कुछ आलोचनाएँ तो इतनी सराहनीय होती हैं कि उनकी उपेक्षा ही श्रेयस्कर होती है, क्योंकि ये आलोचनाएँ केवल आलोचना के लिये की गयी होती है और प्रति क्षण हमें सत्य की विपरीत दिशा में ले जाने वाली होती हैं। यदि ये आलोचक निम्न वृत्ति के न हों तो हमारा सौभाग्य ही समझा जाना चाहिये। कुछ कठिनाइया और आपत्तिया स्वाभाविक रूप से हमारे सामने आती है। कुछ आपत्तिया ऐसी भी होती है कि उन पर ध्यान न देना अश्रेयस्कर भी होता है और जिन्हें हटा देने मात्र से सत्य के सुदृढ दुर्ग तक जा पहुँचना साध्य हो जाता है। भारतीय साहित्य के विषय में विचार करते समय उपरोक्त बातें जितनी पूर्णता से हमारे सामने आती हैं उतनी किसी अन्य पर विचार करने में नहीं आती। आपत्तियों पर विचार करके उनका निवारण करने के लिये आवश्यक है कि पहले पूर्व पक्ष पर विचार कर लिया जाय अर्थात् यह जान लिया जाय कि वे आपत्तिया कौन हैं तथा कैसी हैं। उनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उत्तर पक्ष की बात को भी सुन समझ लेना चाहिये अर्थात् आपत्तियों को निमू्ल सिद्ध करने वालों की बातों पर विचा र करना चाहिये। ऐसे समय में हर सम्भव आपत्ति का स्वागत करना चाहिये, उनका पूर्व पक्ष पूरी तरह देख लेना चाहिये और उत्तर पक्ष की ओर ध्यान देना चाहिये। हाँ इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि कहीं ये आपत्तिया एकदम निराधार ही तो नहीं हैं, मनगढन्त तो नहीं है, नगण्य एवम् इसीलिये अविचारणीय तो नही हैं। इसके पश्चात् पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष पर पूर्ण विचार करके तब पक्ष या विपक्ष में निर्णय देना चाहिये। इस प्रकार के निर्णय का जो परिणाम होता है उसे ही सिद्धान्त कह सकते हैं।

इसलिये मेरा विचार है कि मैं पहले कुछ ऐसे सिद्धान्त स्थिर कर लू जिनके बिना यह असम्भव है कि आप वैदिक साहित्य की ऐतिहासिक महत्ता को समझ सकें तथा यह जान सकें कि हम लोगों के लिये उन प्राचीन ऋषियों द्वारा गाये गये गीतों का क्या महत्व

हैं जो हमसे समय के विचार से भी और स्थान के विचार से भी इतने अधिक दूरी पर है। इन सिद्धान्तों को स्थिर कर लेने के पश्चात ही हम वेद के पृष्ठ उलटने योग्य हो सकेंगे, वैदिक ऋचाओं के महत्व को समझ सकेंगे तथा प्राचीन भारत के निवासियों के धर्म तथा दर्शन का महत्व आंक सकेंगे।

(१) पहली बात तो शुद्ध रूप से पारिभाषिक या परिचयात्मक है अर्थात हमें यह मान लेना है कि अतीत काल का भी और आज का भी हिन्दू पूर्णतया हमारी रुचि एवम् सहानुभूति का पात्र है। वह हमारे विश्वास का भी पात्र है। उन पर जो यह दोष हमारे देशवासियों ने लगाया है कि उनमें सत्यप्रियता के प्रति कोई समादर नहीं है वह पूर्णरूप से निराधार है।

(२) दूसरी बात यह है कि हमें ऐसा नहीं समझना चाहिये कि भारत को केवल कुतूहलजनक मानकर ही हमें उसे केवल प्राच्य विद्यानुरागियों के ही हाथों में सौंप देना चाहिये। इसके विपरीत प्राचीन भारतीयों की भाषा अर्थात संस्कृत के विचार से भी और प्राचीन साहित्यिक प्रपत्रों अर्थात् वेद के विचार से भी हमें भारत का महत्व स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि ये दोनों ही हमें जो कुछ सीख दे सकते हैं वह कहीं अन्यत्र नहीं मिल सकती। यदि हम जानना चाहते हैं कि हमारी स्वयम् की भाषा का मूल स्रोत कहां है, हमारी सामान्य धारणाओं का प्रारम्भ कहाँ से और क्यों कर हुआ तथा सभ्यता में विशेषतया आर्य-सभ्यता में जो कुछ भी समाविष्ट हो सकता है उनका प्राकृतिक बीज कहां है तो हमें वैदिक भाषा एवम् साहित्य का ही प्रश्रय लेना पड़ेगा। आर्य सभ्यता को हम विशाल रूप में ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि हिन्दू, पार्शियन, यूनानी, रोमन, स्लाव, केल्ट तथा ट्यूटन जातियाँ सभी उसी आर्य जाति से सम्बन्धित हैं। संसार की जितनी भी गणयमान्य सभ्यताएँ हैं सभी आर्य सभ्यता की अंग है। यह सत्य है कि बिना भूतत्व विज्ञान को जाने हुए भी व्यक्ति कुशल हलवाहा हो सकता है। उसका काम इन बातों को जाने बिना भी चल जाता है कि भूमि की जिस तह पर वह खड़ा है उसमें मिट्टी के कौन कौन से तत्त्व हैं तथा इसके नीचे की तहें कौन सी तथा किस प्रकार की है। उसे यह जानने की भी उतनी आवश्यकता नहीं है कि मिट्टी में वे कौन पदार्थ है जो उसकी कृषि को तथा अन्त में उसे भी पोषण प्रदान करते हैं। यह भी सत्य है कि प्रत्येक उत्तम तथा उपयोगी नागरिक के लिये भी यह अत्यावश्यक नहीं है कि वह इतिहासज्ञ ही हो, उसे यह जानने की भी उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है जिस संसार में रहता है उसे यह वर्तमान रूप कैसे प्राप्त हुआ; मानव को आधुनिक स्थिति तक पहुँचने के लिये किन-किन स्थितियों से गुजरना पड़ा है, उसकी भाषा, उसके धर्म तथा उसके जीवन-दर्शन ने किन और कैसी मंजिलों को पार किया है और किस प्रकार इन सबका संकलित रूप इस योग्य हो सका है कि वह उसे आज सर्वोत्तम मानसिक एवम् बौद्धिक पोषण दे रहा है।

प्रत्येक जाति, समाज या समूह में एक वर्ग शिष्टों या यों कहें कि विशिष्टों का होता है, जिन्हें इस बात का आवश्यक ज्ञान होता है या होना चाहिये कि उनके पास जो कुछ है, जिस पर वे निर्भर कर सकते हैं या जिनका सहारा ले सकते हैं, उनमें सर्वोत्तम क्या है। यह बात न केवल नार्मनों, रोमनों के लिये ही सत्य है वरन् संसार की सभी सभ्यासभ्य जातियों के लिये भी सत्य है। हमारे वे उपकारक तथा पूर्वज भी इसके अपवाद नहीं थे जिन्होंने हमारे लिये अपने खून को पसीने में बदल कर इस संसार को इस रूप में कर दिया कि हमारे लिये आज इसमें नाना प्रकार के सुखोपभोग प्राप्त हैं। आप लोग विश्वास रक्खें कि यदि हमारे पूर्वजों ने परिश्रम न किया होता तो हमारा आज का जीवन कदापि इतना सुविधापूर्ण नहीं होता। हमारे वे पूर्वज ही सारी आर्य जाति के पूर्वज थे, उन्होंने हमारे लिये प्राथमिक शब्द स्वतः की, हमारे विचारों को काव्य रूप में अभिव्यंजित किया, हमारे लिये आकार संहिता एवम् विधि संहिता बनाया, हमारे देवताओं को जन्म दिया (कल्पना की) तथा देवों में जो परम देव हैं उसके प्रति भी हमारा ध्यान आकर्षित किया।

इस वर्ग में जाने का अधिकार उन सभी को है, जो इसमें प्रवेश करना चाहते है, जिनकी जिज्ञासा अपने अतीत में है, जिनमें विचारों के क्रमिक विकास के ज्ञान की प्यास हो, और जो पूर्वगामिनी बौद्धिक प्रतिभाओ के प्रति हार्दिक सम्मान रखते हों। वास्तव में उपरोक्त सभी गुण इतिहास काल के हैं, सच्चे इतिहासकारों के हैं जो अतीत की खोज के प्रेमी हैं, उस अतीत के जो बीत तो गया है परन्तु खो नही गया है।

तीसरी बात मैंने आपको यह समझाने का प्रयत्न किया कि किन कारणों से न केवल प्राच्य विद्यानुरागियो वरन् प्रत्येक शिक्षित युवक एवम् युवती को भी वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिये। यदि हम यह जानना चाहें कि हम आज जो कुछ हैं वह कैसे बने तो हमें वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिये। हमने आपको उस अनिवार्य अन्तर, उसके तथा तज्जनित परिणामों को भी आपके सामने रक्खा है। मैंने यह भी स्वीकार किया कि कुछ मानवीय विशेषताएँ ऐसी थीं जिनमे भारत के निवासी यूरोपियनों की तुलना में पीछे रह गये परन्तु साथ ही साथ आप लोगों को यह भी समझा दिया कि कुछ विशेषताएँ ऐसी भी थीं जिनमे भारतीय आर्य यूरोपियनों की तुलना में इतने आगे निकल गये थे कि यूरोपियनों को अनिवार्य रूप से भारत की गुरुता स्वीकार करनी पड़ी। यह भी सत्य है कि हम भारतीयों से उन गुणों को सीखने के स्थान पर उन गुणों को ही पलायनवादी तथा कायरतापूर्ण कहने लगे हैं।

चौथी बात, मुझे यह भय हुआ कि कहीं आप प्राचीन भारतीयों की बुद्धिमत्ता का स्तर आवश्यकता से अधिक ऊँचा न समझ बैठें, इसलिये मैंने अपना कर्तव्य समझा

कि आपको समझा दूं कि मैंने 'आदिम' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है, वह उस अर्थ से बिलकुल भिन्न है जिसमें नृतत्त्वशास्त्री 'आदिम' शब्द का प्रयोग करते हैं। मैंने आपको बताया कि 'आदिम भाषा' से मेरा तात्पर्य उस प्रथम मानव के मुख से निकली हुई भाषा से नहीं है जो अपने अंडे की दीवारों को तोड़कर अभी बाहर निकला हो और विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से अपने चारों ओर के विचित्र संसार का निरीक्षण कर रहा हो। हम वेद को आदिम इसीलिये मानते हैं कि कोई भी साहित्यिक कृति ऐसी नहीं है जो इसकी पूर्ववर्तिनी हो। वेद में जैसी भाषा पायी जाती है, उसमें जिस प्रकार की पौराणिक कथाएँ हैं, जैसा जीवन दर्शन है और जैसे धर्म का दर्शन होता है, उनमें जो दृश्यावली दृष्टिगत होती है, वर्षों में तो उसकी दूरी को कोई नाप नहीं सका। वेद में शिशु सुलभ विचार प्रणाली है, स्वाभाविकता है, सामान्यता है। यह सत्य है परन्तु यह भी सत्य है कि वेद में ऐसी भावनाओं का भी प्रकाशन हुआ है जो हम यूरोपियनों को भी उन्नीसवी शती में आधुनिक प्रतीत होती हैं और मजा यह है कि उससे अधिक प्राचीन साहित्यिक कृति का हमें नाम भी सुनने को नहीं मिला। मानव विचार धारा के इतिहास के विषय में जो महत्वपूर्ण सूचनाएँ हमें वेद ने दिया है वह वेदों की खोज के पूर्व हमारी कल्पना से भी परे थे।

इतना सब कुछ कह लेने के बाद भी हमारा मार्ग बाधा रहित नहीं हो सका है। वेद को ऐतिहासिक आधार मानने के विषय में भी आपत्तियां प्रगट की गयी हैं। उनमें से कुछ आपत्तियाँ तो महत्वपूर्ण और इसीलिये विचारणीय भी हैं और यदा कदा मैंने भी उन आपत्तियों से सहमति प्रगट किया है। कुछ अन्य आपत्तियाँ भी हैं जो हमें कुछ न कुछ सीखने का अवसर प्रदान करती हैं। उन पर विचार करने से हमें उस आधार को भी जाँचने का अवसर मिलेगा, जिस पर हम आज खड़े हैं।

वेद को ऐतिहासिक आधार मानने में पहली आपत्ति यह उठायी गयी है कि वेद में राष्ट्रीयता नहीं है और यह भारत के सभी निवासियों के विचारों का प्रकाशन नहीं करता। यह तो उन थोड़े से लोगों के विचारों का प्रकाशन मात्र है, जिन्हें हम ब्राह्मण कहते हैं। हम ऐसा भी नहीं कह सकते कि वेदों में सभी ब्राह्मणों के विचारों का प्रकाशन हुआ है। इसके विपरीत वेद तो केवल उन थोड़े से ब्राह्मणों की वाणी है जो पुरोहिती का व्यवसाय करते थे।

कोई आपत्ति अयुक्ति संगत मांग के आधार पर नहीं उठायी जानी चाहिये। जिन लोगों का यह कहना है कि वैदिक ऋचाएँ सम्पूर्ण भारत के जन-जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं या उस रूप में नहीं करतीं जिस रूप में (स्वयम् उन्हीं लोगों के अनुसार) बाइबिल यहूदियों का प्रतिनिधित्व करती है या होमर यूनानियों का प्रतिनिधि है, क्या उन लोगों

ने सोचा है कि वे किस बात की अपेक्षा करते हैं ?" मैं उनकी इस बात से इनकार नहीं करता, कर भी नहीं सकता कि वेदों में जिन ऋषियों की वाणी है सम्पूर्ण हिन्दू जाति के अनुपात में उनकी संख्या नगण्य ही है, परन्तु क्या यही बात ओल्ड टेस्टामेण्ट तथा होमर के काव्य के विषय में सत्य नहीं है ? क्या एक सच्चा इतिहासकार इसी प्रकार की आपत्ति उपरोक्त कृतियों के विषय में प्रगट नहीं कर सकता ?

इसमें सन्देह नहीं है कि जब 'सैक्रेड कैनन' के रूप में ओल्ड टेस्टामेंट का संकलन किया गया तो अधिकाश यहूदियों को उनका ज्ञान था, परन्तु जब हम आदिम यहूदियों की स्थिति की बात करते हैं, जब वे मेसोपोटामियाँ या मिश्र में रहते थे, तो हम देखते हैं कि उस समय के यहूदियों को उन ग्रन्थों का कोई ज्ञान नहीं था या बहुत कम ज्ञान था। ओल्ड टेस्टामेंट से यहूदियों के तत्कालीन जीवन का कोई परिचय नहीं मिलता। हमें इस बात का कोई पता नहीं लगता कि उनकी स्थानीय विशेषताएँ क्या थीं, तथा उनमें सामाजिक विभाजन कैसे थे। यही दशा होमर की भी है और वैदिक ऋचाओं की भी। यह पूर्ण सत्य है कि जब हम यूनान के इतिहास का अध्ययन करने चलते हैं तो हम इस आशा से तो कदापि अध्ययनरत नहीं होते कि हमें उस क्षेत्र में यूनान निवासियों की या यों कहें कि समूचे यूनान राष्ट्र की बौद्धिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का पूरा-पूरा चित्र मिलेगा। हमें तो झाँकियों पर सन्तुष्ट रहना पड़ता है और उसी की आशा से हम अध्ययनरत हुए भी रहते हैं। हम किसी भी राष्ट्र की पूरी जनता के बौद्धिक जीवन की स्थिति की ठीक ठीक जानकारी मध्य युग में भी नहीं पाते थे, आधुनिक युग में नहीं पाते हैं फिर प्राचीन युग की तो बात ही क्या है। हम कुछ राजाओं, उससे भी कम सेनापतियों और उससे भी कम कुछ मंत्रियों के ही बारे में तो जानते हैं। राष्ट्र इतने से ही तो नहीं बनता। उसमें हर वर्ग के लोग होते और सभी वर्गों की कौन कहे, एक ही वर्ग के अलग अलग व्यक्ति का बौद्धिक स्तर तथा बौद्धिक जीवन भिन्न होता है। उनके बारे में तो हम जो कुछ जानते हैं वह कुछ नहीं से थोड़ा ही अधिक है। उपरोक्त राजाओं, सेनानायकों तथा मंत्रियों के भी बारे में हम जो कुछ जानते हैं या जान पाते हैं, वह समूचे राष्ट्र का दृष्टिकोण न होकर तत्कालीन लेखकों का ही दृष्टिकोण तो होता है और ये लेखक उंगलियों पर ही गिने जाने की संख्या में तो होते हैं। जिन लेखकों की कृतिया हमें किसी काल के इतिहास से परिचित कराती हैं वे जनसंख्या में शायद १० लाख व्यक्ति के पीछे एक के अनुपात में भी नहीं होंगे।

मेरी उपरोक्त बात के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि लेखकों की संख्या छोटी होने से क्या, पढ़ने वालों की संख्या तो बड़ी होती थी परन्तु मैं यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि यह बात भी नहीं थी। मेरा विश्वास है कि यदि मैं अपने ही समय के पाठकों

की संख्या का आपके सामने वर्णन करूँ तो आप आश्चर्य करेंगे। प्राचीन काल में तो कुछ सुविधा प्राप्त वर्ग ही ऐसे थे जिनके जन पढ़ लिख सकते थे। एक सम्भावना थी कि जब कभी कोई व्यक्तिगत, सामूहिक व्रत, त्यौहार या यज्ञ इत्यादि होते थे तो इन धर्म ग्रन्थों के सुनने का अवसर प्रायः बड़ी संख्या के लोगों को मिला करता था। कालान्तर में थियेटर भी इस कार्य को सम्पादित करने लगे, परन्तु पाठक से जो तात्पर्य ग्रहण किया जाता है उसके अनुसार पाठकों की संख्या बहुत ही थोड़ी होती है। वास्तव में 'पढ़ने वालों' की संख्या में वृद्धि तो वर्तमान युग की देन है।

आधुनिक काल में पढ़ने वाले जितने अधिक हैं और पढ़ने की परम्परा जितने बड़े पैमाने पर चल रही है वैसा तो भूतकाल में कभी भी नहीं हुआ परन्तु आज भी यदि पुस्तक प्रकाशकों विक्रय लेखा भी आप देखें तो आपको अत्यधिक आश्चर्य होगा। आप देखेंगे कि जिन पुस्तकों के विषय में आप समझते होंगे कि इन्हें प्रायः सभी ने पढ़ा होगा, उनकी भी बिक्री बहुत कम हुई है। आप मैकाले द्वारा लिखित 'इंगलैण्ड का इतिहास' ले लें या 'डार्विन की ओरीजिन आफ स्पैसीज' को देख लें तो आप देखेंगे कि इन पुस्तकों की भी बहुत ही कम प्रतियां (जन संख्या की तुलना में) बिकी हैं। आपको पता चलेगा कि सवा तीन करोड़ की आबादी में बिकी हुई प्रतियों की संख्या दस लाख से भी कम है। पिछले दिनों जिस ग्रन्थ की बिक्री सबसे अधिक हुई है, वह है न्यू टेस्टामेंट का संशोधित संस्करण, परन्तु आप देखेंगे आठ करोड़ अंग्रेजी भाषियों में चालीस लाख से अधिक प्रतियां नहीं बिक सकी हैं। सामान्य सामयिक पुस्तकों को भारी सफलता से बेचा जा रहा है परन्तु उस पुस्तक के प्रकाशक तथा लेखक को पूर्ण सन्तोष प्राप्त हो जाता है जिनका तीन या चार हजार प्रतियों का संस्करण समय से ही बिक जाता है। यह स्थिति हमारे देश की है जहाँ साक्षरता का बाहुल्य है, किन्तु यदि आप दूसरे देशों की स्थिति पर ध्यान देंगे तो आपका आश्चर्य और भी बढ़ जायगा। आप रूस को ही ले लें तो आपको किसी भी ऐसे ग्रन्थ का नाम लेना कठिन हो जायगा जो वास्तविक रूप में राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता हो या जिसे उस देश के बहुसंख्यक लोग जानते भर हों, पढ़ने की बात तो दूर की है।

आप चाहे यूनान को ले लें या इटली को, पर्शिया को ले लें या बेबिलोन को किन्तु आपको होमर का काव्य ही एकमात्र ऐसा होगा, जिसे कुछ हजार लोग जानते हैं। इससे अधिक आप किसी अन्य ग्रन्थ का नाम ही नहीं ले सकते। हम यूनानियों तथा रोमनों को शिक्षित एवं शिक्षा प्रिय जाति कहते हैं। निस्संदेह वे थीं भी, परन्तु यूनानी तथा रोमन को आप जिस अर्थ में ग्रहण कर रहे हैं वह वास्तविक यूनानी या रोमन से बहुत भिन्न हैं। जिन्हें हम सब लोग यूनानी या रोमन मानते हैं और कहते हैं वे लोग तो केवल एथेन्स या रोम के नागरिक हैं परन्तु केवल एथेन्स या रोम

से ही तो यूनान और रोम देश नहीं बना। ये तो नगर मात्र हैं परन्तु इन नागरिकों के अतिरिक्त शेष यूनानियों और रोमनों के विषय में हम जानते ही क्या और कितना हैं ? इन नगरों में भी ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही थोड़ी होगी जो प्लाटो की वार्ता को या होरेस की कृति को जानते या समझ सकते हों। ऐसी कृतियों की रचना करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इतिहास क्या है ? अतीत की स्मृति ही तो है, वह सदा थोड़े से लोगों द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता रहा है। एक ही काल के करोड़ों व्यक्ति अनजाने अनदेखे और अनसुने आते और चले जाते हैं। केवल थोड़े से ही लोग ऐसे होते होते हैं जिन्हें वाणी का वरदान मिला होता है और वे अपने विचारों को मनोभावनाओं एवम् आदेशों को स्वकालीन अथवा विगत घटनाओं के धागों में पिरोकर सुन्दर सुसज्जित काव्य के रूप में प्रस्तुत करके अमर हो जाते हैं) वास्तव में वे अपनी कृति के रूप में जीवित ही रहते हैं और वे ही हमारे अतीत के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष साक्षी हैं।

अब यदि हम उतने प्राचीनकाल की बात करें जिसका प्रतिनिधित्व ऋग्वेद करता है तो हमें उस असंगठित भारत की कल्पना करनी होगी, जिस रूप में वह आज से तीन सहस्र वर्षों पूर्व था। कल्पना कीजिये कि एक व्यक्ति हिमालय पहाड़ को दूर से ही देखता है और उसके मन में यह विश्वास जम जाता है कि हिमालय पहाड़ बर्फ से ढके हुए कुछ उच्चशिखरों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वही स्थिति वैदिक साहित्य की भी है। दूर से देखने वालों को ये वैदिक ऋचाएँ उन्हीं हिमाच्छादित शिखरों की भाति दिखायी पड़ती है और लोग एक भ्रमपूर्ण धारणा बना बैठते हैं। ऐतिहासिक क्षितिज के उस पार के भारत को देखने का कोई प्रयत्न ही नहीं करता। जब हम कहते हैं कि ये ऋचाएँ हिन्दू धर्म, हिन्दू विचार एवम् हिन्दू परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं तो हम तीन हजार वर्ष पहले के भारत के उन थोड़े से ही लोगों की बात करते हैं जिनके मुख के रूप में वैदिक गायकों ने इनकी रचना की। जब हम आज के भारत की बात करते हैं तो हमारे सामने भारतकी उन करोड़ों जनता का चित्र होता है जो उस विशाल प्रायदीप में बसी हुई है, जो हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक तथा सिंध और गंगा की बाहों के बीच विस्तृत है। आप समझ लें यह क्षेत्र प्रायः उतना ही विशाल है जितना हमारा यूरोप। वेद कालीन भारतीय अभिनेताओं ने जिस रंगमंच पर अभिनय किया है वह सिंध की घाटी तथा पंजाब है जिसे ऋषियों ने सप्त सैंधव के नाम से अभिहित किया है। गंगा जल-सिंचित प्रदेश शायद ही उन लोगों को ज्ञात था। दक्षिण के प्रदेश की तो खोज ही नहीं हो पायी थी।

जब हम कहते हैं कि वैदिक ऋचाएँ उन थोड़े से जाग्रत एवम् उद्बुद्ध ऋषियों की रचनाएँ हैं न कि समूचे राष्ट्र के लोगों की, तो इसका क्या अर्थ होता है ? यह सत्य है कि वैदिक ऋषि पुरोहित थे, हम चाहें तो ऐसा कह सकते हैं। इससे भी इनकार नहीं किया

जा सकता कि उनके मंत्रों में सर्वत्र धर्म पौराणिकता तथा दार्शनिकता का बाहुल्य दिखायी पड़ता है, उनमें यज्ञ यजादिक के विषय में भी बहुत कुछ है परन्तु एक बार उस अतीत की ओर दृष्टि डाल कर विचार करेंगे तो आप इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि ये पुरोहित परिवार के ही बड़े, बूढ़े लोग थे। ऐसी स्थिति में अर्थात् परिवार या गाव का मुखिया होने की स्थिति में उन्हें परिवार की ओर से या गाव अथवा समाज की ओर से बोलने का पूरा पूरा अधिकार था। आप वशिष्ठ को पुरोहित कर लीजिये, परन्तु कृपया यह कल्पना कदापि न कर लीजिये कि वशिष्ठ उसी प्रकार से पादरी थे जैसे हमारे पादरी कार्डिनल मैनिंग[1]।

वेदों की ऐतिहासिकता के विरुद्ध जितने भी तर्क दिये गये हैं, उनमें से अधिकांश परिकल्पनात्मक हैं, फिर भी उन पर पूर्ण उदारता से विचार कर लेने के पश्चात् हम उस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद में जो भी ऋचाएं हैं उनकी भाषा पूर्ण है, उनके छन्द श्रम साध्य हैं, उनमें देवताओं एवम् मानवों के वर्णन हैं, यज्ञों एवम् युद्धों के वर्णन उनमें प्रकृति के विभिन्न अंगों एवम् दृश्यों के वर्णन हैं, सामाजिक परिवर्तनों की भी बातें हैं, कर्त्तव्य और आनन्द की भी प्रेरणायें हैं, दार्शनिक एवम् नैतिक विचार लड़ियाँ हैं। इतने अधिक विषयों पर उस सुदूरस्थ भारत की स्पष्ट ध्वनि जब हमारे कर्ण कुहरों में प्रवेश करती है जहाँ से इससे पूर्व की कोई भी ध्वनि नहीं सुनायी पड़ी थी, तो इस रहस्य एवम् आश्चर्य पूर्ण उपलब्धि पर अत्यधिक प्रसन्न होने के बदले हम उसकी आलोचनाएँ करने लगते हैं और कहने लगते हैं कि इन ऋचाओं में क्या रक्खा है, ये न तो अपने राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती हैं, न अपने समय का और सब से बढ़ कर बात तो यह है कि इनमें आदि-मानव की सभ्यता का तो परिचय ही नहीं मिलता। इनमें न तो पत्थर पूजकों का विवरण है, न पापुआ जैसे लोगों का और न बुशमेन का। इन आलोचकों का कहना है कि इनमें तो उन्हीं लोगों का परिचय है कि जिन्हें हम समझ सकते हैं, जिनसे हम सहानुभूति कर सकते हैं जो मानव बुद्धि की ऐतिहासिक प्रगति की दृष्टि प्राचीन यहूदियों एवम् यूनानियों से बहुत अधिक पीछे नहीं हैं।

मैं एक बार फिर दुहरा दूँ कि यदि आप 'आदिम' शब्द का अर्थ उन लोगों से लगाते हों जो उसी समय पृथ्वी पर रहने लगे हों जब इस पृथ्वी का बर्फीला युग समाप्त होकर पृथ्वी रहने के योग्य हुई, तो वैदिक ऋषि अवश्य ही आदिम नहीं थे। यदि हम 'आदिम' से उन लोगों को समझते हों जिन्हें न तो अग्नि का पता था, जो अनपढ़ थे,

---

[1] कार्डिनल मैनिंग (१८०८-९२) पहले अंग्लिकन चर्च के प्रधान अधिकारी थे, बाद में वे रोमन कैथोलिक चर्च में सम्मिलित हो गये। राजनीति में तो वे प्रसिद्ध थे ही, नैयायिक रूप में भी उनकी ख्याति कम न थी। —अनुवादक

पत्थरों के हथियारों से काम लेते थे, कच्चा मास खाते थे, तब भी हम वैदिक गायकों को आदिम नहीं कह सकते। यदि 'आदिम' शब्द को उन लोगों के अर्थ में ग्रहण किया जाय जो भूमि को जोतना बोना नहीं जानते थे, जिनके निवास सुनिश्चित नहीं होते थे, जिनमें न तो राजा होता था और न जिनमें यज्ञोत्सवों का ही विधान था साथ ही जिनमें विधि विधान भी किसी प्रकार का नहीं था तब भी हम वैदिक वक्ताओं को आदिम नहीं कह सकेंगे। हाँ यदि हम लोग आदिम का अर्थ उन लोगों से लगाएँ जो किसी भी प्रकार साहित्यिक अवशेष छोड़ जाने वालों में सर्वप्रथम थे, जिन्होंने इस बात का प्रमाण अपनी साहित्यिक कृतियों में सुरक्षित रख छोड़ा है कि वे कभी इस पृथ्वी पर रहते थे तब और केवल तब हम कह सकते हैं कि वैदिक ऋषि आदिम थे, वैदिक भाषा आदिम थी, वैदिक धर्म आदिम था और इन सभी को मिलाकर वे ऐसी किसी भी भाषा, धर्म एवम् काव्य से पुराने थे जिनका पता अब तक हमें लग सका है।

वैदिक साहित्य को ऐतिहासिक महत्व देने में जब कोई आपत्ति नहीं मिल सकी तो भी अकारण आलोचकों ने एक महती और अन्तिम आपत्ति उठायी। ऐसे लोगों ने बल देकर कहना प्रारम्भ किया कि वैदिक काव्य यदि सम्पूर्ण रूपेण विदेशी नहीं है तो उस पर विदेशी प्रभाव और विशेषकर सेमेटिक प्रभाव तो अवश्य ही है। संस्कृत के विद्वानों ने वेद के अनेक आकर्षक तत्त्वों का वर्णन किया है। उन्हीं के अनुसार वेद का सर्वाधिक आकर्षक तत्त्व यह है कि यह केवल धार्मिक विचारों की अति प्राचीन स्थिति से ही हमें परिचित नहीं कराता वरन वैदिक धर्म ही एकमात्र ऐसा धर्म है जिसने अपने सम्पूर्ण विकास काल में कोई भी बाह्य प्रभाव नहीं ग्रहण किया तथा संसार के सभी धर्मों की तुलना में वह सर्वाधिक शताब्दियों तक निर्बाध रूप से चलता रहा है। जहाँ तक प्रथम तत्त्व का प्रश्न है हम जानते है कि यही पता लगाना अति कष्टसाध्य है कि रोम के प्राचीन धर्म में कितने तत्व इटैलियन हैं तथा कितने यूनानी, यूट्रास्कन और फोनीशियन प्रभावों की तो बात ही छोड़ दीजिये। हम यह भी जानते हैं कि यदि हम ग्रीक धर्म पर विचार करना प्रारम्भ करें तो यह निश्चय करना कठिन हो जायगा कि उसमें कितना उनका स्वयम् घर का है और कितना मिश्र, पोनीशिया तथा सीदिया से आया है। उस धर्म में अनेक देशों के विचारों की किरणें स्पष्ट दिखायी पड़ती है। हिब्रू लोगों के धर्म में भी बेबीलोनियन तथा फोनीशियन प्रभाव स्पष्ट है और कालन्तर में उसमें पर्शियन प्रभाव भी स्पष्ट रूपेण परिलक्षित होने लगता है। समय की गति के साथ हम ज्यों ज्यो आगे बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों अनेक देशों के विचारों का सम्मिश्रण होता जाता है और त्यों त्यों हमारे लिये यह निर्णय करना कठिन होता जाता है कि संसार की सम्मिलित बौद्धिक प्रगति में किस देश ने कितना योग दिया है। केवल भारत मे ही, विशेषकर वैदिक भारत में ही हमें इस विशेषता के दर्शन होते है कि वहां का धार्मिक पौधा वहीं की भूमि में उगा है और उसने अपना समस्त

पोषण वहीं की पृथ्वी एवम् वहीं की वायु से लिया है। चूंकि वैदिक धर्म बाह्य प्रभावों से एक दम वंचित रहा या यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि चूंकि वह बाह्य प्रभावों से पूर्ण रक्षित एवम् अछूता रहा अतः वह ऐसी सुशिक्षाओं से भरा पुरा है जैसी धर्म के छात्रों को अन्यत्र कहीं से भी नहीं मिल सकती।

अब देखना यह है कि वेद के आलोचकों को इसके विरुद्ध क्या कहना है। उनका कहना है कि वैदिक ऋचाओं में बेबिलोनियन प्रभाव अति स्पष्ट है। इस बात को निराधार सिद्ध करने के लिये हमें कुछ विस्तार में जाना पड़ेगा। क्योंकि देखने में यद्यपि यह आपत्ति छोटी है परन्तु इसके परिणाम महत्त्वपूर्ण हो सकते है।

ऋग्वेद में एक ऋचा है जिसका अनुवाद इस प्रकार है:— "हे इन्द्र तुम मुझे एक उज्वल रत्न दो, एक गऊ दो, एक घोड़ा दो, आभूषण दो और साथ में ही एक सोने का मन (mana) दो।"

यह सोने का 'मन' क्या है ? यह शब्द वेद में अकेला फिर कभी नहीं प्रयुक्त हुआ है। वेद के विद्वानों ने इसे लैटिन मिना (mina) से सम्बद्ध किया है, ग्रीक भाषा का 'म्ना' (mna) तथा फोनीशियन भाषा का 'मानाह' (Manah)भी इसी के समान है। ये सब एक प्रकार के बांट (weight) है जो ब्रिटिश म्यूजियम में रक्खे जाने के लिये बेबिलोन तथा निनेवेह से लाये गये है।

यदि विद्वानों द्वारा जोड़े गये उपरोक्त सम्बन्ध को मान लिया जाय तो इससे यह बात पूर्णतः सिद्ध हो जायगी कि उस समय के भारत में तथा बेबिलोन में पूर्ण व्यापारिक सम्बन्ध थे, यद्यपि इसको मान लेने के बाद भी वैदिक साहित्य एवम् विचार पर सेमेटिक प्रभाव नहीं सिद्ध होता। परन्तु ऐसा व्यापारिक सम्बन्ध होने की बात तो कभी प्रमाणित नहीं हुई। जिस ऋचा का अनुवाद ऊपर की पंक्तियों में दिया गया है उसमें 'मन' शब्द को अर्थसंगति समझ पाना कठिन है, साथ ही ऋग्वेद में यह शब्द एक ही बार प्रयुक्त भी हुआ है। मेरा विचार है कि इस स्थान पर 'मन हिरण्य' का अर्थ होना चाहिये 'सोने का भुजबन्ध।' यह मान लेना ऐतिहासिक आलोचना सिद्धान्त के एक अप्रतिकूल होगा कि भारतीयों ने एक शब्द और केवल एक शब्द ही और सो भी एक बार ही प्रयोग करने के लिये बेबिलोन की व्यापारिक भाषा से लिया। पूरे संस्कृत साहित्य में 'मन' शब्द का प्रयोग फिर से नहीं हुआ है। पूरे संस्कृत साहित्य में किसी अन्य बेबिलोनियन बाँट का नाम नहीं आया और यह भी सम्भव नहीं प्रतीत होता कि मांगने वाले ने गाय, घोड़ा के साथ एक विदेशी बाँट के बराबर सोना भी माँग बैठा जो प्रायः साठ गिनी के बराबर होता है।

परन्तु केवल इतने ही कर्ज की बात थोड़े ही कही गयी है। भारतीयों ने बेबिलोनिया वालों से और भी कुछ लिया है ऐसा आलोचकों का मत है। लोगों का कहना

है कि चन्द्र राशिमाला के भारत में सत्ताईस नक्षत्र माने जाते हैं। सत्ताईस नक्षत्रों की यह राशि-माला भारतीयों ने यूनान बेबिलोन से लिया[1] है। अब आप लोग देखें कि बेबिलोन की राशि माला सूर्य पर आधारित थी। अत्यधिक शोध किये गये हैं, क्यूनीफार्म आलेखों में कितनी ही अन्य वस्तुओं का पता लगा परन्तु बेबिलोन में चन्द्र राशि माला की गंध तक नहीं मिली। यदि एक बार इसे भी मान लें कि भारतीयों की चन्द्र राशि माला (Lunar Zodiac) बेबिलोनियन मत वालों में भी प्रचलित थी, तो भी यह मानने का कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता कि आकाश को २७ भागों में बाँटने की सामान्य बात को भारतीयों ने बेबिलोन से लिया। यह बात सभी जानते मानते हैं कि वैदिक यज्ञ यजादिक सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा पर ही अधिक निर्भर करते हैं। एक वैदिक ऋषि का ही कथन है कि 'उसने चन्द्रमा की नियुक्ति ऋतु निर्णय के लिये की, सूर्य उसको अस्त होते देखता है।' ऋग्वेद की ही एक ऋचा में सूर्य और चन्द्रमा को सम्बोधित किया गया है 'वे अपनी ही शक्ति से चलते है, एक दूसरे के बाद चलते हैं (या पूर्व से पश्चिम को चलते हैं)। खेलते हुए शिशुओं के समान वे यज्ञ के चतुर्दिक घूमते हैं। एक तो सदैव ही संसारो को देखा करता है और दूसरा बार बार जन्म लेकर ऋतुओं का निर्धारण करता है।

'जब वह जन्म लेता है तो प्रतिदिन नवीन सा दिखायी पड़ता, है। दिन की सूचना सा देता हुआ वह ऊषा के पूर्व ही चल देता है। अपने आगमन से वह देवताओं का यज्ञ भाग निर्धारित करता है। चन्द्रमा लम्बी आयु का देने वाला है।'

इससे यह पता चलता है कि हिन्दुओं के मतानुसार चन्द्रमा ही ऋतुओं का निर्धारक है वह देवताओ के यज्ञ भाग का निर्धारक है। वास्तविक बात यह है कि प्राचीन काल के हिन्दुओं के मस्तिष्क में यज्ञों का एवम् ऋतुओं का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध बन गया था कि उन्होंने यज्ञ कराने वाले पुरोहित को ऋत्विज (ऋतुओं के अनुसार यज्ञ कराने

---

[1] इस विषय में कुछ पाश्चात्य विद्वानो के मत विचारणीय हैं।

'हिन्दुओ का क्रान्ति मडल जान पडता है इन्हीं का है। अरब वालो ने इसे भारत से लिया—' Cole Brook ने सन् १८०७ में स्थिर किया कि 'हिन्दू नक्षत्र और अरब मजिल (नक्षत्र) चीन से लिये गये है' प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान Bist ने सन् १८६० ई० में लिखा है कि 'चीन की सिड प्रणाली (नक्षत्र प्रणाली) चीन की ही है'—जर्मन विद्वान् लासेन।

'अरब मजिल अरबो ने भारत से लिया' प्रोफ़ेसर वेबर ने १८६०,६१ में प्रमाणित किया।

'हिन्दू लोग इस प्रकृति के नहीं थे कि आकाश की वे सब बातें देखते और राशि चक्र स्थिर करते—' अमेरिका के प्रोफ़ेसर ह्विटने। —अनुवादक

वाला) भी कहना प्रारम्भ कर दिया और यह नाम पुरोहित के सामान्य नामों में से हो गया।

वेद में ऐसे यज्ञों का विधान है जो नित्य प्रातः और सायम् किये जाते हैं जैसे पंचमहायज्ञ या अग्निहोत्र। इनके अतिरिक्त ऐसे भी यज्ञों का विधान है जो शुक्ल पक्ष की द्वितीया तथा पूर्णिमा को किये जाते हैं। फिर ऋतुओं के अनुसार किये जाने वाले यज्ञों का विधान है। प्रत्येक ऋतु में चार महीने होते हैं। अर्द्धवार्षिक यज्ञों का विधान है जो दोनों संक्रान्तियों (कर्क और मकर) पर होते हैं। उनमें और भी कितने प्रकार के यज्ञों का विधान है जिनमें से कुछ वसन्त ऋतु (? मास) में होते हैं जब जौ गेहूँ के पकने का समय है और कुछ शरद् ऋतु में होते हैं जब चावल के पकने का समय होता है।

आप तनिक विचार करें। हिन्दू लोगों के सर्वथा नवीन समाज की रचना प्रारम्भ हो रही थी। उनकी समझ में विभिन्न देवता ही विभिन्न ऋतुओं के रक्षक थे अतः प्रत्येक ऋतु के प्रारम्भ में रक्षक देवता के लिये यज्ञ करने का विधान बनाया गया। यही देवता शान्ति और कानून के रक्षक भी माने जाते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दुओं ने ऋतु व्यवस्था को ही एक प्रकार से सामाजिक संगठन का आधार बनाया था परन्तु कभी उनकी इस व्यवस्था को देखकर कभी कभी तो यह कह पाना भी कठिन हो जाता है कि इन नाना प्रकार के यज्ञों के विधान में देवपूजा का उद्देश्य प्रमुख था या वार्षिक पंचांग निर्माण करने का।

आप लोग जानते हैं कि चन्द्रमा के भ्रमण मार्ग को सत्ताईस भागों में बाँट कर नक्षत्रों की कल्पना की गयी है। ऐसी दशा में दिन, पक्ष, मास तथा ऋतुओं को जानने का सर्वाधिक सरल उपाय यही तो था कि प्रतिदिन चन्द्रमा के उदय स्थान को ही एक स्थान मान लिया जाय और उसे एक नक्षत्र की संज्ञा दे दी जाय। यही तो स्वाभाविक था। अब आप पूछना चाहेंगे कि उन लोगों ने सूर्य भ्रमण पथ का सहारा क्यों नहीं लिया? बात यह है कि सूर्योदय से सूर्यास्त तक तो हम सूर्य के अतिरिक्त किसी तारे या तारक पुंज को देख नहीं पाते तो स्थान निर्धारण कैसे सम्भव होता? उदासीन निरीक्षक के लिये यह निश्चित कर पाना तो असम्भव ही था कि किस दिन आकाश के किस स्थान में सूर्योदय या सूर्यास्त हुआ। चंद्रोदय चूंकि रात में होता है अतः उसका स्थान निर्धारित करना अपेक्षा कृत सरल है क्योंकि चन्द्रोदय जहां भी होगा वहां या उसके आस पास कोई तारा अवश्य ही मिल जायगा। ऐसी दशा में पूरे भ्रमण पथ को घड़ी का डायल चन्द्रमा को घड़ी की सुई और उन सत्ताइस नक्षत्रों को अंक मान लें तो हमारा काम चल जाता है। इतनी कल्पना से ही हमारे दिन, पक्ष, मास, ऋतु सभी का निर्धारण हो जाता है। चंद्रोदय से चंद्रोदय तक के दिनों की गणना करना उन प्रारम्भिक जनों के लिये भी कठिन

जान पड़ा होगा। उन्हें इतना ही तो करना था कि वे आकाश मंडल में सत्ताइस स्थान नियत कर लें और वहीं के समीपस्थ तारे को मील का पत्थर मान लें। फिर जिस किसी भी ग्रह नक्षत्र की गतिका निर्धारण करना हो, उसकी गति को इन्हीं चिह्नों से निर्धारित कर लें। यदि एक मकान के चतुर्दिक् एक बड़ा सा वृत्त बनाकर उसके सत्ताईस समभाग करके प्रत्येक विभाजक विन्दु पर एक खम्भा गाड़ दिया जाय तो यह आदिम वैदिक निरीक्षण शाला का सुन्दर नमूना हो जायगा। इसके पश्चात् उन्हें इतना ही देखना शेष रह गया कि किसी विशेष दिन को चन्द्रमा (बाद में सूर्य का हिसाब भी उसी ढंग से लगाया जाने लगा) किन दो खम्भों के बीच उदय हुआ और किन दो खम्भों के बीच अस्त हुआ इसमें इतने ही नियंत्रण की आवश्यकता है कि निरीक्षक अपना स्थान न बदलें।

यदि हम यह जानना चाहें कि अति प्रारम्भिक काल में हमारी दिन, मास एवम् ऋतु गणना किस प्रकार प्रारम्भ हुई थी तो हमारी नक्षत्र शास्त्र की उपरोक्त कल्पना अत्यधिक अपूर्ण न होगी। वास्तविकता यह है कि तत्कालीन विद्वानों से हमें अत्यधिक आशा नहीं करनी चाहिये। आज का एक सामान्य चरवाहा भी सूर्य चन्द्रमा, सितारों एवम् ऋतुओं के विषय में जानता है, उससे अधिक तत्कालीन विद्वान् शायद ही जानते रहे होंगे। वे लोग उन्हीं तथ्यों का निरीक्षण करते थे, जो उनके लिये अत्यावश्यक थे। अतः किसी अनावश्यक आकाशीय तत्व के निरीक्षण की आशा उनसे नहीं की जानी चाहिये।

यदि भारत में ही रहकर हम चन्द्रमा के उदय एवम् अस्त होने वाले स्थानों को समीपस्थ तारे की सहायता से निश्चित कर सकते थे, चन्द्रमा के समस्त पथ को इस प्रकार सत्ताईस भागों में बाँट सकते थे, और प्रत्येक स्थान का नामकरण भी कर सकते थे या दूसरी तरफ यदि चन्द्रपथ को सत्ताईस भागों में बाँटे बिना वैदिक यज्ञों का विधान ही नहीं किया जा सकता था तो यह परिकल्पना तो एकदम अज्ञानतापूर्ण होगी कि इस सामान्य से कार्य के लिये भारतीय ऋषि बेबिलोनिया में गये, जहाँ की भाषा से उनका परिचय भी नहीं था, जहाँ से उनका व्यापारिक सम्बन्ध भी नहीं था। वहाँ जाकर उन्होंने बेबिलोनिया के नक्षत्रशास्त्र को सीखा, सीख कर आये तब भारत में उसका प्रचार हुआ और तब भारतीय यज्ञों का विधान किया गया और उसके पश्चात् उन्होंने वैदिक ऋचाओं की रचना की। हमको यह कभी भी न भूलना चाहिये कि जो बात एक देश में स्वाभाविक है वही बात दूसरे देश में भी स्वाभाविक हो सकती है। ऐसी दशा में जब तक कोई विश्वसनीय प्रमाण न मिले तब तक हम ऐसा क्यों मान बैठें कि भारत का वेद कालीन नक्षत्रशास्त्र विदेश से आया था या विदेश से प्रभावित था।

इस विषय के जितने भी अनुरागी है वे जानते है कि अरबों में अट्ठाईस मंजिलें (नक्षत्र) होते है। ऐसी दशा मे ऐसा न मानने का कोई कारण नहीं मिलता कि जिस

तथ्य को हजरत मुहम्मद देख सकते थे, उसे भारतीय भी देख सकते थे। मैं यह स्वीकार करता हूँ और मि० कोलब्रुक का भी यही मत है कि अरब वालों ने मंजिलों (नक्षत्रों) का निर्धारण भारत से ही लिया।

चीनियों ने भी चन्द्रभ्रमण पथ में स्थान-निर्धारण किया था। पहले उनके स्थानों की संख्या चौबीस थी और कालान्तर में इसी संख्या को बढ़ाकर अट्ठाईस कर दिया गया। इस स्थान पर भी हमें बिपाट, लासेन तथा कुछ दूसरे विद्वानों की हाँ में हाँ मिलाकर ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि भारतीयों ने चीन में जाकर इस विधान को सीखा। चीन वालों ने २४ से शुरू किया था और २८ तक पहुंचे। हिन्दुओं ने सत्ताईस से शुरू किया और अट्ठाईस तक पहुँचे। चीनियों के अट्ठाईस नक्षत्रों में से सत्रह ही ऐसे हैं, जिनका साम्य भारतीय नक्षत्रों से है। यदि कोई विदेशी वैज्ञानिक प्रणाली अपनायी जाती है तो खण्ड रूप से नहीं वरन् सम्पूर्ण रूप में अपनायी जाती है। इसके अतिरिक्त भारतीयों एवम् चीनियों के बीच आज से तीन हजार वर्षों पूर्व आवागमन भी नहीं था। तब उन्होंने चीनियों की प्रणाली को कैसे अपनाया। चीनी साहित्य में ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी के पूर्व भारत का नाम कहीं भी नहीं आया है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में आया हुआ चिनाम् शब्द यदि चीनियों के ही लिये आया हो।जो विवादास्पद है। तो भी यह एक महत्वपूर्ण एवम् इसीलिये विचारणीय तथ्य है कि वैदिक साहित्य में यह शब्द एक बार भी नहीं प्रयुक्त हुआ है।

जब यह बात स्वीकार की जा चुकी कि ईसा पूर्व से एक हजार पूर्व तक भारतीयों एवम् चीनियों में आवागमन नहीं था तो आलोचकों ने एक और पैंतरा बदला। उन्होंने कहा कि यह विद्या चीन से सीधे भारत में नहीं आयी। वहाँ से ग्यारह सौ वर्ष ईसा पूर्व में वह पश्चिमी एशिया में पहुँची और या तो सेमेटिक जातियों ने इसे अपने में प्रचलित किया या ईरानियों ने। आलोचकों का यह भी कहना है कि इस नवीन जाति के लोगों ने इस प्रणाली को एक नवीन रूप दिया, जिसमें निरीक्षण के नियमों में पहले से कम वैज्ञानिकता थी। चन्द्रमा के उदय एवम् अस्त के स्थान के समीप में उन्होंने तारों का निर्धारण करने के स्थान पर तारकपुञ्जों का निर्धारण किया। कई मामलों में तो उन्होंने उन स्थानों के निर्धारण में भी परिवर्तन कर दिया ताकि वे लोग इन्हीं के सहारे क्रान्ति-वृत्तीय ग्रहपथ भी निर्धारित कर सकें। इसी रूप में हिन्दुओं ने इसे ग्रहण किया। उन्हीं लोगों का यह भी कहना है कि भारतीयों को ग्रहों एवम् उनके पथों का ज्ञान क्योंकि पहले से था अतः उक्त प्रणाली को सुधारकर हिन्दुओं ने उसे पूर्णतः अपना बना लिया और तभी से इसे ऐतिहासिक रूप मिला। पश्चिमी एशिया में भी यह विद्या बनी रही और वहीं से इसे अरबों ने सीखा। मैं उन नक्षत्र शास्त्रियों के प्रति पूर्ण सम्मान प्रगट करता हूँ जिन्होंने उपरोक्त मत प्रगट किया है, फिर भी मैं कहूँगा कि यह सब कुछ काल्पनिक है,

पूर्ण काल्पनिक है और काल्पनिक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस मत का समर्थन किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता। श्री कोलब्रूक ने कहा है कि 'भारतीयों ने समय की गणना करने के लिये उस प्रारम्भिक काल में भी आवश्यक नक्षत्र शास्त्र की कल्पना कर लिया था। उनके इस मत से असहमत होने का कोई भी आधार कहीं भी नहीं मिलता। उन्होंने ही आगे कहा कि 'हिन्दुओं का समय चक्र (चाहे वह धार्मिक रहा हो या सामाजिक) अधिकाश में सूर्य और चन्द्रमा पर आधारित था, उन्होंने इन तेजोमय पिंडा का पूर्ण निरीक्षण किया था और इस निरीक्षण में उन्हें इतनी सफलता मिली थी कि चन्द्रमा के भ्रमणपथ का जितना सही निर्धारण उन्होंने किया वैसा यूनानी लोग कभी भी नहीं कर सके। उन्होंने समूचे क्रान्ति वृत्त को सत्ताईस और अट्ठाइस भागों में विभक्त किया था और यही उनका एक दिन था। उनके इसी विभाजन को अरब वालों न ग्रहण किया।

वैदिक साहित्य में दी गयी जल प्लावन की कथा के कारण भी बहुत से लोगों का कहना है कि वैदिक साहित्य पर बेबिलोन का या सेमेटिक प्रभाव स्पष्ट है। हम लोग संक्षेप में इस धारणा पर भी विचार करेंगे।

आप सभी लोग जानते हैं कि संसार की जितनी भी जातियाँ हैं सभी में जल-प्लावन की कथा किसी न किसी रूप में प्रचलित है। ऐसी कल्पना तो हम नहीं कर सकते कि यह कथा एक जाति ने किसी दूसरे जाति से ग्रहण की होगी, परन्तु सर्वाधिक आश्चर्य की बात है कि वैदिक ऋचाओं में न तो किसी सार्वदेशिक जलप्लावन की चर्चा है और न ही किसी स्थानीय जलप्लावन की, यद्यपि परवर्ती साहित्य में यह कथा अनेक बार अनेक उद्देश्यों से आती है। पुराणों में तो इस कथा को पूरा महत्व दिया गया है और यह कथा भारतीयों के धामिक विश्वास का एकमात्र मुख्य अंग बन गयी है।

विष्णु के अवतारों की संख्या दस है। उसमें से तीन अवतार तो जलप्लावन से ही सम्बन्धित है और ये तीन अवतार हैं मच्छ, कच्छ और बाराह के। इन तीनों ही अवतारो में भगवान विष्णु ने जलप्लावन से मानव जाति की रक्षा की है।

ऐसी स्थिति मे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि जलप्पावन की कथा हिन्दुओं ने कहीं बाहर से ली है।

जब वैदिक साहित्य का ज्ञान अधिकाश लोगों को हो गया था उसके बाद अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों के लिये जाने के समय यह कथा भारत में आयी। ब्राह्मण ग्रन्थों में न केवल मनु और मत्स्य की कथा है वरन् कच्छप और बाराहावतार की भी कथाएँ हैं। इससे एक बात तो साफ प्रगट हो जाती है कि भारतीयों ने इन कथाओं को तो बाहर से नहीं ही लिया। मैं आप लोगों के समक्ष जलप्लावन की कथा के कुछ विशिष्ट अंश

रक्खूंगा। यह कथा सतपथ ब्राह्मण में दी गयी है। इन अंशों के प्रकाश में आप स्वयम् निर्णय कर सकते हैं कि सतपथ ब्राह्मण की कथा में तथा जेनेसिस[1] में दी गयी कथा में कितना और क्या साम्य है। इसी से आप इस धारणा के भी सत्यासत्य का निर्णय कर सकेंगे कि हिन्दुओं ने जलप्लावन की कथा को सेमेटिक पड़ोसियों से सीखा।

सतपथ ब्राह्मण में (१, ८, १) यह कथा इस प्रकार दी गयी है :—

१ 'जैसी कि हिन्दुओं में आज भी प्रथा है, मनु के हाथ धोने के लिये पानी लाया गया।

'हाथ धोते समय उनके हाथ में एक मछली आ गयी।'

२ 'मछली ने मनु से कहा कि "आप मुझे रख लें, मैं आपको बचाऊँगी"

'मनु ने कहा "किस विपत्ति से तू मुझे बचाएगी ?"

मछली ने कहा "शीघ्र ही बाढ़ आने वाली है, उसमें सभी प्राणी नष्ट हो जायेंगे मैं उस विपत्ति से आपकी रक्षा करूंगी"।

'मनु ने कहा "मैं तुझे कैसे रक्खू ?"

३ 'मछली ने कहा "जब तक हम छोटी रहती हैं, हमारे विनाश की अधिक सम्भावना रहती है क्योंकि बड़ी मछलियाँ ही छोटी मछलियों को खा जाती हैं। अतः आप मुझे एक घड़े में रख दें। जब मैं बड़ी हो जाऊँ तो आप एक गड्ढे में पानी भर कर मुझे डाल दें। जब मैं और भी बड़ी हो जाऊं तो आप मुझे समुद्र में डाल दें और तब तक मैं विनाश से बचने योग्य हो जाऊँगी"।

४—'वह मछली ऐसी जाति की थी जो शीघ्र बढ़ती है, अतः वह भी शीघ्र ही बड़ी हो गयी। तब उसने कहा "अमुक वर्ष में बाढ़ आवेगी। अतः आप एक नौका बना लें और जब नौका बनकर तैयार हो जाय तो आप मेरा ध्यान करें। जब बाढ़ आवे तो आप नौका में बैठ जायँ। मैं आपकी रक्षा करूँगी।"

५—'मनु ने मछली को रक्षित रक्खा। नौका बना कर उन्होंने मछली का ध्यान किया। जब बाढ़ आयी तो वे नौका में बैठ गये। उसी समय मछली तैरती हुई वहाँ आयी। मनु ने नौका की रस्सी उसकी पूँछ से बाँध दी और वह उत्तर के पर्वतों की ओर चल पड़ी।

६—"मछली ने कहा," मैंने आपको बचा दिया है। आप नौका को पेड़ से बाँध दें। आप पानी से सम्बन्ध बनाये रहें। जब पानी घटने लगे तो आप भी उसी के सहारे नीचे उतरते जायँ। मनु ने वैसा ही किया। इस प्रकार तमाम प्राणियों में अकेले मनु ही शेष रह गये।

---

[1] जेनेसिस—बाइबिल की प्रथम पुस्तक —अनुवादक

७—'अब मनु भगवान की प्रार्थना करते हुए इतस्ततः भ्रमण करने लगे। अकेलापन मिटाने के लिये उनके मन में संतति की इच्छा जागृत हुई। अतः उन्होंने पाक-यज्ञ करना आरम्भ किया। उन्होंने पानी में ही दुग्ध, दधि एवम् घी डालना आरम्भ किया। एक वर्ष बाद उसमें से एक स्त्री निकली। उसके बदन से पानी टपक रहा था और उसके चरणों में घी जम गया था। मित्र और वरुण उस स्त्री से मिलने आये।

८—उन्होंने उस स्त्री से कहा, "तुम कौन हो?"

उसने कहा, "मैं मनु पुत्री हूँ"।

उन्होंने कहा, "तुम ऐसा कहो कि तुम हम लोगो की हो"

उसने कहा, "जिसने मुझे उत्पन्न किया है मैं उसी की हूँ"

तब उन्होंने उसे अपनी बहन बनाना चाहा। इस पर वह कुछ-कुछ राजी हुई, परन्तु फिर वह मनु के पास चली गयी।

९—मनु ने उससे कहा, "तू कौन है?"

उसने कहा, "मैं आपकी पुत्री हूँ"

मनु ने कहा, "तुम मेरी पुत्री कैसे हुई?"

उसने उत्तर दिया, "आपने जो बलि पानी में डाली थी, उसी से मेरी उत्पत्ति हुई है। मैं यज्ञ-निःसृत स्वर्गीय प्रसाद हूँ। यदि आप मेरे साथ यज्ञ करें तो आपको बहुत से पशु और अनेक संततियाँ मिलेंगी। आप मुझसे जो भी मागेंगे, वही पावेंगे"। अतः मनु ने उसके साथ यज्ञ सम्पादन किया।

१०—'मनु उसके साथ भ्रमण करते रहे। वे संतति की कामना से श्रम भी करते जाते थे और प्रार्थना भी। उस स्त्री से जो संतति हुई वह मानव कहलायी। मनु ने उससे जो भी माँगा पाया। वह इडा थी। इडा को प्रसन्न रखकर जो मनुष्य यज्ञकरता है उसके सभी मनोरथ सफल होते हैं।'

निस्सन्देह यह विवरण जलप्लावन का ही है और इस कथा से मनु का कार्य बहुत कुछ वैसा ही है जैसा ओल्डटेस्टामेंट के केनोवा का, परन्तु यदि आप इनमें समानताएँ देख रहे हैं तो असमानताओं का भी तो विचार करें। आप इन असमानताओं का क्या अर्थ लगावेंगे। यदि यह कथा हिन्दुओं ने सेमेटिक पड़ोसियों से लिया तो इतना तो स्पष्ट ही है कि उन लोगों ने ओल्डटेस्टामेंट से नहीं लिया, क्योंकि यदि ऐसा होता तो ये असमानताएँ क्यों होतीं। यह हो सकता है कि सेमेटिक जातियों के किसी और साधन से यह कथा ली गयी हो, क्योंकि इसे अप्रमाणित करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यदि इस प्रकार का आदान सही भी होता तो यही एक ऐसा विवरण है जो संस्कृत ने सेमेटिक जातियों से लिया, परन्तु क्या इसीलिये समूचे साहित्य का महत्व कम कर देना ठीक होगा?

कच्छप और वाराहवतार की कथा का सम्बन्ध भी वैदिक साहित्य से जोड़ा जा सकता है, क्योंकि तैतिरीय संहिता में लिखा है कि :—

'पहले पृथ्वी पर पानी ही पानी था। कहीं किसी ठोस वस्तु का नाम तक न था। समस्त जीवों के स्वामी प्रजापति ने वायुरूप से संचरण किया। उन्होंने इस पृथ्वी को देखा और स्वयम् वाराह रूप धारण कर उसे जल के ऊपर उठाया। समस्त भौतिक वस्तुओं की रचना करने वाले विश्वकर्मा के रूप में उन्होंने पृथ्वी को साफ किया। फिर चारों ओर भूमि ही भूमि दिखाई पड़ने लगी, जो अपने दीर्घ विस्तार के लिये पृथ्वी के नाम से पुकारी जाने लगी।'

सतपथ ब्राह्मण में भी कच्छपावतार की कथा की ओर संकेत करते हुए इस प्रकार लिखा गया है :—

'कच्छप रूप धारण कर प्रजापति सब जीवों को पृथ्वी पर लाये, अर्थात उन्होंने इन सबकी रचना की। इसीलिये उन्हें कर्म भी कहा जाता है। वे वास्तव में आदित्य थे।'

'कठोपनिषद् में भी एक वाक्य ('पानी ने सबका विनाश कर दिया था, केवल मनु रह गये थे') इस प्रकार का आया है, जिसका सम्बन्ध जलप्लावन से जोड़ा जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जल-प्लावन के बाद वैदिक सहायता से पृथ्वी पर पुनः सृष्टि होने की बात हिन्दुओं को ज्ञात थी और इसी ज्ञान को विष्णु के अवतारों से सम्बन्धित करके नयी कथाएँ गढ़ ली गयीं।

जब हम एक ही जलप्लावन के अनेक विवरणों का विश्लेषण करते हैं जो पृथ्वी की विभिन्न जातियों में विभिन्न रूप से प्रस्तुत किये गये थे तो हम सरलता से यह बात ज्ञात हो जाती है कि ये सभी विवरण किसी एक ही ऐतिहासिक घटना के नहीं हैं। हमें तो प्रतीत होती है कि मानो ये विवरण उन बाढ़ों के हैं जो प्रति वर्ष वर्षाकाल में उत्पात मचाया करती हैं।

यदि यह अनुमान सत्य हो तो हम सरलता से कह सकते हैं कि चूंकि बाढ़ें सभी देशों के लिये स्वाभाविक हैं, इसलिये विवरणों में न्यूनाधिक समानता भी अस्वाभाविक नहीं है। यदि यह सिद्ध भी कर दिया जाय कि जिस रूप में जलप्लावन की कथा भारतीयों में प्रचलित है वह विदेशी है तो भी उसका प्रभाव परवर्ती साहित्य पर ही पड़ेगा न कि ऋग्वेद की ऋचाओं पर।

भारत पर बेबिलोन का प्रभाव दिखाने के लिये और भी बातें कही गयी हैं परन्तु वे तो और भी आधारहीन हैं। हम देखते हैं कि जिस समय की चर्चा हम लोग कर रहे हैं उसमें प्राचीन काल में भारत का सम्बन्ध न तो चीन से था और न पर्शिया, पार्थिया

(२) यूनानियो ने साहित्यक लेखों का विचार कब किया और लिखने के लिये उन्होंने किन सामग्रियों का सहारा लिया ?

इन दोनों सवालों से तथा इनके उत्तर में जो कुछ कहा गया, उनसे यूनानी साहित्य के समुन्नत युग पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा। यूनान के इतिहास में आधिकाश बातें स्वतः स्पष्ट हैं और जो बातें अन्धकार में भी थीं उन पर भी काफी प्रकाश पड़ चुका है। इस इतिहास में इस तथ्य को पूर्ण स्वीकृति मिल चुकी है कि आयोनियन जाति[1] वालो ने फोनीशिया वालों से वर्णमाला सीखा। उन लोगों ने अपने अक्षरों को फोनीशियन अक्षर ही कहा, यहा तक कि वर्णमाला शब्द के लिये यूनानियों में जो अल्फाबेट (Alphabet) शब्द प्रचलित हैं वह भी फोनीशीयन ही हैं। हम इसका अनुमान सरलता से कर सकते है कि फोनीशीया वालों ने आयोनियनों को वर्णमाला का ज्ञान कुछ तो इसलिये कराया होगा कि उनके स्वयम् के व्यापार में सुविधा हो अर्थात् उनके साथ व्यापारिक इकरारनामे वगैरह लिखे जा सकें और कुछ इसलिये कराया होगा कि वे लोग भी फोनीशीया वालों द्वारा बनाए गये समुद्री नकशे को प्रयोग में ला सकें। आप को स्मरण रखना चाहिये कि मध्ययुगीन नाविकों के लिये ये नकशे कितने उपयोगी होते थे। ठीक उसी प्रकार प्राचीन युग में भी इन नकशों के बिना समुद्र में दूर तक जाने का साहस कोई कर ही नहीं सकता था। इन नकशों को पेरिप्लस कहते थे, जिसका अर्थ होता था 'पृथ्वी के चारों ओर नाव या जहाज द्वारा यात्रा करना।' आज हम साहित्य से जो अर्थ लगाते हैं वहा तक पहुंचने में तो बहुत बड़े कदम की आवश्यकता थी। यह बात सर्वविदित है कि जर्मनी के लोग विशेष कर उत्तरी जर्मनी के लोग कब्रों पर स्मारकों पर लिखने के लिये उन संकेतों को काम में लाते थे जिसे हम रुन्स (Runes—प्राचीन ट्यूटनिक जातियों की वर्णमाला के संकेतात्मक अक्षर) कहते है, परन्तु साहित्यिक कृतियों की तो बात ही और थी। यदि माइलेटस (नगर विशेष) या अन्य राजनैतिक तथा व्यापारिक केन्द्रों में रहने वाले थोड़े से आयोनियन्स लोग लिखना जानते भी थे तो लिखते किस सामग्री से थे या किस वस्तु पर लिखते थे ? उससे भी महत्वपूर्ण बात है कि उस समय में पाठक कहा थे ? जब आयोनियन्स ने लिखना शुरू किया तो वे चमड़े के टुकड़ों पर लिखते थे जिन्हें वे लोग डिप्थेरा कहते थे। डिप्थेरा से चलकर जब उन्होंने भेंड़ बकरियों के सुखाए हुए चमड़े पर लिखना शुरू किया तब भी साहित्यिकों के लिये साहित्य रचना करना कुछ आसान काम न रहा होगा।

जहा तक हम लोग जान सके हैं आयोनियन्स लोग ईसा पूर्व की छठीं शताब्दी मे लिखना जान गये थे और इसके विपरीत चाहे जो कुछ भी कहा जाय परन्तु वुल्फ का

---

[1] यूनानी जाति की तीन बड़ी शाखाएँ मानी जाती हैं : १—आयोनियन्स, २—डोरियन्स और ३—एचियन्स। —अनुवादक

मत आज भी सर्व मान्य है। डुल्फ का मत था कि आयोनियन्स लोगों का साहित्य गद्य लेखन से प्रारम्भ हुआ था।

उस समय में लिखना एक महान् प्रयास के रूप से था और इस महान् प्रयास का प्रयोग महान कार्यों के ही लिये होता था। अतः सर्व प्रथम हम जिस चर्म लेख का पता पाते हैं वह थामरे की पुस्तकों के रूप में जिन्हें ग्रीजीसिस या पेरियोडोस कहते थे। इस पुस्तक में नगरों और देश में इतस्ततः भ्रमण करने वालों का पथ प्रदर्शित किया गया था। जो ये पुस्तकें नाविको का पथ प्रदर्शन करने के लिये लिखी गयी थीं, उन्हे पेरिप्लस कहते थे। इन्हीं स सम्बन्धित लेखो में उनकी भी गणना है जो इस बात की सूचना देती थीं कि विभिन्न नगरों की नीव कब और कैसे या किसके द्वारा पडी। इस प्रकार की पुस्तके एशिया माइनर में ५वीं तथा ६वीं शताब्दी मे पायी जाती थीं और उनके प्रस्तुतकर्ताओं को लोगोग्राफी या लोग्योई या लोगोपोयिई (Logographıor, logıoı or Logopoıo) कहते थे। इसी प्रकार कविता लिखने वालो को एओइडोई (Aoıdoı) कहते थे। इन्ही लोगों को हम यूनानी इतिहासकारों का अग्रगामी या पथ प्रदर्शक कह सकते हैं। हेरोडोटस को इतिहास का जनक समझा जाता है और वह इन लिखित सामग्रियों का प्रयोग प्रायः इतिहास से साधन के रूप में करता था। हेरोडोटस का समय ४४३ वर्ष ईसा पूर्व है।

अभी तक हमने जितनी लेखन सम्बन्धी बातें कही है वे सब एशिया माइनर की है। नगर परिचय पुस्तिकाओं ने धीरे धीरे जीवन परिचय पुस्तको का दार्शनिक लेखो का स्वरूप लेना प्रारम्भ किया। इन्हीं दार्शनिक लेखो के प्रस्तोता के रूप में एनेक्सिमैण्डर का नाम (६१०-५४७ ई० पू०) हमारे सामने आता है। यह आयोनियन जाति का था। साथ ही हमें फेरिकिडस (५४० ई० पू०) का पता चलता है जो सीरिया का निवासी था। इन नामों की सहायता से हम इतिहास के प्रकाश पूर्ण क्षेत्र में आ जाते है। एनेक्सिमैण्डर एनैक्सिमेनस का गुरू था, एनैक्सिमेनस एनैक्सेगोरस का गुरू था और एनैक्सेगोरस पेरिकलीज का गुरू था। पेरिकलीज के समय तक लेखन कार्य सर्वमान्य रूप से कला बन चुका था। इसी समय से यूनानियो का मिश्र के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध हुआ और मिश्र से यूनानी लोग पेपिरस (कागज का प्रारम्भिक रूप) का आयात करने लगे। इस प्रकार से लेखन का आधार मिल जाने स यूनानी लेखकों को बड़ी ही उत्साह-दायिनी प्रेरणा मिली। स्किलस के समय तक आते आते लिखने की भावना का इतना पर्याप्त प्रचार हो गया था कि स्वयम् उसने अपने लेखो म इसकी चर्चा कला के रूप में किया है और यह बात भी निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि सैमोस के रहने वाले पेसिस्ट्रेटस तथा पालीक्रेटस ने ईसा पूर्व ५२५ के आसपास सर्व प्रथम यूनानी पाण्डुलिपियों का संग्रह किया।

इस प्रकार बुल्क के दो साधारण प्रश्नों ने यूनानियों के प्राचीन साहित्य के इतिहास को एक क्रम में बाध दिया। कम से कम उसके प्रारम्भ का तो निश्चय ही हो गया।

यदि हम देखते हैं कि केवल दो प्रश्नों के उत्तर मात्र से यूनानी साहित्य का इतिहास क्रम बद्ध हो गया और उसके प्रारम्भकाल का पता चल गया, तो संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने वाले छात्र इन्हीं प्रश्नों पर क्यों न विचार करें?

१—किस समय में भारतीयों ने वर्णमाला सीखी?

२—इस वर्णमाला का साहित्यिक उपयोग कब से प्रारम्भ हुआ?

समझ में नहीं आता कि इन प्रश्नों पर विचार करने का ध्यान लोगों को क्यों नहीं आया। वैदिक साहित्य को लेकर जिस दीर्घकालीन तक वाद विवाद का सूत्रपात् हुआ था, उसमें बहुत दिनों तक इन प्रश्नों पर सम्यक् विचार नहीं किया गया और इसका परिणाम यह हुआ कि प्राचीन संस्कृत साहित्य की काल निर्धारण सम्बन्धी उलझनें ज्यों की त्यों बनी रह गयीं और न तो उसका समय निरूपण ही सम्भव हो सका और न उसका पूर्वापर सम्बन्ध ही।

सम्थाभाव के कारण यहा पर थोड़े से ही तथ्यों को प्रस्तुत कर सकना सम्भव हो गया। भारत में कोई भी ऐसा लेख (चाहे वह शिला पर हो या ताम्रपत्र पर) नहीं मिलता जिसे ईसा पूर्व की तीसरी शती के मध्य के समय के पूर्व का माना जा सके। ये लेख भी बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं जो अशोक महान् के समय में उसी के आदेश से लिखे गये थे। अशोक चन्द्रगुप्त महान् का पौत्र था जो सेल्युकस नाइकेटर का समकालीन था। यह चन्द्रगुप्त का ही दर्बार था, जिसमें राजदूत के रूप में मेगास्थनीज रहता था। इसी समय से हमें ऐतिहासिक भूमि पर खड़े होने का अवसर मिलता है। इसके पूर्व का जो कुछ है वह एक ऐसे अन्धकार से आवृत्त है कि उसमें यत्र तत्र ही एकाध प्रकाश किरणें दिखाई पड़ती हैं जिनमे तत्कालीन भारतीय इतिहास का सम्पूर्ण भाग प्रकाशित नहीं हो पाता। यह बात सर्व मान्य है कि इन शिला लेखों को लिखवाने वाले अशोक का शासन काल ईसा पूर्व २७४ से ईसा पूर्व २३७ तक है।

इन लेखों में दो वर्णमालाओं का प्रयोग किया गया है—एक लिपि दाहिने से बाएँ को लिखी गयी है और इसे देखने मात्र से स्पष्ट हो जाता है कि यह लिपि सेमिटिक वर्णमाला में है और इसे भारतीयों ने आर्मीनियन लिपि से लिया था। दूसरी वर्णमाला भी सेमेटिक ही है जिसे भारतीयों ने अपनी सुविधा को ध्यान में रखकर एक स्वतंत्र रूप दे दिया है जो पूर्णतः भारतीय बन गया है। दूसरी लिपि को भारतीयों ने अधिक

अपनाया और भारत की तमाम वर्णमालाओं का श्रोत यही वर्णमाला है। इसी सेमेटिक वर्णमाला से कुछ और वर्णमालाएँ भी निकली हैं जिनका प्रचलन भारत में तो नहीं हुआ परन्तु बौद्ध धर्म प्रचारकों के साथ बाहरी देशों में वे प्रचलित हुई। यह भी सम्भव है कि तामिल वर्णमाला भी उसी सेमेटिक वर्णमाला से निकली हो जिससे भारतीयों की अन्य वर्णमालाएँ ली गयी हैं, चाहे वे दाहिने से बाँए (उर्दू की तरह) या बाँए से दाहिने (नागरी की तरह) ओर लिखी जाती हो।

इस प्रकार हमारे सामने एक तथ्य यह प्रगट हुआ कि ईसा पूर्व की तीसरी शताब्दी के पूर्व भारत में किसी भी काम के लिये किसी भी प्रकार की वर्णमाला का प्रयोग नहीं होता था। यहा तक कि इस समय के पूर्व जो स्मारक भी बनाए गये थे, उन पर भी कोई लिखावट नहीं है।

इसी प्रकार एक और तथ्य भी हमारे सामने है और वह यह कि इस समय से काफी पहले से भारत में व्यापार सम्बन्धी लिखा पढ़ी होती थी। जब मेगस्थनीज ने कहा था कि 'भारतीयों को वर्णमाला का ज्ञान नहीं है' तो उसने ठीक ही कहा था। उसने यह भी कहा था कि 'भारतीय विधियों का कोई लिखित रूप नहीं है और न्याय के मामले में स्मरण शक्ति ही मुख्य सहायिका होती है'। अब हम दूसरा पक्ष भी देखेंगे। आप सभी जानते हैं कि मेगस्थनीज सिल्यूकस का राजदूत था, सिल्यूकस सिकन्दर का सेनापति था। सिकन्दर के एक दूसरे सेनापति का नाम था नियारकस। अपने प्रत्यावर्तन क्रम में सिकन्दर ने अपने सैन्य को दो भागों में बाट दिया था। एक भाग को वह स्वयम् अपने साथ रख कर बेबिलोन तक पहुँचा था और दूसरे भाग ने नियारकस की अध्यक्षता में सिंध नदी के मुहाने से होते हुए जल मार्ग पकड़ा था। पंजाब से सिंध तक पहुँचने की अवधि में नियारकस को भारतीयों को देखने, सुनने एवम् परखने का अवसर भी मिला था और आवश्यकता भी पड़ी थी। यह बात ३२५ वर्ष ईषा पूर्व की है। नियारकस का कहना है कि 'भारतीय लोग भली भाति जमाई हुई रुई के टुकड़ों पर अपने पत्र लिखते थे'। नियारकस का कहना भी असत्य नहीं है। जिन पत्रों की चर्चा नियारकस ने की है वे व्यापारिक अनुबन्धों के रूप में होते थे। ये अनुबन्ध प्रायः फोनीशीयनों या मिस्र निवासियों या उनके जहाज के साथ भारतीय व्यापारियों द्वारा किये जाते रहे होंगे परन्तु इससे मेगस्थनीज का कथन गलत नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इन अनुबन्धों को साहित्य में स्थान नहीं दिया जा सकता। आगे चल कर नियारकस ने स्वयम् ऐसी बात कहा है जिससे मेगस्थनीज का कथन प्रमाणित होता है। वह स्वयं कहता है कि 'भारतीयों के कानून लिखित नहीं होते'। इस समय में जो यूनानी भारत आये थे उनके अनुसार भारत की सड़कों पर मील के पत्थर लगे हुए थे, उनके पशुओं को विभिन्न चिह्नों से दागा जाता था और उन पर सख्याएँ पड़ी रहती थीं। इन सब

बातों के प्रकाश में हमें यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्य के पहले से ही भारतीयों को लिखना पढ़ना आता था परन्तु साहित्य के लिये इस ज्ञान के उपभोग का प्रारम्भ नहीं हुआ था। इस प्रकार का प्रयत्न सर्व प्रथम अशोक के समय में ही किया गया।

ऐसी स्थिति में हमें एक आश्चर्यजनक तथ्य पर विचार करना पड़ता है। वह तथ्य यह है कि हमारे सामने इस प्रकार के दो तथ्य आते हैं (और दोनों की मान्यता सिद्ध है) जो प्रथम दृष्टि में ही एक-दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं। एक ओर यह सिद्ध हो चुका है कि ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी के पूर्व भारतीयों को लेखन कला का ज्ञान ही नहीं था, साथ ही दूसरी ओर यह भी सिद्ध हो चुका है और हमें इस पर विश्वास करने को भी कहा जाता है कि एक हजार वर्ष ईसा पूर्व के और भी पहले न केवल वैदिक ऋचाओं की रचना ही हो चुकी थी वरन् मंत्रों, ब्राह्मण ग्रन्थों, एवम् सूत्रों में उसका विभाजन भी सम्पूर्ण हो गया था। ये दोनों विरोधी बातें हैं और इसीलिये दोनों का सत्य होना असम्भव-सा प्रतीत होता है।

केवल ऋग्वेद की ही विशालता को ही देखिये। दस मण्डल है। प्रत्येक मंडल में विभिन्न देवों के एक या एकाधिक सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त में कम से कम दस ऋचाएँ हैं। इस प्रकार इस विशाल निधि में एक हजार सत्रह (कुछ प्रमाणों के आधार पर १०२८) कविताएँ हैं जिनमें दस सहस्र पाँच सौ अस्सी छन्द हैं और इन छन्दों में एक लाख तिरपन हजार आठ सौ छब्बीस शब्द हैं। इन छन्दो की योजना पूर्णतः परिष्कृत है। ये १५०० वर्ष ईसा पूर्व में रचे गये और १५०० ई० में लेख बद्ध किये गये। आप लोगों के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर यह विशाल भंडार बिना लिखित रूप प्राप्त किये तीन सहस्र वर्षों तक पूर्ण सुरक्षित कैसे रहा? इस प्रश्न का उत्तर सही होते हुए भी उन लोगों को अविश्वसनीय प्रतीत होगा, जिन्होंने भारतीयों के चरित्र के एक विशेष अंग को समझने का प्रयास नहीं किया है।

यदि आपके उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में मैं आपसे कहूँ कि इतना विशाल वैदिक साहित्य तीन सहस्र वर्षों तक केवल भारतीयों की स्मरण शक्ति के सहारे जीवित एवम् पूर्ण सुरक्षित रहा तो कदाचित आप लोगों का मस्तिष्क इस पर विश्वास करने को तैयार न होगा। आप लोग इस बात को सुन कर आश्चर्य चकित हुए बिना नहीं रहेंगे, रह ही नहीं सकते। परन्तु बात एकदम सत्य है और जिसे इसमें किसी भी प्रकार की शंका हो, वह स्वयमेव अपनी शंका का समाधान कर सकता है। आज भी, जब कि वेद की रचना पाच सहस्र वर्ष (कम से कम) प्राचीन हो चुकी है, यह स्थिति है कि यदि इस साहित्य की समूची सामग्री नष्ट हो जाय तो भी यह जीवित रहेगा। आज भी भारत में ऐसे श्रोत्रिय ब्राह्मण मिल सकते हैं जिन्हें आदि से अन्त तक समूचा साहित्य कंठस्थ है। ये

भारतीय विद्वान् प्रारम्भ से ही वेद को कंठस्थ करना प्रारम्भ करते हैं और सो भी गुरु-मुख से सुनकर न कि पुस्तकों के बल पर। मुद्रित संस्करणों को तो वे प्रामाणिक मानते ही नहीं। स्वयम् आद्योपान्त वेद को कंठस्थ करके वे अपने शिष्यों को भी उसी रूप में देते हैं और इस प्रकार की गुरु शिष्य परम्परा से इतना विशाल साहित्य अब तक अक्षुण्ण बना हुआ है। स्वयम् अपने ही निवास पर मुझे ऐसे छात्रों से मिलने का सौभाग्य मिला है जो न केवल समूचे वेद का मौखिक पाठ कर सकते थे वरन् उनका पाठ सन्निहित सभी आरोहा-वरोहों से पूर्ण होता था। उन लोगों ने जब भी मेरे द्वारा सम्पादित संस्करणों को देखा और जहाँ कहीं भी उन्हें अशुद्धि मिली तो बिना किसी हिचकिचाहट के उन्होंने उन अशुद्धियों की ओर ध्यान आकर्षित किया। मुझे आश्चर्य होता है उनके उस आत्मविश्वास पर, जिसके बल पर वे सहज ही उन त्रुटियों को प्रकाश में ला देते थे जो हमारे संस्करण में यत्र तत्र रह गयी थीं।

अभी मुझे इस विषय पर कुछ और भी कहना है। वैसे तो वेद की पाण्डुलिपियों में पाठ भेद का स्थान ही बहुत कम है, परन्तु कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं जिनमें पाठ भेद है और सहस्राब्दियों से यह पाठ भेद निरन्तर गुरु शिष्य परम्परा में ज्यों के ज्यों चले आ रहे हैं। हम लोगों की परम्परा दूसरी है। यूनानी तथा लैटिन भाषा में पाठान्तर को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु भारत की गुरु शिष्य परम्परा में ये पाठान्तर ज्यों के त्यों बने रहते हैं। यही कारण है कि मैंने अपने कुछ मित्रों को लिखा है कि वे भारत से इन पाठान्तरों की सूचना मुझे दें और यह सूचना प्रकाशित संस्करण से न लेकर किसी श्रोत्रिय से लें।

इस समय हम तथ्यों की बात कर रहे हैं न कि सिद्धान्तों की। हम उन तथ्यों की बात कर रहे हैं जिनकी प्रामाणिकता का पता लगाया जा सकता है। अब भी भारत में विद्वान हैं जिन्हें न केवल वेद वरन् वेद के अतिरिक्त अन्य साहित्य भी कंठस्थ हैं। वे अब भी समूचे वेद को अक्षरशः ठीक-ठीक लिख सकते हैं। आप मुद्रित संस्करणों से मिलान करके देख सकते हैं कि वे न केवल ठीक-ठीक पाठ ही कर सकते हैं, वरन् उनका एक-एक आरोहावरोह भी ठीक-ठीक उच्चारित होगा।

वास्तविकता यह है कि कंठाग्र करने की यह क्रिया दृढ़ अनुशासन के बीच सम्पन्न होती है। शिक्षा वर्तमान शिक्षा के समान नहीं होती, क्योंकि हमारी आजकल की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ही बदल गया है। अब हमारे छात्र जीवनयापन की सुविधाओं को प्राप्त करने के लिये विद्या पढ़ते हैं। भारतीय छात्रों की तत्कालीन शिक्षा में जीवन यापन की सुविधा प्राप्त करने का उद्देश्य गौण था न कि प्रमुख। प्रमुख भावना तो होती थी ज्ञान प्राप्ति और ज्ञान प्राप्ति का यह कार्य पवित्र कर्तव्य समझ कर किया जाता था। हमारे एक

भारतीय मित्र है। वैदिक साहित्य में उनकी प्रशंसनीय गति है। उनका कहना है कि जिस छात्र को ऋग्वेद का छात्र बनना होता है, उसे आठ वर्ष तक निरन्तर गुरु गृह में निवास करना होता है। इसी अवधि में उसे ऋग्वेद के दस मण्डल कंठस्थ करने पड़ते हैं। जब इन दस मण्डलों की सारी ऋचाएँ कंठस्थ हो जाती हैं तो उसे ब्राह्मण ग्रन्थों को पढ़ना पड़ता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन कर उस छात्र को साहित्य का अध्ययन करना पड़ता है, जिसे अरण्यक कहते हैं। अरण्यक के पश्चात् गृह्य सूत्रों का अध्ययन होता है और अन्त में उच्चारण, व्याकरण, शब्द बिचार, नक्षत्र शास्त्र तथा यज्ञों पर के आद्योपान्त विवरण पढने पड़ते हैं।

ऋग्वेद के दस मण्डलों की पंक्तियों की संख्या है तीस सहस्र और प्रत्येक पंक्ति में बत्तीस शब्दांश (Syllables) विद्यार्थी को अनध्याय[1] के दिनों को छोड़कर आठ वर्षों के शेष दिनों में निरन्तर पढना पड़ता है। चान्द्र वर्ष ३६० दिनों का होता है। इस प्रकार उसे आठ वर्षों में दो हजार आठ सौ अस्सी दिन मिलते है। इनमें से छुट्टी के (एक दिन प्रति सप्ताह के हिसाब से) ३८४ दिन निकाल दीजिये तो शेष रहे २४९६ दिन। अब इसी संख्या से ३०,००० को विभक्त कर दीजिये। इस तरह औसतन १२ पंक्ति प्रतिदिन के हिसाब से उस छात्र को कंठस्थ करना पड़ता है, ध्यान रहे कि इस कंठस्थीकरण की क्रिया के साथ उसे पिछले पाठों का भी अभ्यास करते रहना पड़ता है।

यह स्थिति तो आज की है परन्तु मुझे भय है कि यही स्थिति अब और अधिक दिनों तक नहीं बनी रहेगी। इसी भय से मैं उन सभी लोगों से आग्रह करता हूँ कि चाहे वे पहले से ही भारत में रह रहे हों या निकट भविष्य में नागरिक प्रशासन सेवा के अन्तर्गत भारत में नियुक्त होने वाले हों, वे इस बात का ध्यान अवश्य रक्खें रहें कि इन सजीव पुस्तकालयों (श्रोत्रिय ब्राह्मणों) से जो कुछ भी सीख सकें सीख लें। मेरा आग्रह रहता है कि वे इस कार्य को अपने पवित्र कर्तव्य के रूप में करें। आप लोग विश्वास रक्खें कि इन श्रोत्रियों के न रहने पर प्राचीन संस्कृत का अधिकाश महत्वपूर्ण भाग अलभ्य हो जायगा और सदा के लिये लुप्त हो जायगा।

अब आइये, तनिक पीछे घूम कर देखें। अब से प्रायः १००० वर्षों पूर्व इत्सिंग नाम का एक चीनी विद्वान् था। वह बौद्धमतानुयायी था। उसने इस उद्देश्य से भारत की यात्रा की थी कि वहाँ जाकर संस्कृत का अध्ययन करें ताकि वह इस योग्य हो सके, कि बौद्ध

---

[1] जिसे हम छुट्टी कहते है उसे वे लोग अनध्यन कहते थे। उनके मत में सात दिन अध्ययन होता था यथा, अष्टमी गुरु हन्ताच चतुर्दशी, अमावस्या सर्वहन्ता च परिवा पाठ विवर्जयेत्। —अनुवादक

धर्म के संस्कृत ग्रन्थों को अपनी भाषा में अनूदित कर सकें। ह्वेनसाग के भारत से लौटने के प्रायः पचीस वर्षों बाद अर्थात् सन् ६७१ ई० में वह चीन से चला और भारत के ताम्रलिप्ति नगर में सन् ६७३ ई० में पहुँचा। वह नालन्दा विश्वविद्यालय में गया। वहाँ रह कर उसने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और ६६३ ई० में चीन लौटा। सन् ७१३ ई० में उसकी मृत्यु हुई।

चीनी भाषा में इत्सिंग का लिखा हुआ एक ग्रन्थ अब भी प्राप्य है। इस ग्रन्थ में उन सभी बातों का विवरण दिया है, जो उसने भारत में देखा, सुना और समझा था। उसने न केवल अपने सह धर्मियों का ही वरन् ब्राह्मणों का भी वर्णन किया है।

बौद्ध भिक्षुओं के विषय में उसका कहना है कि जब वे १५ नियमों का पाठ करना सीख चुकते हैं तो वे मातृचेत के चार सौ पदों को कंठस्थ करते हैं। इसके पश्चात् इसी कवि के एक सौ पचास पदों को कंठाग्र करना पड़ता है। इन समस्त पदों को कंठस्थ कर लेने के पश्चात् वे प्रसिद्ध बौद्धग्रंथ का अध्ययन आरम्भ करते है। इसके साथ ही साथ वे जातकमाला को भी कंठस्थ करते जाते हैं। जातकमाला में महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्मों का वर्णन किया गया है। जिसे इत्सिंग दक्षिणी सागर के टापुओं के नाम से अभिहित करता है, उनके विषय में वह लिखता है कि 'मैं भारत से होता हुआ यहां आया। दक्षिणी सागर में दस से भी अधिक टापू हैं। वहां के बौद्ध विद्वान जातकमाला का मौखिक पाठ तो कर ही लेते हैं, सामान्य जन भी इस ग्रंथ को आद्योपान्त सुन सकते हैं। अभी जातकमाला का अनुवाद चीनी भाषा में नहीं हुआ है'।

वह लिखता है कि जातकमाला की एक कहानी को गेय पदों में व परिवर्तित करके संगीत बद्ध किया गया था तथा जनसाधारण के समक्ष उसे वाद्यों एवम् नृत्यों की संगति में उपास्थित किया गया था। वास्तव में यह एक कथा थी, जिसमें बौद्धों का रहस्यवाद अपनी पूर्णता को पहुचा हुआ था।

इसके पश्चात् इत्सिंग ने भारतीय शिक्षा प्रणाली का वर्णन किया है। वह कहता है कि ६ वर्ष के बच्चे को साधारणतः ४६ अक्षर तथा दस सहस्र संयुक्ताक्षर याद करने पड़ते थे और प्रायः यह कार्य ६ मास में पूरा हो जाता था। यदि किसी मंत्र के एक चरण में ३२ शब्दांश माने जायँ तो ६ मास का यह कार्य ३०० पदों के बराबर होता था। यह पाठ अतिप्रारम्भ में माहेश्वर द्वारा पढ़ाया हुआ कहा जाता है। आठ साल की अवस्था से विद्यार्थी पाणिनी का व्याकरण पढ़ना शुरु कर देता है। इस व्याकरण का अध्ययन आठ मास में समाप्त होता है। इस व्याकरण में १००० सूत्र हैं।

इसके पश्चात् धातु प्रकरण आरम्भ किया जाता है। इसमें १००० श्लोकों को कंठस्थ करने के समान परिश्रम करना पड़ता था। दस वर्ष की अवस्था से १२ वर्ष की अवस्था तक बालकों को धातु प्रकरण पढ़ना पड़ता है।

जब उनकी अवस्था १५ वर्ष की हो जाती है तो उन्हें व्याकरण के सूत्रों की व्याख्या समझाई जाती है। यह व्याख्या ५ वर्षों में समाप्त होती है। इतना लिख चुकने के बाद इत्सिंग ने अपने देशवासियों को सलाह दी है, जो भारत में विद्याध्ययन करने के उद्देश्य से आना चाहते थे। वह सलाह देता है कि "यदि चीन वासी भारत में विद्याध्ययन के लिये जाएँ तो उन्हें सर्व प्रथम संस्कृत व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये और बाद में उन्हें अन्य विषयों का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिये। यदि वे इस क्रम से नहीं चलेंगे तो उनका सारा श्रम व्यर्थ जायगा। भारत में जाकर जो कुछ भी पढा जाय उसे कंठस्थ कर लेना श्रेयस्कर होता है यद्यपि इस कार्य में बड़ी प्रतिभा की आवश्यकता होती है। . ..उन्हें दिन-रात श्रम करना पड़ता है। उनका एक क्षण भी नष्ट नहीं होने पाता। उन्हें कनफुशस[1] के समान बनना पड़ता है जिसने चीन के सर्वाधिक प्रसिद्ध एवम् पवित्र ग्रंथ को इतनी अधिक बार पढा कि उस ग्रंथ की जिल्द तीन बार उखड़ गयी'। इत्सिंग ने प्रसिद्ध चीनी अध्यापक सू-शी का उदाहरण दिया है जो प्रत्येक पुस्तक को १०० बार पढ़ा करता था। इसके बाद उसने एक चीनी कहावत दी है जिसका अनुवाद इस प्रकार होगा :—'किसी बैल के शरीर पर के बालों की संख्या सहस्रों में गिनी जाती है परन्तु यूनीकार्न नामक हारेण के एक ही सींग होती है'।

इसके पश्चात् इत्सिंगने भारतीय विद्यार्थियों के स्मरण शक्ति की प्रशंसा की है। इस प्रशंसा में उसने बौद्धों एवम् वैदिक धर्मानुयायियों मे कोई भेद नहीं किया है। उसन तो यहा तक लिखा है कि भारत में ऐसे भी छात्र थे जो किसी समूचे ग्रंथ को एक बार पढ कर ही कंठस्थ कर लेते थे।

आगे चलकर इत्सिंग ब्राह्मणों का वर्णन किया है। वह कहता है कि 'समूचे भारत में ब्राह्मणों का अत्यधिक सम्मान किया जाता है। वे अन्य जातियों की संगति में सड़कों पर चलते फिरते नहीं दिखायी पड़ते। वर्णसंकरों के साथ तो उनका कोई मेल जोल ही नहीं होता। वे अपने धर्म ग्रंथों का बड़ा सम्मान करते थे। इन धर्म ग्रंथों को वेद कहते हे जिसमें एक लाख श्लोक हैं। वेद का प्रदान मुख से किया जाता है न कि ग्रंथों द्वारा। वह कागज पर लिखा भी नहीं गया है। प्रायः प्रत्येक पीढ़ी में कुछ ब्राह्मण ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हें पूरा वेद कंठस्थ रहता है। मैंने स्वयम् ऐसे व्यक्तियों को देखा है'।

इत्सिंग एक ऐसा व्यक्ति है जिसने भारतीय श्रोत्रियों को स्वयम् देखा है। उसने भारत का भ्रमण ईसा की सातवीं शताब्दी में किया था। उसने भारत में रह कर संस्कृत पढा था और अपने जीवन के बीस बहुमूल्य वर्षों को उसने भारत के विभिन्न मठों में

---

[1] चीन का एक दार्शनिक —अनुवादक

रहकर बिताया था। आप को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इत्सिग एक दम निष्पक्ष व्यक्ति था। उसके अपने कोई पूर्वास्थी सिद्धान्त नहीं थे। चूकि वह चीन से आया था, जहा लिखने का पूरा प्रचार था, अतः वह स्वयम् लिखना जानता था। फिर भी वह कहता है कि 'वेद ऋचाएँ कागज पर नहीं लिखी जाती बल्कि एक के मुख से दूसरों को दी जाती हैं'।

इस स्थल पर इत्सिग से मेरा मतैक्य नहीं है। उसने जो कुछ कहा है उससे हमें यह नतीजा न निकाल लेना चाहिये कि उसके समय में भी वेद की लिखित प्रतिया नहीं थीं। हम जानते हैं कि इत्सिंग के समय मे वेद की लिखित प्रतियाँ थीं। हम जानते हे कि ईसा की प्रथम शताब्दी मे संस्कृत के कई लिखित ग्रंथ चीन में ले जाये गये थे और वहा उनका अनुवाद भी किया गया था। पूरी सम्भावना है कि उस समय वेद की भी लिखित प्रतिया रही हों। हा, इत्सिग का कथन इस अर्थ में सही हो सकता है कि वेद की लिखित प्रतियो का प्रयोग छात्रों के लिये निषिद्ध था। वेद का अध्ययन उन्हें गुरु के मुख से सुन कर ही करना पड़ता था और वे गुरु वेद से सम्बन्धित सभी विद्याओ मे पारंगत होते थे। तत्कालीन विधि ग्रंथों में वेद की नकल करने वालों के लिये भी दण्ड व्यवस्था दी गयी है और लिखित प्रति से वेदाध्ययन करने वालों के लिये भी। इसी मे परिणाम निकलता है कि भारत में उस समय वेद की लिखित प्रतियाँ थीं। चूकि विधानतः ब्राह्मण ही वेदों के पढ़ाने वाले थे अतः वे इस बात का पूरा प्रयत्न करते थे कि वेद की लिखित प्रतियाँ न तैयार की जायँ, क्योंकि लिखित प्रतियों की उपस्थित मे उनके एकाधिकार को धक्का लगने की सम्भावना थी।

इत्सिग द्वारा प्रस्तुत विवरण को देख चुकने के पश्चात् यदि हम एक सहस्त्र वर्ष और पीछे की ओर चलें तो हमें उन साक्षियों को मानने में कम हिचकिचाहट होगी जो प्रति शाख्यों में दिये गये हैं। इन प्रतिशाख्यों में उच्चारण के नियम संकलित हैं। यह सिद्ध है कि ये ग्रंथ ईसा पूर्व की पाचवीं शताब्दी के हैं। इनको देखने से भी यही प्रतीत होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के पुत्रों को निरन्तर आठ वर्ष तक गुरु गृह में रहकर वैदिक ऋचाओं को कंठस्थ करना पड़ता था।

उतने प्राचीन काल में भी भारत में शिक्षण कला ने पर्याप उन्नति कर लिया था और छात्रों को सुनियोजित ढंग पर ही सब कुछ पढाया जाता था। यह बात निश्चित है कि उस समय के भारतीयों को लेखन सामग्री के रूप में न तो किसी पुस्तक का पता था, न चमड़े, भोजपत्र, कागज स्याही या लेखनी का ही, क्योंकि तत्कालीन साहित्य में ये शब्द 'कहीं भी नहीं पाये जाते। जिसे हम लोग साहित्य कहते हैं, इस प्रकार की कोई भी कृति यदि भारत में थी तो वह ग्रंथाकार में नहीं थी। सारा तत्कालीन

साहित्य छात्रों एवम् विद्वानों की स्मृति में ही था और वह सदैव एक मुख से दूसरे मुख को ही दिया जाता था।

मुझे इतने अधिक विस्तर में जाने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि हम लोगों की परम्परा ऐसी है कि हम लिखित साहित्य के अतिरिक्त और किसी प्रकार के साहित्य की कल्पना ही नहीं कर सकते। यदि किसी प्रकार हम स्मृतिगत गद्यात्मक साहित्य की कल्पना कर भी लें तो स्मृति में रहने वाले गद्यात्मक साहित्य की कल्पना करने की बात ही हम सोच नहीं सकते। भारत का अध्ययन करने पर भी हमें उसी प्रकार के तथ्यों का पता लगता है जैसे तथ्य अन्य देशों के अध्ययन से मिलते हैं। अर्थात् हम देखते हैं कि जिस समय तक सभ्यता सूचक तुच्छातितुच्छ साधनों की खोज भी नहीं हो सकी थी, उसके काफी समय पूर्व ही सभी असभ्य जातियों ने कुछ व्यक्तिगत प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप कुछ ऐसी उपलब्धियाँ प्राप्त कर ली थीं, जिन्हें हम सुविधा प्राप्त लोग एकदम असम्भव ही समझ बैठेंगे। वे लोग लकड़ी को चीर कर इतनी तेजी से दो टुकड़ों को एक दूसरे पर रगड़ते थे कि उनमें आग पैदा हो जाती थी। हम आजकल के युग में उस प्रकार से अग्नि उत्पन्न करने की कल्पना भी नहीं कर सकते। इस ढंग के परिश्रमी एवम् अध्यवसायी लोगों के लिये कुछ भी असम्भव नहीं होता था। इनकी सहनशीलता और कर्मठता को देखते हुए क्या हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि यदि वे वैदिक गीतों को सुरक्षित रखना चाहते तो इस प्रकार का कोई उपाय खोज ही नहीं सकते थे जो उन ऋचाओं को सुरक्षित रख सके, जिनके बारे में उन्हें पूर्ण विश्वास था कि इन्हीं ऋचाओं के कारण उनके यहाँ सूर्य निकलता था, वर्षा होती थी, उषा दर्शन देती थी इत्यादि ? यदि आप विलियम वायट-गिल द्वारा लिखित 'हिस्टारिकल स्केचेज आव सैवेज लाइफ इन पौलोनेशिया' को पढ़े तो आपको पता चलेगा कि असभ्य जातिया भी अपने राजाओं, सर्दारों, जननायकों की स्मृति को सुरक्षित बनाये रखने के लिये कितनी चिन्तित रहती थीं। विशेषतया उन बातों या कार्यों की स्मृति को बनाये रखने की पूरी चेष्टा करती थीं जिन पर किसी कुटुम्ब का महत्व निर्भर करता था या जिनके आधार पर किसी कुटुम्ब या कबीले को किसी प्रकार की विशेष सुविधा या जायदाद इत्यादि मिली रहती थी। और फिर भारत अकेला ही ऐसा देश नहीं है जहाँ के लोगों ने स्मरण शक्ति के बल पर अपना साहित्य सुरक्षित रक्खा हो। कैसर द्वारा लिखित विवरणों से पता चलता है कि ड्रइड्स जाति के लोगों ने इतना बड़ा साहित्य स्मरणशक्ति के बल पर सुरक्षित रक्खा था कि उसे पूरा पूरा पढ़ने में २० वर्ष का समय लगता था और भारतियों की ही तरह उस जाति वालों में भी उस साहित्य को लिपि बद्ध करना निषिद्ध माना गया था। आप देखें कि दोनों ही जातियों की साहित्यिक परम्पराओं में किस प्रकार की समानता पायी जाती है।

अभी हम लोगों को एक बार फिर तिथियों पर विचार करना पड़ेगा। हमने इस बात को देख लिया कि इत्सिंग के समय तक अर्थात् ईसाकी सातवीं शताब्दी तक वेदों का अध्ययन और अध्यापन सुन सुना कर ही होता था। हमने यह भी देखा कि प्रातिशाख्यों के काल में भी अर्थात् ईसा पूर्व की ५वीं शताब्दी में भी वेदाध्ययन की मौखिक प्रणाली ही प्रचलित थी। ईसा पूर्व की ५वीं शताब्दी में भी वेदाध्ययन की मौखिक प्रणाली ही प्रचलित थी। ईसा पूर्व की ५वीं शताब्दी में ही बौद्ध धर्म का उदय भी हुआ था। यह निश्चित हो चुका है कि वैदिक धर्म के खंडहरों पर ही बौद्ध धर्म की नींव पड़ी थी और प्राचीन वैदिक धर्म एवम् नवोदित बौद्ध धर्म में मुख्य अन्तर यही था कि ब्राह्मणों ने वेदों को ईश्वर दत्त माना था परन्तु महात्मा बुद्ध ने उसे ईश्वर रचित मानने से इनकार किया। यदि इस अन्तर को छोड़ दिया जाय तो वस्तुतः दोनों धर्मों के मूल सिद्धान्तों में नगण्य सा ही अन्तर रह जाता है।

ऐसी स्थिति में वैदिक साहित्य के नाम पर जो कुछ भी प्राप्य है, उसकी रचना से लेकर व्यवस्थापूर्ण संकलन या विभाजन तक की सारी प्रक्रिया को ईसा पूर्व की ५वीं शताब्दी तक पूर्ण हो जानी चाहिये। यदि मैं आप लोगों से कहूँ कि वैदिक साहित्य के तीन स्पष्ट युग हैं, जो एक के बाद एक करके शुरू होते हैं, और प्रथम युग में ही वेद ऋचाओं का व्यवस्थापूर्ण संकलन प्रारम्भ हो गया था तो मेरा विचार है कि आप लोग मुझसे इस बात पर अवश्य सहमत होंगे कि न केवल वेद को अति प्राचीन सिद्ध करने की इच्छा से प्रेरित होकर वरन् प्राप्त तथ्यों को आवश्यक सम्मान प्रदान करने के लिये ही मैंने उन वैदिक ऋचाओं का रचना काल ईसापूर्व की पन्द्रहवीं[1] शताब्दी माना है, जो हमें उन पाडुलिपियों से प्राप्त होती है जो ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखी गयी कही जाती हैं।

अभी मुझे एक तथ्य की चर्चा एक बार और कहनी है, क्योंकि मेरा विचार है कि इस तथ्य पर सम्यक् रूपेण विचार करने से दृढ़तम् सन्देह का भी निराकरण हो जायगा।

अपने इसी भाषा के क्रम में मैंने कहा था कि भारत में सर्वाधिक प्राचीन लेख जो मिलते हैं वे अशोक के लिखवाए हुए हैं, जो चन्द्रगुप्त मौर्य का पौत्र था और जिसका शासन काल ईसा पूर्व २७४-२३७ है। इन लेखों में प्रयुक्त भाषा कौन सी है? क्या यह उसी संस्कृत में है, जिसमें वैदिक ऋचाएँ लिखी गयी हैं? यह बात नहीं है। क्या यह उस संस्कृत में

---

1. 'हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर' में विंटरनिज ने लिखा है कि वैदिक ऋचाओं का रचनाकाल कम से कम ईसा पूर्व २५०० वर्ष है। परवर्ती शोधो ने इस रचना काल को ईसा पूर्व ५००० वर्ष सिद्ध किया है। —अनुवादक

है, जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थ और सूत्र लिखे गये हैं ? निश्चय ही नहीं। ये सब के सब शिला लेख उन स्थानीय भाषाओं में लिखे गये हैं जो तत्कालीन भारत में बोली जाती थीं। और इन स्थानीय भाषाओं तथा व्याकरण-सम्मत भाषा में उतना ही अन्तर है जितना इटैलियन भाषा तथा लैटिन भाषा में है।

इन सब तथ्यों से क्या परिणाम निकलता है ? पहली बात तो यह कि ईसा पूर्व की ३री शताब्दी के पूर्व ही सामान्य जनता में वैदिक संस्कृत का बोला जाना बन्द हो चुका था। दूसरी बात यह है कि उस समय में वैदिक कालीन संस्कृत की परवर्ती संस्कृत भाषा भी जन सामान्य द्वारा नहीं बोली जाती थी। इसी बात को हम प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म के उदय होने के पूर्व ही संस्कृत भाषा जनसाधारण की भाषा नहीं रह गयी थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व ही संस्कृत भाषा वृद्धावस्था को भी पार कर चुकी थी अर्थात् संस्कृत भाषा की युवावस्था बौद्ध धर्म के उदय के बहुत पहले बीत चुकी थी। महात्मा बुद्ध भी संस्कृत जानते रहे होंगे, फिर भी उन्होंने यही उत्तम समझा कि जिस जन साधारण को लाभ पहुँचाना उनका लक्ष्य था, उसी की भाषा में उसे उपदेश दिया जाय और केवल इसी दृष्टि से उन्होंने अपने शिष्यों को बार-बार चेतावनी दी कि वे जन भाषा को ही सद्धर्मप्रचार का माध्यम बनावें।

और अब, जब कि आप लोगों के समक्ष भारत के विषय में कुछ कहने के लिये मुझे जितना समय दिया गया था, उसकी समाप्ति होने को आ रही है तो मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसा प्राय. सभी भाषण कर्ताओं को प्रतीत होता है कि मुझे जितना कुछ कहना था या जितना कुछ मैं कहना चाहता था, उसका अल्पांश ही कह पाया हूँ। 'हम भारत से क्या सीखें' के क्रम में मैं एक ही विषय लेकर चला था कि धर्म के मूल के विषय में भारत से क्या सीखा जा सकता है, परन्तु वह विषय भी पूरा न हो सका। फिर भी मेरा विचार है कि मैं इतना तो अवश्य कर सका हूँ कि मैंने आपके समाने देवताओं के उदय और विकास के विषय में एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया है और आपको यह बताने की कोशिश की है कि इस विषय पर वेदों से हम क्या और कितना जान सकते हैं। स्वीकृत सिद्धान्तों के बदले अब हमारे विचार के लिये स्वीकृत तथ्य हैं और इन्हीं तथ्यों की खोज में हम अन्यत्र निष्फल प्रयत्न कर रहे थे। हम जानते हैं कि वेदों के देवताओं में तथा जीअस, एपोलन तथा एथेने में अत्यधिक अन्तर है और उस अन्तर को दूर करने के लिये अभी बहुत कुछ कहने को है, फिर हमारी मुख्य समस्या का समाधान हो चुका है और हम इतना तो समझ ही चुके हैं कि आदिम काल में मनुष्य की किस भावना ने किस विचार क्रम से प्रेरित होकर किस देवता की कल्पना की और किस प्रकार उनकी कल्पना के नवीन से नवीनतर संस्करण होते गये।

इस देव निर्माण की परम्परा का एक ही पक्ष अभी तक हम लोगों ने देखा है। अभी इसके दो पक्ष और हैं, जो इतने ही महत्व पूर्ण हैं तथा जिनके विषय में कुछ कहना अनिवार्य जान पड़ता है।

वास्तव में वेद तीन धर्मों का संगम है। हम यह भी कह सकते हैं कि वेद के मन्दिर में तीन मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं, जिनकी प्रतिष्ठा कवियों, गायकों, महापुरुषों एवम् दार्शनिकों ने इस प्रकार की है जैसे वह हमारे ही नेत्रों के सम्मुख हुई हो। इस स्थिति में भी हम कार्य और कर्ता को स्पष्ट देख सकते हैं। इस स्थिति पर विचार करने के लिये न तो हमें कठिन सूत्रों का सहारा लेना है न दुर्बोध यज्ञों का और न परम्पराओं का। हम बड़ी ही स्पष्टता पूर्वक देख सकते हैं कि किस सम्यक विवेक का अनुसरण करता हुआ मानव अविवेकता के साम्राज्य में पहुँच जाता है[1]। वे अन्य देशों एवम् जातियों के धर्म-ग्रन्थों की तुलना में वेद की यही विशेषता है कि वह पूर्णतया प्रदर्शित कर देता है कि विवेक ही अविवेक का जन्म दाता है। निस्सन्देह वेद में एवम् वैदिक यज्ञों में बहुत कुछ ऐसा है जो समझ में नहीं आता, जो निराधार प्रतीत होता है, फिर भी वैदिक नामों तथा तद्गत भावनाओं का विकास अब भी होता जा रहा है, लौकिकता से अलौकिकता की ओर ले जाने वाली प्रगति अब भी चालू है और व्यक्तिवाद सामान्यवाद की ओर जा रहा है। यही कारण है कि वेदों के विकासशील साहित्य को जब हम अपनी सुविकसित भाषा में अनूदित करने बैठते हैं तो हमारे सामने अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं और कभी तो यह कार्य पूर्ण रुपेण असम्भव प्रतीत होता है।

आइये हम उस 'देव' शब्द पर विचार करें जो देवता शब्द के लिये वेद में प्रयुक्त प्राचीनतम शब्द है। इसी को लैटिन में डीअस (deus) कहते हैं। यदि आप देव का अर्थ जानने के लिये शब्द-कोष का सहारा लें तो हमें पता चलेगा कि देव माने देवता। ठीक है, देव शब्द देवता के अर्थ में ग्रहण भी किया जाता है, परन्तु यदि हम देव शब्द को सर्वथा उसी अर्थ में प्रयुक्त करें, जिस अर्थ में अँगरेजी भाषा का 'गाड' (god) शब्द प्रयोग में लाते हैं तो यह अनुवाद न होकर वैदिक गायकों के विचारों का पूर्ण रूपान्तर हो जायगा। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि हमारे गॉड शब्द के अर्थ में और वैदिक देव शब्द में पर्याप्त अन्तर है, परन्तु हम तो यह भी कह सकते हैं कि गाड (god) शब्द के बारे में ग्रीकों एवम् रोमनों की जो भावना है वह भी देव शब्द

---

[1] किसी भारतीय दार्शनिक के इस विचार से मिलान करें 'सतत् विवेक से अविवेक का एवम् सतत् अविवेक से विवेक का उदय होता है। या 'जन्म से मृत्यु और मृत्यु से जन्म का द्वार खुलता है' 'या' सृष्टि से विनाश और विनाश से सृष्टि का प्रारम्भ होता है'।

—अनुवादक

विषयक वैदिक भावना से एकदम अलग है, क्योंकि जिस समय वैदिक ऋचाओं में देव शब्द प्रयुक्त होना शुरू हुआ तो उसका अर्थ होता था द्युतिमान्। द्युतिमान् के अतिरिक्त देव शब्द का कोई भी अर्थ नहीं होता था। इसीलिये आकाश को, सितारों को, सूर्य को, ऊषा को, दिन, वसन्त ऋतु एवम् नदियों एवम् पृथ्वी तक को देव शब्द से अभिहित किया गया है। उस समय देव शब्द व्यक्ति वाचक विशेषण न होकर सामान्य विशेषता वाचक शब्द था। जब भी इन द्युतिमान पदार्थों को एक सामान्य नाम से पुकारने की आवश्यकता पड़ी, वैदिक गायकों ने उसे देव नाम से पुकारा। इस साधारणी करण के पूर्ण हो जाने के पश्चात् देव शब्द उन सभी-समान विशेषताओं का प्रतीक बना जो धरती, आकाश, दिन, सूर्य, चन्द्र एवम् सितारों में पाये जाते थे। हाँ असमान विशेषताएँ अवश्य ही इस शब्द से अनभिव्यंजित रहती थीं।

इस स्थिति एवम् अर्थ परिवर्तन से आप स्पष्ट देख पावेंगे कि किस प्रकार एक गुण वाचक विशेषण जाति वाचक संज्ञा के रूप में आ गया। द्युतिमान् का अर्थ प्रगट करते करते धीरे धीरे देव शब्द आलौकिक, उदार, सशक्त, अदृश्य, अमर का अर्थ देने लगा और कालान्तर में वह उस अर्थ का द्योतक हो गया जिस को प्रकट करने के लिये यूनानी लोग थिओई तथा रोमन लोग ही शब्द को प्रयोग में लाते थे।

इसी प्रकार वेद में एक 'परे' की भी सृष्टि से हुई थी। दृष्टि परे, वाणी से परे और अन्ततोगत्वा प्रकृति से परे और यह 'परे का विश्वास' हिन्दू धार्मिकता का एक विशेष अंग बन गया। इस 'परे' में ही देवों, दानवों, वस्तुओं तथा आदित्यादि का निवास था। निस्सन्देह ये सभी नाम ही थे, उन सौर, अलौकिक एवम् प्रकृतिगत तथा प्रकृतिप्रदत्त शक्तियों के जिनको कल्पना उस अति प्राचीन काल में मानव का मस्तिष्क कर सका था। विचित्रता तो यह है कि प्रकृति की अवांछनीय अभिव्यक्तियों जैसे रात्रि, सघन काले बादल शिशिर ऋतु इत्यादि के निवास की कल्पना भी इसी परे में की गयी। इतना अवश्य था कि वैदिक कल्पनाओं में इतनी व्यवस्था अवश्य थी कि तम प्रकाश से, शिशिर वसन्त से एवम् काले बादल सूर्य से अन्त में सदा पराजित होते रहेंगे। यह आशावाद यहा तक बढा हुआ था कि धीरे धीरे वैदिक ऋषियों का ऐसा विश्वास ही हो गया कि अन्त में सदैव सत्‌की ही विजय होती[1] है।

अब हम वेद मंदिर में प्रतिष्ठित दूसरी मूर्ति की ओर ध्यान देंगे। प्राचीन ऋषियों ने उस द्वितीय 'परे' की भी कल्पना की थी यद्यपि उनकी यह कल्पना सम्पूर्ण रूपेण स्पष्ट

---

[1] 'सत्यम् जयति नानृतम'
'सुगो ऋतस्य पन्था',
'यतो धर्मस्ततो जय इत्यादि —अनुवादक

एवम् व्यवस्थित नहीं थीं ।, यद्यपि उन्होंने इस का नाम करण भी किया था एवम् तद्गत भावनाएँ उनके मस्तिष्क में स्पष्ट थीं । इस द्वितीय परे को वे लोग 'पितृ लोक' कहते थे ।

संसार के प्रायः सभी जातियों में ऐसा विश्वास रहता आया है और आज भी है कि मृत्यु के अनन्तर हमारे माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी किसी दूसरे लोक में चले जाते हैं, चाहे वह लोक कैसा ही हो । इस प्रकार का विश्वास स्वाभाविक ही है, अस्वाभाविक नहीं । भारत भी इस विषय में अपवाद नहीं रहा । भारतीय ऋषियों ने भी इस लोक की कल्पना की थी और वह लोक इस पृथ्वी से दूर किसी अनिर्धारित स्थान में था । चाहे वह पूर्व में रहा हो, जिधर से सभी देव आते हैं । चाहे वह पश्चिम में रहा हो, जिधर को सभी देव जाते हैं । पश्चिम को भारतीय मनीषियों ने सूर्यास्त स्थल अथवा यम लोक की संज्ञा दी है । यह विचार धारा का उदय उस प्राचीन काल में नहीं हुआ था कि 'जो है, उसका विनाश नहीं हो सकता,' परन्तु वे इतना अवश्य सोच चुके थे कि उनके दिवंगत पूर्वज कहीं न कहीं अस्तित्व में है, भले ही वे अपनी सन्तानों की दृष्टि से दूर हो । इस प्रकार इस द्वितीय 'परे' की भावना का सूत्रपात् हुआ और जैसे एक नवीन धर्म की आयोजना हुई ।

वास्तव में दिवंगत व्यक्तियों की सत्ता का अन्त इतने शीघ्र होता भी नहीं । मरने के बाद भी वे किसी न किसी रूप में जीवित अवश्य ही रहते हैं । अपने जीवन काल में जिस सत्ता का उपभोग किये रहते हैं तथा उनकी इच्छाओं का जिस परिमाण में आदर होता रहा है, उसका उपभोग वे मृत्यु के उपरान्त भी करते रहते हैं । प्राचीन धर्मशास्त्रों एवम् विधि शास्त्रों ने भी ऐसी ही व्यवस्था दी है कि दिवंगत आत्माओं की इच्छा पूर्ति का सदैव ध्यान रक्खा जाय । जब हमारे पूर्वज जीवित थे तो उतनी इच्छा ही परिवार के लिये कानून स्वरूप थी, मान्य थी । उनकी मृत्यु के उपरान्त भी जब कभी परम्परा या विधि के विषयों पर मतभेद या सन्देह उपास्थित हो जाता है तो यह स्वाभाविक ही होता है कि इन सन्देहों एवम् मतभेदों के समाधान के लिये पूर्वजों की इच्छाओं एवम् सम्मतियों को निर्णय का आधार माना जाय अर्थात् तब भी उनकी इच्छा ही विधि का काम करती रहे[1] ।

इस प्रकार मनु का कथन है कि 'जिस राह तुम्हारे पूर्वज गाये हैं, उसी राह पर चलो तो तुम्हारा रास्ता कभी गलत नहीं होगा' ।

इसी प्रकार जहा से विभिन्न देवों की सृष्टि हुई थी, वहीं से पितृ, प्रेत, दिवंगत इत्यादि की भी सृष्टि हुई और इतनी उपासनाओं का विधान जितना भारत में उन्नत हुआ,

---

[1] इसीलिये भारतीय जन विधिग्रन्थो को 'स्मृति' का नाम देते थे—
—अनुवादक

उतना ससार के किसी भी देश में नहीं हुआ। जीवन काल में पिता को जिस सम्मान का अधिकारी समझा जाता था, मृत्यु के उपरान्त वह पूरा सम्मान पितृ को दिया गया। धीरे धीरे पितृ शब्द न केवल पिता का अर्थ देने लगा वरन् उससे 'दृष्टि से परे' का अर्थ भी ग्रहण किया जाने लगा। इसी शब्द से उदारता, शक्तिमत्ता, अमरत्व, अलौकिक आदि का अर्थ भी ध्वनित होने लगा और हम स्पष्ट देख पाते हैं कि किस प्रकार आत्मा के अमरत्व की भावना में माता पिता के प्रति पुत्र का प्यार, पुत्र का सम्मान सजीव हो उठा है। यह सजीवता हमें जिस परिमाण में एवम् जिस स्पष्टता से वैदिक साहित्य में दिखायी पड़ती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

यह एक विचित्र बात है, बल्कि विचित्र से भी अधिक है कि हिन्दुओं के प्राचीन धर्म के इस विशिष्ट एवम् महत्वपूर्ण अंग को विचारकों ने न केवल भुला ही दिया है वरन् कितनी ही बार उन्होंने उसके अस्तित्व के विषय में भी शंकाएँ की हैं। ऐसी स्थिति में मैं अपने को बाध्य मानता हूँ कि आदिम काल से लेकर अबाधगति गति से आधुनिक काल तक चली आने वाली भारतीयों की पितरोपासना पर कुछ शब्द कहूँ। मि० हरबर्ट स्पेंसर ने संसार की सभी बर्बर जातियों की धार्मिक भावना में व्याप्त पितरोपासना को उनकी धार्मिकता का या उनके धर्म का मुख्य प्राकृतिक तत्व माना है और इस ओर उन्होंने लोगों का ध्यान भी आकर्षित किया है, परन्तु उन्होंने बड़ी ही दृढतापूर्वक कहा है कि "मैंने इसे देखा है, मैंने वार्ताओं में सुना है और अब मैं उसी तथ्य को मुद्रित रूप में भी देख रहा हूँ कि किसी भी इन्डो यूरोपियन या सेमेटिक जाति वालों ने पितरोपासना को अपना धर्म नहीं माना है"। मैं मि० स्पेंसर के शब्दों में शंका नहीं करता, फिर भी मेरी ऐसी इच्छा अवश्य थी कि वे कुछ ऐसे अधिकारी विद्वानों का नाम अवश्य देते जिनके आधार पर उन्होंने उपरोक्त मान्यता स्थिर की है। मुझे यह बात एकदम असम्भव प्रतीत होती है कि कोई व्यक्ति भारत एवम् उसके धर्म विषयक ग्रन्थों को पढ़े और इस प्रकार की मान्यता स्थापित करें। ऋग्वेद में पितरों को सम्बोधित करती हुई अनेक ऋचाएँ हैं। ब्राह्मण एवम् सूत्रग्रन्थों में पितृपूजा का पूरा विधान ही दिया गया है। आप महाकाव्यों को देखिये, पुराणों या स्मृतियों को देखिये सभी पितरों के लिये विशेष यज्ञों की चर्चा से भरे पड़े हैं। आप भारतीयों की विवाह व्यवस्था को ले लीजिये, उत्तराधिकार व्यवस्था को ले लीजिये, इन सभी में पितरो के प्रति प्रगाढ विश्वास की भावनाएँ मिलेंगी और तब भी हमसे कहा जाता है कि किसी भी इन्डोयूरोपियन या सेमेटिक जाति ने पितरोपासना को धर्म का आधार नहीं माना है।

आप देखेंगे कि फारसवासियों में फ्रवशिर की, यूनानियों में थिओई पैट्रोई डेमोनस की तथा रोमनो में लैरेस फेमिलियरस की उपासना जिस उमंग से होती है वैसी

उमंग के दर्शन किसी भी अन्य देव की उपासना में नहीं होते। एक स्थान पर मनु ने यहाँ तक कहाँ है कि ब्राह्मणों द्वारा पितरों को दिया गया कव्य देवताओं को दिये गये हव्य से बढ़ कर हैं।' ऐसी स्थिति में भी हम किस प्रकार यह मान लें कि किसी भी इन्डोयूरोपियन या सेमेटिक जाति ने पितरोपासना को धर्म का अंग नहीं माना है ?

इस प्रकार की बातें होनी नहीं चाहिये, क्योंकि ऐसे मान्यताएँ ऐतिहासिक शोध कार्यों का पथ अवरुद्ध कर देती हैं। मेरे विचार से उपरोक्त मान्यता से स्पेंसर का यही तात्पर्य रहा होगा कि 'कुछ विद्वान इस बात से सहमत नहीं होते कि किसी भी इन्डोयूरोपियन सेमेटिक जाति वालों ने पितरोपासना को ही धर्म का एकमात्र आधार माना है। निस्सन्देह इस ढंग से कहने पर यह बात पूर्णतः सत्य है, परन्तु मेरा विश्वास है कि यह भी उतनी ही सत्य है कि संसार का कोई भी धर्म स्पेंसर के इस तात्पर्य का अपवाद नहीं है। इस विषय पर भी ऐन्थ्रोपालोजी के छात्र जितना वेद से पा सकते हैं उतना अन्य किसी भी साधन से नहीं।

वेद में देवों के साथ ही पितरों की भी प्रार्थनाएं की गयी हैं। देवताओं की तो यदा कदा निन्दा भी की गयी है, परन्तु पितर कभी भी निन्दा के पात्र नहीं हुए। देव लोग कभी पितृ नहीं बन सके और यद्यपि पितृ के साथ यत्र तत्र देव शब्द भी जुटा हुआ मिलता है, फिर भी देवों और पितरों का विलगाव सर्वत्र स्पष्ट है और वे मानव कल्पना की उन दो स्थितियों का स्पष्ट निर्देश करते हैं, जिनके आधार पर लोगों ने किसी भी भावना के मूर्त रूप को उपासना का आधार बनाया है वेद का एवम् भारतीय धर्म का यह एक ऐसा तत्त्व है, जिसे कभी भी भुलाना नहीं चाहिये।

ऋग्वेद में एक प्रार्थना है 'ऊषा हमारी रक्षा करें'। केवल इसी ऋचा से स्पष्ट हो जाता है कि देवों और पितरों की स्थिति स्पष्टतः अलग थी, वे उषा से, नदियों से, पर्वतों एवम् देवों से भिन्न थे यद्यपि देवों के साथ ही उनकी भी प्रार्थनाएँ की जाती थीं।

हमें प्रारम्भ में ही उन दो प्रकार की भावनाओं को अलग कर लेना चाहिये जो वैदिक ऋषियों के मन में पितरों के विषय में उदित हुई थीं। पितृगत प्रथम भावना तो उन पितरों से सम्बन्धित थी जो बहुत दिन पूर्व दिवंगत हो चुके थे, जिनकी स्मृति भी क्षीण हो चली थी जो अति प्राचीन के गर्भ में विलीन हो चुके थे। एक तरह से समस्त मानव जाति के पितर इसमें सम्मिलित थे। दूसरे वर्ग में वे पितर आते हैं, जो अभी हाल में मरे थे, जिनकी स्मृति अब भी स्पष्ट थी और जिनकी इच्छाओं और सम्मतियों का पूर्ण ज्ञान शेष था।

प्रथम वर्ग के पितरों की स्थिति देवों के समकक्ष हो चली थी। यह मान लिया गया था कि वे यमलोक में जा चुके थे और वहां देवताओं की सगति में निवास कर रहे थे।

यत्र-तत्र यम[1] की भी इस प्रकार की प्रार्थना की गयी है, जैसे वे भी पितरों में से ही एक हों। ऐसा विश्वास प्रगट किया गया है कि मरने वालों में यमराज ही प्रथम थे और उन्होंने ही सर्व प्रथम मृत्यु-पथ पर अपने चरण रक्खे थे। और पश्चिम में वहा तक गये थे जहा सूर्य अस्त होता है। इस प्रकार की मान्यता हुए भी यम के देवत्व में कहीं से भी कमी नहीं आने पायी है। वह सन्ध्याकाल का देवता है और पितरों का नायक है परन्तु पितर नहीं है और न पितरों में से ही है।

इस पृथ्वी पर निवास करते हुए मानव कितनी ही ऐसी सुविधाओं का उपयोग करता है जो पितरों की देन है, क्योंकि पितरों ने ही प्रथमतः उन सुविधाओं को प्राप्त किया था और उनका सर्वप्रथम उपभोग भी उन्होंने ही किया था। उन्होंने ही सर्वप्रथम यज्ञ किया था और उन्होंने ही सर्वप्रथम यज्ञजनित लाभों का रसास्वादन किया था। यहा तक कि प्रकृति के महान् कार्य जैसे सूर्योदय, दिन का प्रकाश, रात्रि का अन्धकार कभी-कभी उन्हीं के बनाए हुए कहे गये हैं और इस बात के लिये उनकी प्रशसा की गयी है कि उन्होंने ही प्रात. के अन्धेरे पशु-गृह को खोला और गौओ अर्थात् प्रकाशपुंज को बाहर लाये। इस बात के लिये भी उनकी प्रशसा की गयी है कि उन्होंने ही आकाश को तारों से सजाया जब कि कालान्तर में इस प्रकार की भावना बन गयी कि ये तारे पवित्र दिवगत आत्माएँ है जो स्वर्ग मे प्रविष्ट हो गयी हैं। हम जानते हैं कि इसी प्रकार की विचार सरिणा फारसियों, यूनानियो तथा रोमनों में भी पायी जाती थी। वेद में पितरों को सत्य कहा गया है, सुविदत्र (बुद्धिमान) कहा गया है, ऋतवत् कहा गया है, कवि कहा गया है, पथिकृत (नेता) कहा गया है और उन्हें सोम्य (सोमपान के अधिकारी) कह कर उनकी विशिष्टता प्रगट की गयी है। यहा यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि वैदिक काल में सोम एक प्रकार के मादकद्रव को कहते थे, जिसके बारे में लोगों का विश्वास था कि वह अमरत्व प्रदायक है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी मूल भूमि में आर्यों को सोम सुविधापूर्वक मिल जाता था परन्तु पंजाब में आकर बस जाने पर वह दुर्लभ हो गया।

चाहे भृगुवंश हो या आगिरस कुल हो या अथर्वण का परिवार, पर पितर सबके थे जिनसे प्रार्थना की जाती थी कि वे घास पर बैठा कर दिया हुआ कव्य स्वीकार करें। ऋग्वेद में ऐसी भी ऋचाएँ हैं जिनसे पितृयज्ञ का वर्णन है।

नीचे मैं एक ऐसे शूक्त का अनुवाद दे रहा हूँ, जिसके द्वारा पितरों से प्रार्थना की जाती थी कि वे यज्ञों में आकर भाग लें:—

१—'हमारे सोम प्रिय पितर जागृत हों और देवों की प्रार्थना में हमारी रक्षा करें।

[1] ऋग्वेद १०।१४ के अनुसार पितरो में यम प्रथम हैं, मृतात्माओ की व्यवस्था यही करते हैं—मृतो के मार्ग दर्शक हैं। —अनुवादक

२—'हमारा यह नमस्कार उन पितरों तक पहुँचें जो दिवंगत हो चुके हैं और अब चाहे वे अंतरिक्ष में रहते हों या प्रसन्न आत्माओं के बीच।

३—'मैंने सुविदातृ पितरों को निमंत्रित किया है. .वे शीघ्र यहा आवें और यहा मेरे समीप बैठ कर मेरे द्वारा प्रस्तुत कव्य को स्वीकार करें।

४—'हे मेरे पितरों, अपनी समूची सहायता के साथ हमारे पास आओ, हम घांस पर बैठे हैं, और हमने तुम्हारे लिये कव्य प्रस्तुत किया है, कृपया इसे स्वीकार करो। अपनी रक्षाशक्ति के साथ आओ और हमें पूर्ण स्वास्थ्य व धन प्रदान करो।

५—'सोम प्रिय पितरों को घास पर रक्खे हुए कव्य को स्वीकार करने के लिये निमंत्रित किया है। वे आवें, हमारी बात सुनें, हमें आशीष दें और हमारी रक्षा करें।

६—'मेरी दाहिनी ओर पलित जानु बैठ कर इस कव्य को स्वीकार करें। हमें चोट न पहुंचावें। यदि हमने तुम्हारा कोई अपराध किया हो तो भी मानव समझ कर क्षमा करो।

७—'जब तुम उषा की स्वर्णिम गोद में बैठे हो तो मानवों को धन प्रदान करो। हे पितरों, तुम हमारी सन्तति को अपनी निधि दो और हममें शक्ति उत्पन्न करो।

८—'मित्रों के साथ मित्रता करने वाले यम हमारे द्वारा दिये गये कव्य को इच्छानुसार समाप्त करें और हमारे पितरों को भी अपने साथ ले लें। वे वशिष्ठ गोत्रीय पितरों को अपने साथ लें जिन्होंने सोम का आविष्कार किया था।

९—'हे अग्नि यहा आओ, उन पितरों के साथ आओ जो यज्ञ वेदी के समीप बैठने के इच्छुक हैं, जिन्हे देवताओं की स्तुति करने में प्यास लग आयी है, जो यज्ञ की विधियो को जानते ये और जिनकी प्रार्थनाओं में शक्ति थी।

१०—'हे अग्नि उन पितरों के साथ यहा आओ जो यज्ञ वेदी के समीप बैठने के इच्छुक हों, जो सत्य वादी हो, जिन्होने देवों की स्तुति की हो, जो हमारे कव्य को खाएँ और इन्द्र तथा अन्य देवों की संगति में हों।

११—'हे अग्नि द्वारा भस्मीभूत किये गये पितर, तुम यहा आओ, अपने आसन पर बैठो, हमारे द्वारा दिये गये कव्य को खाओ और तब हमें धन और वलिष्ठ संतति दो।

१२—'हे अग्नि, हे जातवेदस, तुम हमारे कव्य को मधुर बना कर ले गये हो, तुम उसे यथा भाग सहित पितरों में बाट दो, जिससे वे अपना-अपना भाग पा जावें। तुम भी हमारे कव्य में भाग लो।

१३—'जो पितर यहा हैं, जो यहा नहीं हैं, वे जिनको हम जानते हैं या जिनको हम नहीं जानते, तुम सब को जानते हो। हे जातवेदस तुम इस कव्य को सब में बाँट दो।

१४—'जिनका दाह संस्कार हुआ हो या जिनका दाह संस्कार न हुआ हो, जो स्वर्ग में रहते हों, हे राजन् तुम ऐसा वर दो कि वे इच्छानुकूल शरीर प्राप्त कर सकें'।

इन आदि पूर्वजों के अतिरिक्त समीप के पूर्वजों के प्रति भी सम्मान प्रगट किया गया है। जिस भावना के वशीभूत हो कर पुत्र अपने पिता को प्यार करता है, वही भावना जब और विकसित हो जाती है तो वह अपने पितामह एवम् प्रपितामह को भी प्यार करने लग जाता है। कुछ यज्ञविधान ऐसे भी हैं जिनमें व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रकाशन के पर्याप्त अवसर थे और इसीलिये उन विधानों में अत्यधिक विभिन्नता के दर्शन होते हैं। इन स्थानीय विभिन्नताओ के होते हुए भी पितरों के प्रति प्रदर्शित किया गया सम्मान सर्वत्र एक सा है।

दिवंगत आत्माओं पर अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिये नाना प्रकार के विधान ब्राह्मण ग्रंथों में, सूत्रग्रन्थों में, गृह्यसूत्रों में, समयाचारिक सूत्रों में, स्मृतियों तथा अन्य कितने ही प्रकार के परवर्ती ग्रंथों में दिये हैं। इन विधानों में देश, काल स्थिति के अनुसार विभिन्नता तो है ही, इनकी संख्या तथा इनका विस्तार इतना अधिक है कि उसे सूत्र रूप में भी उद्धृत कर सकना यहाँ पर सम्भव नहीं है। क्रियाओं का भी विस्तार कम नहीं है। उनमें इन प्रकार के कार्यों के लिये विशेष दिनों, घंटों, पक्षों एवम् मासों को निर्देशित किया गया है। अनेक प्रकार की वेदियों की योजना दी गयी है। यज्ञ सम्बन्धी पात्रों (बर्तनों) तथा अन्य आवश्यक सामग्रियों की तो कोई सीमा ही नहीं है। इन आवश्यक एवम् अनावश्यक विस्तारों के जाल में इतनी उलझन है कि उन सब को पार करके यह जान सकना असम्भव हो उठा है कि पितृ पूजा के एकदम प्रारम्भ में किस भावना के साथ किस क्रिया की योजना की गयी थी। अनेक यूरोपीय विद्वानों ने हिन्दू धर्म के इस पक्ष पर बहुत कुछ लिखा है। इस विषय पर सबसे पहले सन् १७६८ ई० में कोलब्रुक ने 'द रिलीजस सेरीमनीज आव द हिन्दूज' नामक एक निबन्ध संग्रह लिख कर प्रकाश डाला है। हिन्दू धर्म के इस पक्ष को समझाने के लिये किये गये प्रयत्नों की संख्या कम नहीं है, फिर भी जब हम इस साधारण से प्रश्न का उत्तर पाना चाहते हैं कि 'वह कौन से विचार थे, जिनसे ये सब वाह्य विधान निकले, या मानव हृदय की किस पिपासा को सन्तोष देने के लिये इन यज्ञों की इतनी विस्तृत आयोजना की गयी, तो शायद ही हमें कोई ऐसा उत्तर मिल सके जिससे हमारा समाधान हो जाय या जिससे हम संतुष्ट हो सकें। यह सत्य है कि आज भी भारत के कोने-कोने में मृतकों के श्राद्ध होते हैं, परन्तु हम यह भी जानते हैं कि शास्त्रों में श्राद्ध के जो

विधान दिये गये हैं उनमें और आजकल किये जाने वाले श्राद्धों में बहुत कम समता रह गयी है। जिस समय इन शास्त्रों की रचना हुई थी, तब से लेकर आज तक श्राद्ध के सिद्धान्तों एवम् कर्मों में अनेक आवश्यक तथा अन्यथा मोड़ आ चुके हैं। हमारे देश के या अन्य किसी देश के निवासी जब भारत में जाकर इन श्राद्ध कर्मों को देखते हैं तो उन्हें बर बस ही कहना पड़ता है कि इन कर्मों के पीछे निहित उद्देश्यों को जानने का बस एक यही साधन है कि संस्कृत भाषा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके सूत्रग्रन्थों को पढ़ा जाय। आज कल के श्राद्ध कर्मों को देख कर तन्निहित उद्देश्यों को जान सकना असम्भव हो चुका है। हमे सब मानते है कि आधुनिक श्राद्ध प्राचीन श्राद्धों की समता में इतने बदल गये हैं कि इनकी लीक पकड़कर प्राचीनता के गर्भ मे प्रवेश पाना यदि असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है। इसका पता तो आज भी चल जाता है कि पितरों को दिये जाने वाले पिंड किस प्रकार बनाए जाते थे, जिन कुशों पर ये पिंड रक्खे जाते हैं, उनकी संख्या कितनी होनी चाहिये, प्रत्येक कुश की लम्बाई क्या होनी चाहिये, और वेदी पर रखते समय कुशाओं का सिरा किस ओर को होना चाहिये। हमें प्रायः ऐसी ही बातें सुनने को मिलती हैं, जिनसे हम कुछ भी नहीं सीख सकते, परन्तु विद्वानों को जिन आवश्यक बातों की खोज है या होनी चाहिये, उन पर आधुनिक श्राद्धों मे कोई महत्व नहीं दिया जाता, जैसे वे एक दम ही अनावश्यक हों और उन्हे जैसे उन्हें खोजने के लिये हमें प्राचीन संग्रहालयों में ही जाने की आवश्यकता पड़ेगी।

मेरा विचार है कि थोड़ा सा आवश्यक प्रकाश प्राप्त करने के लिये हमें निम्नलिखित बातों का अन्तर समझ लेना चाहिये :—

१—दैनिक पितृ यज्ञ, जो पंच महायज्ञो में से एक है।

२—मासिक पितृयज्ञ, जो शुक्ल पक्ष की द्वितीया एवम् पूर्णिमा को किये जाते हैं।

३—दग्ध-संस्कार जो किसी के मरने पर चिता पर किया जाता है।

४—ब्रह्मभोज—जो दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिये किया जाता है तथा जिसमें दिवंगत आत्मा की स्मृति में सत्पात्रों को भोजन सामग्री तथा अन्य सामान दान में दिये जाते हैं। वास्तव में इस अन्तिम वर्ग को ही श्राद्ध का नाम दिया गया है, परन्तु दूसरे और तीसरे वर्ग की क्रियाओं को भी श्राद्ध के ही नाम से जाना जाता है, क्योंकि इनमें भी श्राद्ध की सी महत्ता मानी गयी है।

दैनिक पितृयज्ञ की गणना पंचमहायज्ञों में की गयी है। इनके लिये ऐसा नियम है कि प्रत्येक गृहस्थ को इन्हें प्रतिदिन सम्पादित करना चाहिये। गृह्य सूत्रों में इनका वर्णन किया गया है तथा इनके नाम इस प्रकार हैं: देवों के लिये देव यज्ञ, पशुओं के लिये भूत

यज्ञ पितरों के लिये पितृयज्ञ, ब्राह्मणों के लिये अर्थात् वेदाध्यायियों के लिये ब्रह्मयज्ञ और मानवों अर्थात् अतिथियों के लिये मनुष्य यज्ञ।

मनुस्मृति के तीसरे अध्याय के ७० वे श्लोक में भी यही बात कही गयी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दैनिक पितृयज्ञ का विधान अति साधारण सा था। गृहस्थ अपसव्य होकर अर्थात् यज्ञोपवीत को बाएँ कंधे से दाएँ कंधे पर करके 'पित्राय स्वधा' कह कह कर कुछ खाद्य सामग्री दक्षिण की ओर फेंक देता था।

यदि इस क्रिया को यज्ञ की संज्ञा दी जा सकती है तो इसमें निहित मनोभाव स्पष्ट हैं। आदिम युग में इन पंच महायज्ञों द्वारा प्रत्येक गृहस्थ की कार्य सारिणी निर्धारित कर दी गयी है। वे उसके नैत्यिक भोजन से सम्बन्धित थीं। जब उसका भोजन तैयार हो जाता था तो स्वयम् भोजन का स्पर्श करने के पूर्व वह वलि वैश्वदेव के नाम पर थोड़ा सा पक्वान्न अलग कर देता था। इस वलि के अधिकारी हुआ करते थे अग्नि, सोम, विश्वेदेवाः धन्वंतरी, कूहू और अनुमती, प्रजापति, द्यावापृथ्वी तथा स्विष्टकृत अर्थात् यज्ञवेदी की अग्नि।

इस प्रकार चारों दिशाओं के देवों को सन्तुष्ट करके गृहस्थ थोड़ा सा पक्वान्न वायु में उछाल देता था, जो पशुओं के लिये हुआ करता था या कुछ दशाओं में अदृश्य जीवों जैसे प्रेतादि के लिये। तब बारी आती थी पितरों की। परन्तु पितरों को भी बलि दे देने के पश्चात् भी गृहस्थ भोजन करने के लिये स्वतंत्र नहीं हो जाता था। उसे अतिथि सत्कार का भी सम्यक् प्रबन्ध करना पड़ता था और तभी वह भोजन कर सकता था।

जब ये सारी क्रियाएँ हो चुकती थी और गृहस्थ अपनी नैत्यिक देव प्रार्थना कर चुकता था तब वह अपने चतुर्दिक् के संसार से सायुज्य प्राप्त कर पाता था और तभी वह सोच पाता था कि इस अविवेकता एवम् स्वार्थपूर्ण संसार में अपने द्वारा किये कायज, कर्मज, श्रवणज नयनज, विहित, अविदित और मानस अपराधों से मुक्ति मिल चुकी है। बिना पंच महायज्ञों के किये उसके सभी अपराध उसके ऊपर लदे से रहते थे।

पंचमहायज्ञों में पितृयज्ञ का प्रमुख स्थान है और इसका वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया है। गृह्य तथा समयाचारिक सूत्रों में तथा परवर्ती स्मृतियों में भी किया गया है, श्री राजेन्द्र लाल मित्र ने सूचित किया है कि सनातन धर्मी ब्राह्मण आज भी इन पंच-महायज्ञों का सम्पादन करते हैं, परन्तु वास्तव में अब देव यज्ञ और पितृयज्ञ ही से सन्तोष कर लिया जाता है और देवप्रार्थना के स्थान पर अब गायत्री-पाठ से काम चला लिया जाता है। पशुयज्ञ और अतिथि यज्ञ तो विशेष अवसरों पर ही होते हैं।

इस पितृयज्ञ[1] से पिंडपितृज्ञय[2] एकदम दूसरे प्रकार का है। पिंडपितृयज्ञ का

---

[1] पितृयज्ञ का ही दूसरा नाम श्राद्ध है। श्रद्धया दीयते यस्मात् तच्छाद्धम्

[2] 'अमावस्या माम् पिंड पितृयाग' उसे करने का अधिकार 'केवल' अग्निहोत्री को ही है।

—अनुवादक

विस्तार उससे अधिक है और उस विस्तार में नवचन्द्रयज्ञ (शुक्लपक्ष की द्वितीया को किया जाने वाला पितृयज्ञ) का स्थान उत्तम है। इस यज्ञ में जिस मानवीय भावना को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया गया है वह समझ में आने योग्य है। प्रकृति की नियमित कार्य प्रणाली पर विचार करने का यह एक ढंग है। आकाशस्थ ग्रह और तारे एक नियमित प्रणाली में चालित रहते हैं। धीरे-धीरे इन्हीं को देखते हुए इनके नियमक के ऊपर ध्यान का जाना एक स्वाभाविक क्रिया है। उस नियमक के ऊपर मानव का विश्वास बढ़ता जा रहा था। यही कारण था कि अपने दैनिक कार्यजाल से कुछ देर के लिये मुक्त होकर मानव उच्च विचारों की ओर अग्रसर हुआ और उसके अन्तर्तम में यह अभिलाषा उठी कि उस नियमक की प्रशंसा के गीत गाकर उससे साक्षात्कार करने का प्रयास किया जाय। इसीलिये उसने स्तुतियाँ कीं, धन्यवाद दिया और बलियों का विधान किया। चन्द्रमा को नित्यप्रति क्षीण होते देखकर यह स्वाभाविक ही था कि उसे अपने उन पूर्वजों का स्मरण आ जाय जो इसी ढंग से दिन प्रति दिन क्षीण होते होते अनन्त काल के गर्भ में समा गये थे और जिनके प्रसन्न मुख तब इस पृथ्वी से अदृश्य हो चुके थे। इसीलिये यह नियम बनाया गया कि नवचन्द्र के समय पितृयज्ञ सम्पादित करना चाहिये। इस यज्ञ का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी है और श्रौत सूत्रों में भी। दक्षिणाग्नि में एक वेदी तैयार की जाती थी और कव्य रूप में पानी के साथ गोल पिंडे उस वेदी पर रक्खे जाते थे और यह बलिविधान पिता, पितामह तथा प्रपितामह तक के लिये होता था। यदि यज्ञकर्ता की स्त्री को पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा हो तो उसे उन पिंडों में से एक पिंड खाने की अनुमति दी जाती थी।

इसी प्रकार के यज्ञ दूसरे अवसरों पर भी किये जाते थे, जिनमें शुक्ल द्वितीया तथा पूर्णिमा को किये जाने वाले यज्ञों की ही भाँति क्रियाएँ होती थीं।

यह सत्य हो सकता है कि उपरोक्त दोनों प्रकार के यज्ञों एवम् उनके नामों में पर्याप्त समानता थी, उनके उद्देश्य भी समान थे परन्तु उनकी विशेषताएँ अवश्य ही भिन्न थीं। प्रायः विचारक लोग इन दोनों श्राद्धों को मिलाकर एक कर देते हैं परन्तु ऐसा करने से हम उस सीख से वंचित हो जाते हैं जो हमें पुरातन यज्ञों और यज्ञविधानों के अध्ययन से मिल सकती है। मैं भी इन दोनों यज्ञों के अन्तर को पूरी तरह समझा नहीं सकता, हाँ इतना अवश्य कह सकता हूँ कि दैनिक पितृयज्ञ स्वयमेव अर्थात् बिना पुरोहित की सहायता से ही हो जाता था परन्तु मासिक श्राद्ध में पुरोहित की उपस्थिति अनिवार्य थी और मंत्रोच्चारण की क्रिया यजमान के मुख से न होकर पुरोहित के ही मुख से हुआ करती थी। स्वयम् हिन्दू विद्वानों के अनुसार दैनिक श्राद्ध गृह्य अर्थात् घरेलू श्राद्ध है और

मासिक श्राद्ध[1] और श्रौत श्राद्ध है, जिसमें वेद मंत्रों का शुद्ध उच्चारण अनिवार्य है।

अब हम तीसरे प्रकार के यज्ञों पर आते हैं, जो वैयक्तिक हैं और गृह्य परन्तु जिन अवसरों पर इन यज्ञों को किया जाता है, उन्हीं के कारण वे उपरोक्त दोनों यज्ञों से अलग हो जाते हैं। इसको मृतक कर्म कहते हैं। एक दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे मृतक कर्म से ही पितरोपासना का आरम्भ होता है। मृतक कर्म से ही चल कर हम अन्य यज्ञों तक पहुँचते हैं और जैसे इस मृतक कर्म से ही हमारे पितृयज्ञों की तैयारी आरम्भ होती है क्योंकि आज का मृतक ही कल पितृ कहलाता है। दूसरी दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि जिस समय किसी भी मृतक को पितृ-श्रेणी नहीं प्राप्त हुई थी, तब भी 'पूर्वज' शब्द की भावना का अस्तित्व था और इसी लिये हमने पूर्वजों के लिये किये जाने वाले यज्ञों का वर्णन भी पहले ही कर दिया।

भारतीयों में प्रचलित मृतककर्म के विस्तार में जाने की हमें आवश्यकता नहीं है। इनमें निहित भावनाएँ उसी प्रकार की हैं जैसी यूनानियों, केल्टों या स्लाव जाति वालों की हैं परन्तु इस भावनाओं में इतना साम्य कैसे आ गया, यही आश्चर्य का विषय है।

वैदिक काल में मुर्दे जलाये भी जाते थे और गाड़े भी जाते थे और ये दोनों ही कार्य पूरी गम्भीरता के साथ किये जाते थे। कालान्तर में तो इन कार्यों के लिये स्पष्ट नियम निर्धारित कर दिये गये थे। मृतक मनुष्य को जला दिये जाने पर तथा उसके अवशेष को गाड़ देने पर दिवंगत व्यक्ति की क्या स्थिति होती थी, इसके विषय में वैदिक कालीन विचारक एकमत नहीं थे, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि आने वाले जीवन में उनका पूर्ण विश्वास था। वे यह भी सोचते थे कि ये व्यक्ति जब फिर जन्म लेंगे तो उनका जीवन फिर इसी पृथ्वी पर इसी भाँति चलेगा। उनकी यह भी मान्यता थी कि दिवंगत आत्माओं में देने की शक्ति होती है और वे पृथ्वी वासियों को प्रसन्नता प्रदान करने की शक्ति रखते हैं। इन्हीं मान्यताओं के कारण पितरों की कृपा प्राप्ति के लिये उनके स्तवन गाये गये और इसीलिये अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान किया गया। प्रथमतः इन यज्ञों में मानवीय भावनाओं का शुद्ध प्रदर्शन मात्र था और यही प्रदर्शन आगे चल कर परम्परा बद्ध हो गया। और भी आगे चल कर वही नियम बद्ध परम्परा अनिर्यांता में परिणत हो गयी।

जिस दिन मृतक का दाह संस्कार किया जाता था, उस दिन उसके सगे सम्बन्धी लोग स्नान करके उसके नाम से अंजली भर पानी[2] देते हैं। पानी देते समय गोत्र सहित

---

[1] वास्तव में श्राद्ध दो प्रकार के होते हैं, १—स्मार्त श्राद्ध जिसे गृहस्थ स्वयम् कर लेता है और २—श्रौत श्राद्ध जिसमें श्रुति के वचन कहे जाते हैं। स्मृति से स्मार्त और श्रुति से श्रौत शब्द हैं।

[2] तिलेदक से तात्पर्य हैं— —अनुवादक

उसका नाम लिया जाता है। सूर्यास्त काल में वे घर लौटते हैं और परम्परा के अनुसार उस दिन घर में भोजन नहीं पकाया जाता और अगले दस दिनों तक कुछ बँधे नियमों का पालन करना पड़ता है। ये नियम मृत व्यक्ति के चरित्र से निर्धारित होते हैं। पहले इन दिनों को शोक समय कहते थे, बाद में इसे अशौच दिवस कहने लगे। इन दिनों मृतक के परिवार वाले प्रायः बाहरी संसार से अपना सम्बन्ध बहुत कम कर देते हैं। जीवन के आनन्ददायक कार्यों से भी उन्हें विरक्ति रखनी पड़ती है।

प्रथम दिन बीत जाने के बाद राख को इकट्ठा करने का काम होता है। यह काम प्राय. कृष्ण पक्ष की ग्यारहवीं तेरहवीं या १५वीं तारीख को किया जाता है। इस कार्य से खाली होकर वे स्नान करते हैं और मृतक का श्राद्ध कर्म करते ह।

इसी अवसर पर हमें श्राद्ध शब्द के दर्शन होते हैं। यह शब्द अर्थ पूर्ण है यदि केवल श्राद्ध शब्द के पूरे अर्थ को समझ लिया जाय तो समूची क्रियाओं में निहित भावनाओं को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। इस शब्द के विषय की सर्वाधिक मनोरंजक तथ्य यह है कि न तो श्राद्ध शब्द का दर्शन वेद में मिलता है और न ब्राह्मण ग्रन्थों मे। अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यह शब्द काफी बाद मे प्रचलित हुआ। आपस्तम्ब के धर्मशास्त्र में एक अनुच्छेद ऐसा है जिसमें हम समझ सकते ह कि श्राद्ध की क्रियाएँ बहुत प्राचीन नहीं है।

'पहले देव और मनुज इस पृथ्वी पर साथ-साथ रहते थे। अपने यज्ञों के सुफल के परिणाम स्वरूप देव लोग वैकुंठ वासी हो गये और मानव इसी पृथ्वी पर रह गया। इस पृथ्वी का जो भी मानव उन्हीं देवों के समान यज्ञ करते है वे भी मरणोपरान्त देव-सान्निध्य प्राप्त करते हैं। अपनी संतानों के भले के लिये मनु ने इस यज्ञ का विधान किया, जिसे हम श्राद्ध कहते है।'

श्राद्ध शब्द के कई अर्थ होते हैं। मनु ने इस शब्द का प्रयोग प्रायः पितृयज्ञ के पर्यायवाची के रूप में किया है, परन्तु वास्तव मे जिस किसी भी यज्ञ में श्रद्धा पूर्वक दान किया जाय उसी को श्राद्ध[1] कह सकते है। इसमें उचित पात्रों विशेषकर ब्राह्मणों को दान दिया जाता था। इस दान को ही श्राद्ध की संज्ञा दी गयी थी परन्तु कालान्तर में पूरे यज्ञ को ही श्राद्ध कहने लगे। पंडित नारायण ने आश्वलायन के गृह्य सूत्रों पर जो व्याख्या लिखी है, उसमें इस शब्द पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला है। उनके अनुसार 'पितरों के नाम से ब्राह्मणों को जो कुछ दिया जाता है, उसे श्राद्ध कहते हैं'।

१—श्राद्ध शब्द का मूल श्रद्धा है। देखिये श्रद्धया कृतम् इति श्राद्धम् अथवा श्रद्धार्थमिदम् श्राद्धम् या 'श्रद्धाया इदम् श्राद्धम्' – अनुवादक

किसी की मृत्यु के दिन इस प्रकार के दानों की बाढ सी आ जाती थी या जब कभी भी दिवंगत व्यक्ति की स्मृति वाह्य-रूप से प्रदर्शित की जाती थी, तभी इस प्रकार के दान दिये जाते थे। अत. इस दान देने की प्रक्रिया को ही श्राद्ध कहने लगे और न जाने कितने ही धार्मिक कर्तव्य इस नाम के साथ जोड़ दिये गये। इतनी बात अवश्य ही थी कि ये सभी कर्तव्य किसी मृत व्यक्ति के नाम से ही सम्बन्धित होते रहे। आप लोग यह न समझ लें कि श्राद्धोचित कर्तव्य केवल मरण सम्बन्धी कार्यों में ही किये जाते थे, नहीं, वे आनन्द के अवसरों पर भी पूरे किये जाते थे और इन अवसरों पर (विवाहादिक अवसरों पर) समूचे परिवार के नाम से दान दिया जाता था और उस परिवार में पितरों को भी शामिल कर लिया जाता था।

ऐसी स्थिति में श्राद्ध शब्द को जो लोग केवल सपिंडतिलोदक दान तक ही सीमित समझते हैं वे भूल करते हैं। वास्तव में प्रत्येक कार्य में पितरों के नाम पर दान करना श्राद्ध ही का प्रतीक था परन्तु, श्राद्ध की वास्तविक सार्थकता उस दान की परम्परा में है जो पितरों के नाम पर उचित अवसरों पर दिया जाया करता था।

आगे चल कर श्राद्ध का मुख्य उद्देश्य ही जैसे गायब हो गया और उनके वाह्या-डम्बरों ने आन्तरिक श्रद्धा का स्थान ग्रहण कर लिया। हमारे यहा भी मध्य युग में चर्चों को दान देने की परम्परा में भी निहित श्रद्धा का स्थान ठीक इसी प्रकार के वाह्या डम्बरों ने ले लिया था। वास्ताविकता यह है कि जिस उद्देश्य को सामने रखकर श्राद्ध का प्रारम्भ किया गया था, उसकी सदाशयता में सन्देह करने का कहीं भी कोई भी स्थान नहीं है। इसमें दूसरो की भलाई करने का उद्देश्य ही प्रबल नाम था। बात यह है कि परिवार या समाज में किसी की मृत्यु हो जाने पर घोर से घोर सासारिक व्यक्ति में भी कुछ अंशों में संसार से विराग आ जाता है, अतः इसी को दान करने का सर्वश्रेष्ठ अवसर माना गया। इसी समय हम यह समझने लग जाते हैं कि 'हमें यहा हमेशा नहीं रहना है, ये स्त्रीपुत्रादि भी सदा हमारे नहीं रहेंगे, हमारा जो कुछ अर्जित, संचित है, सब यहीं रह जायगा, केवल धर्म ही हमारे संग जायगा'। जिस समय मन में ऐसे विरागात्मक भाव उठ रहे हों उस समय को ही दान का सर्वोत्तम अवसर समझ कर श्राद्ध[1] को इतना अधिक महत्व दिया गया है। ऐसा भी माना जाता था कि जिस प्रकार आहुति को प्राप्त

---

[1] ब्रह्म पुराण मे कहा गया है 'तस्माच्छ्राद्धम् नरोभक्त्या शा कैरपि यथा विधि'
कुर्वीत् श्रद्धयातस्य कुले कश्चिन्न सीदति'
मार्कण्डेय पुराण मे 'आयु प्रजाम् धनम् विद्याम् स्वर्गम् मोक्षम् सुखानिच प्रयच्छन्ति
तथा राज्यम्, पितर श्राद्ध तर्पिता।
—अनुवादक

करने का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी अग्नि है, उसी प्रकार श्राद्ध में दिये गये दानों का सर्वोत्तम अधिकारी ब्राह्मण हैं। यदि हम इस स्थान पर ब्राह्मण शब्द को पुरोहित के अर्थ में ग्रहण करें तो हम सरलता से समझ सकते हैं कि कालान्तर में श्राद्ध की भावना के विरोध को इतना बल क्यों मिला ? परन्तु आप जानलें कि ब्राह्मण शब्द पुरोहित के अर्थ में शायद ही कभी आता हो अतः इस शब्द को पुरोहित के अर्थ में ग्रहण करना भी नहीं चाहिये। वैदिक काल में ब्राह्मण लोग एक विशिष्ट वर्ग के प्रतिभाशाली व्यक्ति होते थे। प्राचीन भारतीय समाज के वे एक अत्यावश्यक अंग थे और नाम के अनुरूप ही उनका चरित्र भी होता था। वे दूसरों के लिये जीते थे और धनोत्पादक श्रम से अलग रह कर वे अहर्निश समाज कल्याण का चिन्तन करते थे। पहले यह एक सामाजिक कर्तव्य था किन्तु कालान्तर में यही उनका धार्मिक कर्तव्य बन गया कि उनके खान-पान का व्यय समाज ही सँभाले। श्राद्धों में इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जाता था कि दान का पात्र पूर्णतया अपरिचित हो। न तो दानकर्ता का शत्रु हो न उसका मित्र ही हो। परिवार से सम्बन्धित तो उसे होना ही नहीं चाहिये। आपस्तम्ब का कथन है कि 'श्राद्ध में जो भोजन सम्बन्धियों को खिलाया जाता है वह पितरों को न मिलकर प्रेतो को मिलता है। वह न तो पितरों को पहुंचता है न देवों को'। जिन व्यक्तियों को श्राद्ध में दान दिया जाता था या खिलाया जाता था, उन्हें श्राद्ध मित्र कहते थे।

हम इस बात से इनकार नहीं करते कि श्राद्धों में अत्यधिक विकृति आ गयी है परन्तु हमें यह भी स्वीकार करना चाहिये कि जिन भावनाओं के वशीभूत होकर श्राद्ध कर्मों को प्रारम्भ किया गया था, वे भावनाएँ निर्दोष थीं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्हें समझा जा सकता है और उनके मूल श्रोत तक पहुँचा जा सकता है।

अब आइये, हम आश्वलायन के गृह्य सूत्रों पर फिर से विचार करें। आपको स्मरण होगा कि इसी ग्रन्थ में हमें श्राद्ध शब्द का प्रथम दर्शन हुआ था। यह श्राद्ध तब होता था जब मृतक के भस्मावशेष इकट्ठे किये जाकर गाड़े जा चुके होते थे। इस श्राद्ध को एकोदिष्ट[1] श्राद्ध कहते थे। एकोदिष्ट का अर्थ होता है 'वह श्राद्ध जो एक के ही उद्देश्य से किया गया हो।' एकोदिष्ट श्राद्ध एक व्यक्ति के लिये ही किया जाता था। न तो इसमें अन्य पितरों को बलि दी जाती थी और न ही अन्य पूर्वजों को। इस श्राद्ध का

---

[1] मत्स्य पुराणानुसार नित्य, नैमित्तिक और काम्य ये ३ प्रकार के श्राद्ध है।

यमस्मृति के अनुसार उपरोक्त तीन मे वृद्धि श्राद्ध व पार्वणश्राद्ध जोड़ कर पांच श्राद्ध हैं। इनके अतिरिक्त सपिंडन श्राद्ध, गोष्ठी श्राद्ध, शुद्धयर्थ श्राद्ध, कर्माङ्ग श्राद्ध, दैविक श्राद्ध, यात्रार्थ श्राद्ध और पुष्ट्यर्थ श्राद्ध ये सब बारह प्रकार के श्राद्ध भविष्य-पुराण में कहे गये हैं।

उद्देश्य होता था कि मृत व्यक्ति को पितरों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया जाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये मरणोपरान्त एक वर्ष तक निरन्तर वलि दी जाती रहती थी। यही सामान्य नियम था और शायद मौलिक नियम भी यही था। आपस्तम्ब के आदेशानुसार किसी भी मृत सम्बन्धी के लिये पूरे वर्ष भर प्रति दिन वलि देनी चाहिये। इसके पश्चात् प्रति दिन वलि न देकर प्रतिमास वलि दी जा सकती है, परन्तु यह मासिक श्राद्ध अनिवार्य नहीं है क्योंकि तब वह मृतक व्यक्ति पितरों की श्रेणी में पहुंच चुका होता है और पार्वण[1] श्राद्धों से अपना भाग प्राप्त करने की स्थिति में आ चुका होता है।

जब किसी शुभ अवसर पर श्राद्ध किया जाता है जैसे जन्म या विवाह के अवसरों पर तो उसमें पिता, पितामह तथा प्रपितामह को आमन्त्रित नहीं किया जाता। इन पितरों को अश्रुमुख पितर कहते हैं) प्रपितामह के भी पूर्व के पितरों को नान्दीमुख पितर कहते हैं और वे ही ऐसे शुभ अवसरों पर आमान्त्रित किये जाते हैं।

हम कोल ब्रुक के प्रति इस बात के लिये ऋणी हैं कि उन्होंने ही सर्वप्रथम यूरोप वालों को बताया कि श्राद्ध क्या है। उनका भी दृष्टिकोण प्राय, वही है, जिसका विवरण मैंने आप लोगों के सामने रक्खा है। उनका कहना है कि मृतककर्म में पहली अवस्था में जो भी क्रियाएँ की जाती हैं, उनका उद्देश्य यह होता है कि मृतक की आत्मा को प्रतिष्ठित कर दिया जाय। दूसरी अवस्था में जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनका उद्देश्य होता है मृतक को प्रेतयोनि से ऊँचा उठाकर पितर योनि में ले जाना और उनके बीच प्रतिष्ठित करना, क्योंकि हिन्दुओं का विश्वास है कि मरणोपरान्त मृतक की आत्मा प्रेत रूप में उन्हीं स्थानों के आसपास भटकती रहती है, जहाँ इसके भौतिक आधार नष्ट भ्रष्ट रूप में बिखरे रहते हैं और वह तब तक यों ही भटकता रहता है जब तक उसके सगे सम्बन्धी श्राद्ध क्रियाओं द्वारा उसे पितृयोनि में नहीं पहुँचा देते। इस कार्य के लिये असौच के दिनों के समाप्त हो जाने के बाद मृतक के नाम पर प्रतिमास एक श्राद्ध के हिसाब से बारह श्राद्ध किये जाते हैं। एक लघु श्राद्ध मरने के तीन पक्ष के बाद किया जाता है। ६वें मास के अन्त में षष्ठमासिक श्राद्ध किया जाता है। पूरा वर्ष समाप्त हो जाने पर वार्षिक श्राद्ध तनिक विस्तार के साथ किया जाता है। इसी श्राद्ध को सपिण्डन (पितरों की श्रेणी में मिलाने वाला) श्राद्ध कहते हैं। एकोदिष्ट श्राद्धों का अन्त समिण्डन श्राद्ध से होता है और इसके बाद यह मान लिया जाता है कि मृतक पितरों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो गया। इस सपिण्डन श्राद्ध में चार पिंडे दिये जाते हैं, एक मृतक के लिये तथा तीन अन्य तीन पितरों के लिये। मृतक के पिंड को तीन भागों में विभक्त करके अन्य तीन पिंडों में मिला दिया जाता है। इस प्रकार मानों मृतक को पितरों की श्रेणी में .मिला देने की

---

[1] अमावस्या मे या पर्व काल में किये गये श्राद्ध को पार्वण श्राद्ध कहते हैं।

क्रिया का अन्त हो जाता है और मृतक प्रेत योनि से निकल कर पितृ योनि में चला जाता है।'

एक बार जब श्राद्धकर्मों का प्रारम्भ हो गया तो उसका प्रचार बड़े जोरों से हुआ। शीघ्र ही पितृ यज्ञों के रूप में मासिक श्राद्ध भी होने लगे। पहले ये श्राद्ध केवल परिवार के मुख्य व्यक्तियों द्वारा ही किये जाते थे परन्तु कालान्तर में ये प्रत्येक गृहस्थ द्वारा किये जाने लगे। द्वि जातियों में श्राद्ध कर्मों का प्रचार हो जाने के समय ही शूद्रों मे भी इनका प्रचार प्रारम्भ हो उया, यद्यपि शूद्रो के श्राद्ध कर्म में वेद मंत्रों का उच्चारण नहीं होता था। पहले कुछ निर्धारित तिथियों पर ही श्राद्ध कर्म किये जाते थे परन्तु कालान्तर में प्रत्येक अवसर पर किये जाने लगे।

श्राद्ध कल्प में श्राद्धो के विषय में विद्वानों के बीच बड़े लम्बे वाद-विवादों का वर्णन है। इन वाद-विवादो के विस्तार से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार आज हम लोग श्राद्ध की मूल कल्पना के विषय मे भ्रमित हैं वैसे ही परवर्ती भारतीय विद्वान् भी भ्रमित हो गये थे। श्राद्ध कल्प की टिप्पणियो एवम् व्याख्याओं से हमारे उसी विचार की पुष्टि होती है।

उपरोक्त तथ्यो के प्रकाश मे यह परिणाम सरलता से निकाला जा सकता है कि भारतीयो के जीवन में एक भी दिन ऐसा नहीं बीतता था जब कि वे पितरों का स्मरण न करते हों। न केवल नजदीकी वरन् दूर के पितरों का स्मरण करके उनके प्रति सम्मान प्रगट करना अनिवार्य सा था। इस सम्मान प्रदर्शन के दो अंग थे। एक में तो पितरों को ही बलि दी जाती थी और दूसरे में पितरों की स्मृति में सत्पात्रों को दान दिया जाता था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सत्पात्रों में अधिकाश ब्राह्मण ही होते थे। दान क्रिया में साधारण खाद्य पदार्थों से लेकर सोना, चादी रत्नादि तक का दान किया जाता था। श्राद्ध कर्म करने वालों को या उनके सहायकों को नाना प्रकार के व्यंजन खिलाये जाते थे। एक विचित्र बात यह है कि यद्यपि परवर्ती काल में मास खाने का पूर्ण निषेध था। फिर भी जिस समय सूत्र ग्रन्थ लिखे गये, उस समय मास खाने का खूब प्रचार था।

इन सब बातों से प्रगट होता है कि यद्यपि श्राद्धों का समय पितृयज्ञ-काल से बहुत पीछे का है, तब भी इन श्राद्धों का सम्बन्ध भारतीय जीवन की अति प्रारम्भिक स्थिति से है। यह सम्भव है कि तब से अब तक के श्राद्धों में बहुत अन्तर आ गया हो, परन्तु उनकी मूलभावना अब भी ज्यों कि त्यों है। आज लोग देवोपासना का उपहास करते दिखायी देते हैं, परन्तु ये उपहास करने वाले लोग भी देवोपासना करते हैं साथ ही उनमें भी श्राद्ध की महत्ता एवम् पवित्रता भी उनके मनमें ज्यों कीं त्यों कायम है। कुछ लोग हमारे चर्चों के कम्यूनियन्स[1] से इन श्राद्धों

[1] ईसा मसीह की स्मृति में ईसाइयों द्वारा दिया जाने वाला भोज।

की तुलना करते हैं। भारतीय लोग इन श्राद्धों के प्रति गम्भीर एवम् पवित्र दृष्टिकोण रखते हैं और वे समझते हैं कि उनके इस पार्थिव जीवन में जो कुछ गम्भीरता तथा उच्चाशा आ पायी है वह सब इन्हीं श्राद्धों के ही कारण सम्भव हो सकी है। मैं एक कदम और आगे बढ़ कर अपने इस विश्वास को स्पष्ट या प्रगट कर देना चाहता हूँ कि हमारे यहा जो पितरोपासना का अभाव है वह एक प्रकार से हमारा अभाव है और इसे धर्म की त्रुटि भी मान सकते है। संसार के प्रत्येक धर्म में पिता के प्रति पुत्र की श्रद्धा को मान्यता दी गयी है। मातृ प्रेम या वात्सल्य भाव सभी में पाये जाते हैं। मैं मानता हूँ कि इन सब परम्पराओं पर विश्वास करने से उनके अन्धविश्वास पनप उठते हैं फिर भी हमें यह न भूलना चाहिये कि इन्हीं सब में मानवोचित विश्वास की वह धारा प्रवाहित होती है, जिसे नष्ट हो जाने देने से हमारा सामाजिक ढाचा ही गड़-बड़ हो जायगा। अपने प्रारम्भकाल में ईसाइयों मे भी दिवंगत आत्माओं के लिये प्रार्थनाओं की स्वीकृति की गयी थी। दक्षिण योरप के देशों मे भी सन्तों और आत्माओं के भजन गाये जाते थे। बात ऐसी है कि अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता की भावना मानव हृदय की सहज भावना है। इस भावना की संतुष्टि के लिये प्रत्येक मजहब में विधान था या होना चाहिये था। हम उत्तरी योरप के निवासी अपनी हृदय की व्यथा का खुला प्रदर्शन पसन्द नहीं करते परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिये कि हमारा हृदय कभी व्यथित ही नहीं होता। हम अपने अन्तर्तम में यह विश्वास करते हैं कि अपनी शान्ति बनाए रखने के लिये प्रार्थनाओं द्वारा हमें दिवंगत आत्माओं को प्रसन्न रखना ही चाहिये। इस भावना की स्थिति को सत्य रूप में ही स्वीकार करना चाहिये। इन आत्माओं को प्रसन्न रखने का सर्वोत्तम ढंग यही होता है कि उनकी स्मृति मे लोकोपकारक कार्य किये जायें।

प्राचीन वैदिक धर्म में हमें एक तीसरे 'परे' के भी दर्शन होते हैं। देवलोक एवम् पितृलोक से हटकर एक अन्य लोक की भी कल्पना है। यदि हम इस तीसरे 'परे' को यों ही छोड़ दें तो वैदिक धर्म का वह रूप ही न रह जायगा जो आज हमारे सामने है। इस तृतीय परे को वेद में सत्यलोक कहा गया है। मेरे विचार से सत्य ऋत का ही पर्याप वाची है। प्रारम्भ में शायद ऋत् शब्द को 'सीधी रेखा' के अर्थ में ग्रहण किया जाता था। ऋत् शब्द का प्रयोग हमारी राय में उस सीधी रेखा के लिये हुआ है, जिस पर सूर्य चलाता है, या उस सीधी रेखा के लिये हुआ है जिस पर चलकर नियम से दिन और रात हमारे सामने आते रहते हैं, या उस सीधी रेखा के लिये हुआ है जिस पर चलकर ६ ऋतुएँ क्रम से इस पृथ्वी पर आती जाती रहती हैं, या उस सीधी रेखा के लिये हुआ, जिस पर चलकर प्रकृति अपने सभी कामो को (कुछेक अपवादों को छोड़ कर) नियम पूर्वक करती रहती है। हम इसे ऋत् कहते हैं और जब ऋत् शब्द

को इसके सामान्य अर्थों में ग्रहण करते हैं तो इसका अर्थ होता है 'वे नियम जो प्रकृति को परिचालित एवन् नियंत्रित रखते हैं'। इसी शब्द को जब हम नैतिकता के लिये प्रयोग में लाते हैं तो इसका अर्थ हो जाता है नैतिकता को नियंत्रित करने वाली विधियां' या वे नियम, जिन पर हमारे जीवन की भित्ति स्थिर है। इसे ही चिरन्तन विधि या शास्वत नियम या सत्य नियम कह सकते हैं, जो हमारे हृदयों के भीतर भी प्रकाश देता है और बाहर भी, जो हमें सदाचरण की ओर प्रेरित करता है तथा जो हमारे वाह्य तथा अन्तः कों पवित्र बनाता है।

इसी प्रकार प्रकृति का दर्शन करते करते द्युतिमान् देवों की कल्पना सम्भव हो सकी थी और अन्त में एक सर्वशक्तिमान् परम्ब्रह्म की कल्पना साकार हो उठी थी। अपने माता पिता के प्रति प्रेम व सम्मान ने हमें पितृ लोक तक पहुँचा दिया था और पितरों को अमरत्व पद प्रदान कर दिया था। अब ऋत् की कल्पना, सीधी रेखा की कल्पना ने, वाह्य एवम् अन्तः संसार में व्याप्त सीधी रेखा की कल्पना ने सर्वोच्च विश्वास का रूप ले लिया, यह विश्वास इस अटल, अचल, अटूट नियम में था जो सबका जीवन दाता, पोषक, संचालक एवम् नियन्ता है। यह नियम ऐसा था जिसमे हमारा पूर्ण विश्वास हो सकता था। हमारा विश्वास बन गया कि हमारे ही भीतर एक ऐसी शक्ति है जो प्रत्येक परिस्थिति, देश व काल में हमसे कह देती है "यही ऋत् है, यही कर्तव्य है यही ठीक है, यही सत्य है," भले ही हमारे संगी, साथी, गुरु जन, वेद, धर्म शास्त्र या स्वयम् देवता भी उसके विरुद्ध मत प्रदर्शन क्यों न करें। हमारे सुपूज्य पितरों के आदेश भी इस आत्मा की आवाज के समक्ष ढीले पड़ जाते हैं।

प्राचीन काल में इन तीनों 'परे' की कल्पना की गयी थी और आज यही तीनों कल्पनाएँ हमें उस प्राचीन काल से परिचित कराती हैं, जब उनका जन्म हुआ था। यदि वैदिक साहित्य सुरक्षित न रहता तो आज उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न होकर हम प्राचीनों की विचार वीथी की सैर न कर पाते, प्राचीनों के धर्म से हम अपरिचित ही रह जाते। वेद में किये गये शोधो ने ही हमें बताया है कि उस प्राचीन काल के मनीषियों की मानसिक स्थिति क्या थी, मानसिक स्तर कैसा था, धार्मिक विश्वास कैसे थे और कैसे उन धार्मिक विश्वासों का उद्भव व विकास सम्भव हो सका था। जब संसार के अन्य साहित्यों का अस्तित्व भी नहीं था तभी वैदिक साहित्य ने अपने भंडार को इतना समृद्ध कर लिया था कि आने वाले लोग थोड़े ही कष्ट व श्रम से इन लोगों से सान्निध्य स्थापित कर सकें, जिन्होंने उस आदिम युग में इतनी बड़ी राशि संचित कर दी थी। वेद हमें प्राचीन काल की उस विशाल नगरी से परिचित कराता है जो उस समय बनी थी, जब दूसरे धर्मों के इतिहासों में केवल कूड़े के ढेरों को साफ भी नहीं किया जा सका था कि नवीन कारीगर

किसी नवीन नगरी की नींव डाल सकें। वैदिक साहित्य के द्वारा हमारा सुदूरगत बचपन स्मृति क्षितिज के ऊपर उभड़ कर हमारे नयनों के समक्ष सरकार हो उठा है। अभी केवल तीस चालीस वर्षों पूर्व तक हमारी यही धारणा बनी हुई थी कि हमारी खोया बचपन सदा के लिये खो गया है, पर वेद ने उस धारणा को ही बदल दिया है। आप लोग उस बीते बचपन की शिक्षण शक्ति को समझ चुके हैं।

अब मुझे थोड़े से शब्दों में आप लोगों को यह समझा देना है कि किस प्रकार भारत की इस धार्मिकता के विकास में ही दार्शनिकता के बीज छिपे हुए थे। भारत के दर्शन में एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह अन्य देशों के समान नहीं है। भारत के दर्शन का एवम् धर्म का चोलीदामन का साथ है और दर्शन को धर्म का सहयोगी होना ही चाहिये। भारत का तो दर्शन ही धर्म का रूप ले बैठा है। मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि भारत का दर्शनशास्त्र ही वहाँ का सर्वोच्च धर्म है। आप को यह जानकर आश्चर्य होगा कि भारत प्राचीनतम् दर्शन शास्त्र का प्राचीनतम नाम है वेदान्त अर्थात् वेद का अन्त, वेद का लक्ष्य या वेद का सर्वोच्च उद्देश्य।

एक बार फिर हम यास्क का स्मरण करेंगे। यास्क वही है जो ५वीं शताब्दी ईसा पूर्व में हुए थे और जिन्होंने यह कहा है कि उनके समय के काफी पहले भारतीय इस तत्त्व तक पहुच सके थे कि ये तमाम देवी देवता अन्ततः तीन देवों के ही स्वरूप हैं अर्थात् पार्थिव देव, वायवीय देव एवम् आकाशीय देव और इन्हीं की स्तुति विभिन्न नामों से की गयी है। उसी विद्वान् लेखक का कथन है कि देव तो वास्तव में एक ही है। यास्क के अनुसार वह देव न तो स्वामिन् है, न सर्वोच्च देव है, न सर्जक है, न शासक है और न ही सबका रक्षक है। वह उस देव को 'आत्मन्' नाम से पुकारता है। चूंकि वह आत्मन् इतना महान् है कि एक ही नाम से उसके पूर्ण स्वरूप को समझा नहीं जा सकता अतः गायकों ने उसके द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कर्मों के अनुसार उसके विभिन्न नाम रक्खे हैं और उन्हीं विभिन्न नामों से उसकी प्रार्थनाएँ की हैं। आगे चल कर यास्क का कथन है कि 'ये ढेर सारे देवता उसी आत्मन् के विभिन्न सदस्य हैं और जिस गायक को जिस सदस्य की जो विशेषता प्रिय होती है, वह उसी सदस्य की उसी विशेषता का वर्णन एकाधिक विधियों से करता है।'

यह सत्य है कि उपरोक्त शब्द एक वेदान्ती दार्शनिक के हैं न कि किसी वैदिक ऋषि के, फिर भी ये दार्शनिक विचार ईसा पूर्व ५वीं शताब्दी के हैं। सम्भव है कि इससे भी पूर्व के हों। आप यदि प्रयत्न करें तो इस विचार के बीज आपको वैदिक ऋचाओं में भी मिल सकते हैं। मैंने ऐसे सूक्तों के उद्धरण दिये है जो मित्र वरुण, अग्नि के बारे में कहे गये हैं और जिनमें उसे मरुत्मत् कहा गया है अर्थात् 'वह, जो है, अकेला है' और

कवि लोग उसी को नाना नामों से पुकार कर उसका यशगान करते हैं, उसे ही यम, अग्नि मातरिश्वन कहते हैं।

एक सूक्त में सूर्य की उपमा एक पक्षी से दी गयी है। कहा है कि 'ऋषि लोग उस अकेले पक्षी को विविध नामों से पुकारते हैं और उसका यशोगान करते हैं'।

ये सभी विवरण पौराणिकता के रंग में रंगे हुए हैं, परन्तु ऐसे भी विवरण मिलते हैं जिनकी प्रकाश किरणें प्रत्येक वस्तु का, प्रत्येक विचार का स्पष्ट दिग्दर्शन करा देती हैं। एक ऋषि का कथन है :—

'जब वह सर्व प्रथम पैदा हुआ तो उसे किसने देखा। जब अस्थिहीन ने अस्थिमय का जनन किया तो उसे किसने देखा। तब वायु कहाँ थी, रक्त कहाँ था, तथा संसार की आत्मा कहाँ थी ? इन सब तत्वों का ज्ञाता कौन था, जिससे जिज्ञासुओं ने पूछा ?'

इन विवरणों की प्रकाश रेखाएँ भी बहुत स्पष्ट नहीं हैं फिर भी विवरण का सार स्पष्ट है यद्यपि शब्दावली सकाम नहीं है। वास्तव में अस्थिमय से दृश्य का, स्थूल का तात्पर्य है और अस्थिहीन का अर्थ है अरूप, अदृश्य, सूक्ष्म। 'वायु, रक्त और संसार की आत्मा' द्वारा उस आत्मन को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है जो अकल्पनीय, अगोचर एवम् असंख्य है।

वैदिक साहित्य के द्वितीय युग में ब्राह्मण ग्रन्थों में या विशेषतया उपनिषदों में या वेदान्त भाग में विचार पूर्णतः स्पष्ट और निश्चयात्मक हो गये हैं। वैदिक ऋचाओं ने जिन धार्मिक विचारों को अंकुरित किया था वे ही इस द्वितीय युग में पल्लवित एवम् पुष्पित हो गये हैं। परिधि पूरी हो चुकती है। पहले 'एक' को स्पष्ट करने के लिये अनेक नामों की कल्पना की गयी थी और अब 'एक' ही इन नामों का स्पष्टकर्ता बन गया। प्राचीन नाम हटाये जाने लगे। प्रजापति, विश्वकर्मन् धातृ इत्यादि नामों को अपर्याप्त समझा जाने लगा। उस एक को निर्देशित करने के लिये जिन नामों की कल्पना की गयी वे सर्वोच्च आत्म-चेतना सम्बन्धी होने लगे। यह शब्द है 'आत्मन जो हमारे 'ईगो'[1] (Ego) से कहीं अधिक भावपूर्ण है। आत्मन शब्द बहुव्यापक है, वह तमाम पदार्थों का आत्मन् है, तमाम पौराणिक देवों का आत्मन है, क्योंकि देवों के जिन नामों की कल्पना की गयी थी वे केवल नाम ही नहीं थे, वे अर्थगर्भित थे, किसी का अर्थ समझाने के लिये

---

[1] Ego का अर्थ होता है आत्मा, परन्तु उससे 'मैं' का अर्थ ध्वनित होता है। Egoism उस सिद्धान्त को कहते हैं जिसके मानने वालों का कहना होता है कि 'अपने अस्तित्व के सिवा और किसी के अस्तित्व का प्रमाण नहीं है'। Egoism को अहम्वाद या आत्मवाद कह सकते हैं। इसमें अहंकार की बू आती है।

—अनुवादक

गढ़े गये थे। अन्ततः आत्मन् ही वह है जो अन्त में सबको शरण देता है, विश्राम देता है, शान्ति देता है, क्योंकि प्रत्येक अपने को ही पाना चाहेगा, अपने सच्चे रूप को ही पाना चाहेगा।

आप को स्मरण होगा कि अपने दूसरे भाषण में मैंने एक बालक का उदाहरण दिया था जिसने अपने सर्वस्वार्पण यज्ञ करते हुए पिता से हठ किया था कि उसकी भी बलि दे दें, यम के पास जाकर जिसे तीन वरदान मिले थे और तीसरे वरदान के रूप में जिसने यम से प्रश्न किया था "मरने के बाद व्यक्ति की क्या स्थिति होती है?" यम और उस बालक के बीच जो वार्तालाप हुआ था, उसका वर्णन एक उपनिषद् में किया गया है। उसकी चर्चा वेदान्त में भी हुई है। मैं आपके सामने उस वार्तालाप के कुछ अंशों का अनुवाद रक्खूगा।

मृतकों के देवता यम कहते हैं :—

'जो मूर्ख हैं, मूर्खता में ही निवास करते हैं और अपने को बुद्धिमान समझते हैं तथा ज्ञान के व्यर्थ अहंकार में फूले-फूले फिरते हैं वे बार-बार इधर से उधर (जन्म और मृत्यु के बीच में) चक्कर काटते हैं। जिस प्रकार एक अंधा दूसरे अंधे को रास्ता बताता है वैसे ही उनका झूठा ज्ञान उन्हें चक्कर दिया करता है।'

'जिसकी आँखें धन के गर्व से अन्धी हो गयी हैं, उन्हें अपना आगामी जीवन कभी नहीं दिखायी पड़ता। उसकी समझ में यही संसार ही सब कुछ होता है, उसे इस संसार से परे जो संसार है, उसका कोई ज्ञान नहीं होता, अतः वह बार-बार मेरे शासन में आया करता है।'

'बुद्धिमान् आदमी आत्मन् का चिन्तन करके अन्तःस्थ पुराण को पहचान लेता है, दुःख और सुख की भावना को बहुत पीछे छोड़ देता है।

'वह आत्मन् ज्ञाता है, उसका जन्म नहीं होता, मरण नहीं होता। न तो कहीं से आता है और न उसका कुछ होता है, वह अनादि से अनन्त तक रहता है। शरीर मर जाता है न कि आत्मन्।'

'वह आत्मन् लघुत्तम से भी लघु और महत्तम से भी महत् है, वह जीवों के हृदय में निवास करता है। जिसकी कामनाएँ नष्ट हो गयी हैं, जिनकी दु.ख भावना मिट चुकी है। वह स्रष्टा की कृपा से उस आत्मन् के वैभव को देखता है।'

'वह बैठा रहता है, फिर भी दूर तक उसकी गति है, विश्रामरत रह कर भी वह

सर्वत्रगामी है। मेरे सिवा उस आत्मन् को कौन देख सकता है जो आनन्द रूप होते हुए भी आनन्दित नहीं होता।'

'उस आत्मन् की प्राप्ति न वेद से हो सकती है, न ज्ञान और न विद्या से। उस आत्मन् की इच्छा से ही उसको जाना जा सकता है। वह जिसे चुनता है, वही उसे जानना[1] है। वह जिसे अपना लेता है वही उसे जानता है।'

'जिसने अपनी दुष्टता का त्याग नहीं किया है, जो शान्त नहीं है, जो उसकी शरण में नहीं है, जिसका मनस् स्ववश नहीं है, वह कभी आत्मन को नहीं प्राप्त कर सकता। ज्ञान भी उसे आत्मन्-प्राप्ति मे सहायक नहीं हो सकता।'

'कोई भी मर्त्य श्वासोच्छ्वास की क्रिया से नहीं जीवित रहता। हम उसकी इच्छा से जीवित रहते हैं जिसके वश मे ये दोनों श्वास हैं।'

'अच्छा अब मैं तुमसे उस भेद को कहता हूं, उस नित्याक्षर को (ब्रह्मन्) कहता हूँ और अब मैं यह बताऊँगा कि मरने के बाद व्यक्ति की क्या गति होती है।

'कुछ तो फिर जन्म लेते है, कुछ संचित कर्मों के अनुसार वृक्ष या पाषाण हो जाते हैं। कौन किस योनि में जाना है यह उसके ज्ञान पर निर्भर होता है।

'किन्तु वह, जो सर्वोच्च पुरुष है, वह तब भी जागृत रहता है। जब हम सोते रहते हे और नित नये दृश्यों का निर्माण किया करता है, उसे ज्योति कहते हे, उसे ब्रह्मन कहते हैं, वही अकेला नित्य है। सभी संसार उसी पर आश्रित है, कोई उससे अलग नहीं है।' 'यह वही है'।

'जिस प्रकार ज्वलित पदार्थों की भिन्नता से एक ही अग्नि विभिन्न प्रकार की प्रतीत होती है, उसी प्रकार वह अकेला आत्मन् अपने द्वारा धारण किये गये विभिन्न शरीरों के कारण विभिन्न आकार का दिखाई देता है परन्तु उसका अस्तित्व उन सब शरीरों से अलग रहता है।'

'इस संसार की आँख सूर्य है। जिस प्रकार गन्दी से गन्दी वस्तु पर पड़ने से सूर्य-किरण स्वयम् कभी गन्दी नहीं होती, उसी प्रकार सबके भीतर रहता हुआ भी वह आत्मन् संसार की बुराइयों से दूषित नहीं होता, क्योंकि वह निर्लिप्त रहता है।'

'वह नित्य विचारक है जो अनित्य की बात सोचा करता है। वह अकेला है पर सबकी इच्छापूर्ति किया करता है। जो बुद्धिमान उसे अपने ही भीतर देखता है वह भी शास्वत जीवन और शास्वत शान्ति प्राप्त करता है।'

'इस समस्त संसार में जो कुछ दृश्य या अदृश्य है वह ब्रह्मन से बिछड़ा हुआ

---

[1] देखिये रामचरित मानस में 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई'। —अनुवादक

उसी का रूप है और उसी की श्वास से जीवित है। वह ब्रह्मन् खिंची तलवार की तरह रक्षक भी है और घातक भी। जो उसे जानते हैं, अमर हो जाते हैं।'

'वह वाणी से अगम है, मन से अगम है, दृष्टि से अगोचर है। उसका स्वरूप चिन्तन सम्भव नहीं है। उसका चिन्तन वही कर सकता है, जो कहता है 'वह है'।'

'जब हृदय की सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब अनित्य भी नित्य होता है और आत्मन् तक पहुँच जाता है।'

'जब हृदय के समस्त बन्धन टूट जाते हैं, जब इस संसार में प्राणियों को बाँध रखने वाले सभी बन्धनों का अन्त हो जाता है तब ही मर्त्य अमर होता है और यहीं पर हमारे इस उपदेश का अन्त होता है।'

उपरोक्त उपदेश वेदान्त के हैं—वेदान्त अर्थात् वेद का अन्त, वेद का लक्ष्य, वेद का सार। यही वेदान्त प्रचारित धर्म भी है और दर्शन भी। आप चाहे इसे जो कहें, परंतु इतना तो सत्य ही है कि ईसा पूर्व ५०० वर्ष से अब तक यह इसी प्रकार चला आ रहा है। आप भारतीयों के पितृ यज्ञों को छोड़ दीजिये, आप उनकी वर्णव्यवस्था को भी छोड़ दीजिये फिर भी हम कह सकते हैं कि यदि भारतीयों में धर्म की कोई व्यवस्था है तो वह हमें वेदान्त दर्शन में ही दिखायी पड़ती है और प्रशसनीय बात यह है कि वेदान्त दर्शन के अनेक प्रमुख अंग गंवई गाँव के निरक्षर व्यक्ति भी पूरी तरह समझते है। राजाराम मोहन राय ने केवल ५० वर्ष पहले जिस धर्म का पुनरुद्धार प्रारम्भ किया था और जिसके अनुयायियों के समूह को हम आज ब्रह्मसमाज कहते हैं, उसकी आधार शिक्षा उपनिषदों की शिक्षाएँ थीं। ब्रह्मसमाज का यह आन्दोलन मेरे सज्जन मित्र श्री केशव चन्द्र सेन के नेतृत्व में चलाया गया था। उपनिषदों पर आधारित होते हुए भी इस आन्दोलन की भावना वेदान्तभावना से ही अनुप्राणित थी। सर्वाधिक प्रशंसनीय यह है कि हिन्दुओं के प्राचीनतम एवम् नवीनतम विचारों में एक तारतम्य है, एक शृङ्खला है जो तीन सहस्र वर्षों की लम्बी अवधि में भी कहीं से टूटी नहीं दिखायी देती, विशृंखलित नहीं दिखायी देती।

लोगों ने वेद की महत्ता को कम करने के कम प्रयत्न नहीं किये हैं, पर उसका महत्व आज भी वैसा ही है। आज भी धार्मिक, सामाजिक या दार्शनिक विवादों में वेद को ही अन्तिम माना जाता है। मेरा विश्वास है कि जब तक भारत-भारत बना रहेगा तब तक वेदान्त की भावना भी जीवित रहेगी, क्योंकि यह भावना केवल ग्रंथों, मनीषियों तथा विद्वानों की भावना नहीं रह गयी है, वह सार्वजनिक बन चुकी है, वह हिन्दू के नस नस में समा चुकी है। मूर्ति पूजक के स्तोत्रों में भी वेदान्त भावना का ही प्राधान्य है। दार्शनिक की वाणी में भी वह भावना उसी प्रकार रमी हुई है जिस प्रकार एक भिखारी द्वारा कही गयी साधारण कहावतों में।

इसी लिये मेरा विचार है कि यदि हम उस मूल श्रोत को जानना चाहते ह जो हमारे चरित्र का निर्माता है, विचारों का प्रेरक एवम् कार्यों का नियन्ता है, जो भारत के निम्नतम वर्गीय व्यक्ति से लेकर उच्चतम वर्गीय व्यक्ति तक को प्रभावित एवम् अनुप्राणित करता है, तो हमें भारतीयों के धर्म से परिचित होना चाहिये जिसकी भित्ति वेद की आधार-शिला पर है तथा हमें उस दर्शन से भी परिचित होना चाहिये जो वेदान्त द्वारा प्रतिपादित किया गया है ।

इस आवश्यक महत्ता को कम करना एवम् अनेक यूरोपीय विद्वानों की भाति यह कह देना सरल है कि राजनीति को धर्म और दर्शन से क्या मतलब है । यह सही है कि इस समय भारत में विपरीत स्थिति दिखायी पड़ रही है और यह भी सही है कि यदा-कदा स्वयम् भारतीय जन धार्मिक विषयो से अपनी गहरी उदासीनता का खुल कर ढिंढोरा पीटते देखे जाते हैं, फिर भी भारत में धर्म एवम् दर्शन की एक अपनी शक्ति है जो सदेव अदम्य रही है, है और आगे भी रहेगी । अभी हाल में ही भारत के दो सुप्रसिद्ध भारतीय प्रशासकों ने कुछ विवरण प्रकाशित कराया है । ये दोनों महापुरुष सौराष्ट्र के अन्तर्गत जूनागढ़ तथा भावनगर के गोखले[1] जी तथा गौरीशंकर[2] जी हैं । आप उनके द्वारा प्रकाशित साहित्य को पढ़ें और तब देखें कि आज भी भारत में धर्म और दर्शन कितने शक्तिशाली हैं ।

---

[1] गोखले जी—गोखले जी एक सुसस्कृत परिवार में पैदा हुए थे । प्रारम्भ मे उन्होने संस्कृत एवम् फारसी का अध्ययन किया । उनका प्रशासकीय जीवन भी पूर्ण सफल रहा परन्तु उन्हें सर्वाधिक आकर्षित किया वेदान्त ने । वेदान्त के प्रारम्भिक अध्ययन ने ही उनकी जीवन दिशा बदल दी और उन्होने समझ लिया कि भौतिक सुख साधनों से कभी भी सच्चा सुख नहीं मिल सकता । एक समय राम बाबा नाम के एक सन्यासी जूनागढ में आये । उनका वेदान्त ज्ञान अपूर्व था । गोखले जी इन्ही के शिष्य हो गये । इसके पश्चात् परमहस सच्चिदानन्द नामक एक अन्य सन्यासी से भी उन्होने बहुत कुछ सीखा । वेदान्त का पर्याप्त ज्ञान हो जाने के बाद से उनका जीवन ही बदल गया । जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में उन्हें वेदान्त ज्ञान ने अचल अटल एवम् निर्भय रक्खा । उनके ज्ञान एवम् उनकी जीवन पद्धति में अँगरेज अधिकारी भी अत्याधिक प्रभावित थे और उन्हें 'एक आदर्श भारतीय प्रशासक' कह कर उनका सम्मान करते थे ।

[2] गौरीशकर (उदय शकर १८०५-१८९१) ने सन् १८२२ मे भावनगर राज्य में नौकरी पायी और वे सन् १८४६ में दीवान बना दिये गये । लम्बी अवधि तक सफलतापूर्वक दीवानी करने के बाद सन् १८७९ ई० में उन्होंने सेवा कार्य से मुक्ति ले ली और १८८६ में उन्होने सन्यास ले लिया । सी०एस०आई० की उपाधि भी बृटिश सरकार से मिली थी । —अनुवादक

मेरा विचार है या यो कहिये कि मेरा विश्वास है कि वेदान्त की महत्ता का पूरा मूल्याकन अभी तक नहीं हो सका है और इसी लिये मेरा कहना है कि न केवल भारतीय नागरिक प्रशासन के कर्मचारी को ही वरन् दर्शनशास्त्र के प्रत्येक सच्चे विद्यार्थी को वेदात का अध्ययन करना ही चाहिये। यह अध्ययन हमारे सामने जीवन के प्रति एक ऐसा दृष्टि-कोण प्रस्तुत कर सकता हैं जो उन सभी दृष्टिकोणों से भिन्न होगा जो दर्शनशास्त्र के इतिहास का अध्ययन करने के क्रम में हमारे सामने आते रहे हैं। आप ने देखा कि किस प्रकार उपनिषदों ने अनेक वैदिक देवों की पृष्ठभूमि में आत्मन् की, ब्रह्मन् की प्रतिष्ठा की और उस आत्मन् की केवल तीन विशेषताओं की ही चर्चा उन्होंने की। अर्थात् वह सत् है, चित् है, आनन्द है अर्थात् सच्चिदानन्द है। इसके पूर्व उस एक देव की जितनी भी विशेषताएँ कही गयी थीं वे नकारात्मक थीं अर्थात् वह ऐसा नहीं है, वह ऐसा नहीं है और वह ऐसा नहीं है जिसका नाम रक्खा जा सके या जिसकी भावना मूर्त की जा सके। उसे अनाम, अनादि, अन्त, अनाम, निर्गुण, निर्लेप, निरंजन इत्यादि विशेषण दिये गये थे, जो सब के सब नकारात्मक ही थे यहाँ तक कि उसकी भावना भी अन्यारी ही थी।

परन्तु वह आत्मन्, वह सर्वोच्च आत्मन्, अर्थात् परमात्मन् की खोज कितने ही नैतिक एवम् बौद्धिक अनुशासनों का परिणाम थी और जो लोग इन अनुशासनों की सीमा में नहीं आ पाते थे उन्हे पूरी छूट थी कि वे उन्हीं देवों की उपासना करते रहें और अपनी संतुष्टि के लिये उन्हें ही विविध नामों से पुकारें और उन्हीं की प्रार्थना किया करें। जो देव शब्द के वास्तविक अर्थ को समझते थे अर्थात् जिनको यह पता था कि ये सब नाम केवल नाम ही हैं, वे भी अपने अन्तर्तम में यह अनुभव करते थे कि किसी भी देव की उपासना का अर्थ उसी एक की ही उपासना है। भारत के धर्म के इतिहास की यह एक प्रमुख विशेषता है। आपने गीता का नाम सुना है। उसमें भी वेदान्त के ही सिद्धान्त प्रति-पादित हैं। उसमें भी भगवान् ने कहा है "जो मूर्ति को पूजते हैं वे भी मेरी ही पूजा करते हैं।"

बात केवल इतनी नहीं है। जिस प्रकार अग्नि, इन्द्र प्रजापति इत्यादि नामों के ही क्रम में प्राचीन भारतीय ऋषियों ने सर्व व्याप्त आत्मन् का ज्ञान प्राप्त कर लिया, उसी प्रकार उन्होंने शरीर के पर्दे के परे, मानव मस्तिष्क तथा तर्क के परे अन्तरा-त्मन की भी खोज कर ली। इस अन्तरात्मन् की प्राप्ति भी नैतिक एवम् बौद्धिक अनुशासनों का परिणाम थी और जो अपने को नहीं बल्कि उससे भी परे अन्तरात्मन् की खोज करना चाहते थे उन्हें इन्द्रियों, मस्तिष्क, तर्क तथा साधारण आत्मानुभूति की सीमाओं को तोड़ कर और भी आगे जाना पड़ा था। इसके पूर्व जिसका वे अत्यधिक आदर करते थे, जिन्हें वे पूज्य ही नहीं सब कुछ मान बैठे थे, इससे पूर्व जिसे वे आत्मा समझ बैठे थे, उन सब के मोह को आदर को, मान्यता को परित्यक्त कर सकने के पश्चात्

ही वे उस आत्माओं के आत्मा, पुरातन पुरुष, सर्वद्रष्टा को पहचान सके थे जो व्यक्तित्व से परे हैं, अस्तित्व अथवा जीवन से परे हैं ।

एक बार इस बिन्दु तक पहुँच जाने के बाद तो मानों ज्ञान का द्वार ही खुल गया और उषा नित नये स्वरूपों से झाँकने लगी। धीरे-धीरे अतरात्मन् या प्रत्यात्मन् भी परमात्मन् में ही समाहित हो गया और यह विश्वास किया जाने लगा कि इनमें कोई अन्तर नहीं है । वे वास्तव में एक ही हे । इस प्रकार धर्म के स्वप्न का एवम् दर्शन के लेंद्ध प्रकाश का एकमात्र लक्ष्य 'वह' ही हो गया ।

वेदान्त दर्शन में यह आधारभूत सिद्धान्त सम्यक् रूप से प्रतिपादित किया गया है और मेरा विश्वास है कि बर्कले के दार्शनिक सिद्धान्तों को पसन्द करने वाला कोई भी व्यक्ति यदि उपनिषदों ब्रह्मसूत्रों तथा उनकी व्याख्याओं को पढेगा तो न केवल उसका ज्ञान समृद्ध ही होगा वरन् वह परिष्कृत भी होगा ।

मैं मानता हूँ कि प्राच्य दर्शन की अँधेरी खानों को खोदकर शुद्ध स्वर्ण खण्डों को प्राप्त करने के लिये धैर्य, विवेक और कुछ हद तक आत्मसंयम की आवश्यकता होगी, पर क्या इसीलिये हम उस स्वर्ण को प्राप्त करने का प्रयत्न ही करना बन्द कर देंगे ? थोड़े आलोचकों के लिये यह सरल भी है और उपहासजनक भी । परन्तु जो विद्यार्थी हैं, जिनमें ज्ञान के प्रति प्रेम है तथा जो ईमानदारी से सत्य की खोज करना चाहते हैं और विचित्रताओं में से सत्य को खोज निकालते हैं, वे कभी भी ऐसा नहीं कर सकते । पिछले कुछ वर्षों में प्राच्य धर्मों एवम् दर्शनों में कुछ महत्वपूर्ण शोध हुए हैं । पूर्वी देशों के पवित्र ग्रन्थ हमारे लिये प्राप्य हैं ।

यदि आप यह समझते हो कि मेरे द्वारा प्रस्तुत विवरण अति रंजित हैं तो मैं आपके समक्ष एक महान दार्शनिक-आलोचक के कुछ शब्द रक्खूंगा । उस विद्वान् की यही विशेषता थी कि दूसरों के विचारों की व्यर्थ प्रशसा करना उसके स्वभाव के विपरीत था । इस प्रसिद्ध विद्वान् शापन हावर ने उपनिषदों पर अपना विचार प्रगट करते हुए लिखा है कि :—

'समूचे संसार में कोई भी अध्ययन इतना लाभजनक और ऊँचा उठाने वाला नहीं है जैसा कि उपनिषदों का अध्ययन । यह मेरे जीवन का संतोष रहा है और यही मेरी मृत्यु का भी संतोष रहेगा ।'

मैंने भाषणों के इस क्रम में पूरा प्रयत्न किया है कि आप को प्राचीन भारत तथा उसके साहित्य का साधारण परिचय मिल जाय और खास तौर से भारत के प्राचीन धर्म—

का भी साधारण परिचय आप को मिल जाय। मेरे भाषणों का उद्देश्य इतना ही नहीं था कि मैं आपके सामने कुछ नामों एवम् तथ्यों को रख दूँ। इन नामों एवम् तथ्यों को तो आप अनेक मुद्रित ग्रन्थों में भी पा सकते थे। वास्तव में मेरे भाषणों का यह उद्देश्य था कि मैं आपको बता सकूँ कि मानव जाति के इतिहास के उस प्राचीन अध्याय में हमारी रुचि क्यों होनी चाहिये। मैं चाहता था कि जब आप वेद, उसके धर्म और उसके दर्शन पर कभी विचार करना चाहे तो वे आपको विचित्र एवम् अपरिचित न लगें बल्कि आप यह समझ सकें कि आप एक ऐसा अध्ययन करने जा रहे हैं जो आप ही से सम्बन्धित है, आपके बौद्धिक विकास से सम्बन्धित है, मानो स्वयम् आपके ही बचपन से सम्बन्धित है या कम से कम आप की जाति के शिशुत्व से सम्बन्धित है।

मैं यह नहीं कहता कि ऐसे हर व्यक्ति को संस्कृत तथा वैदिक संस्कृत अवश्य ही सीखना चाहिये। जो यह जानने को इच्छुक हों कि मानव जाति आज जैसी है वैसी बनने के लिये उसे किन स्थितियों से गुजरना पड़ा, आज की भाषा का यह रूप कैसे हो गया, आज के धर्म को यह रूप कैसे प्राप्त हुआ, हमारे आचार हमारी परम्पराएँ तथा हमारे कानून इस रूप को कैसे प्राप्त हुए, या हम स्वयम् कैसे इस स्थिति में पहुँच गये। फिर भी मेरा विश्वास है कि यह न जानना एक दुर्भाग्य ही है कि संस्कृत भाषा के अध्ययन ने या विशेषतया वैदिक साहित्य के अध्ययन ने मानवीय मस्तिष्क के विकास के इतिहास के तमसाच्छन्न अध्याय को किस प्रकार परम लाभदायक ढंग से प्रकाशित कर दिया है। मेरा ऐसा विचार है और ऐसा विश्वास भी कि आप लोग भी इससे सहमत होंगे कि यह एक प्रकार का अभाव है, जीवन का महान् अभाव है कि जिस मस्तिष्क के बल पर आज हमे इतने अधिक सुख सुविधा के साधन प्राप्त हैं, हम उसी के विकास क्रम को न जानें या जानने का प्रयत्न ही न करें। आज के जीवन में एक व्यक्ति बिना यह जाने भी जीवित रह सकता है कि पृथ्वी क्या है, उसकी बनावट कैसी है, वह इस स्थिति में कैसे आयी और सूरज, चाँद सितारों की गति क्या है और कैसी है। यह जाने बिना भी वह जी लेगा कि किस नियम या किसकी इच्छा के अनुसार ये अगणित रवि राशि तारे अनादि काल से निरन्तर नियमित गति से परिचालित हैं, परन्तु मैं आपसे ही पूछता हूँ कि आप ऐसे व्यक्ति के जीवन को जीवन कहने के लिये तैयार हैं?

टिप्पणियाँ

पृष्ठ

२० **मार्को पोलो**—मार्को पोलो पहला योरोपियन यात्री था जिसने ईसा की १३ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समूचे एशिया महाद्वीप को पार किया था। दक्षिण भारत के राज्यों के विषय में उसने जो कुछ लिखा है वह महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उसके भ्रमण-वृत्तान्त का अनुवाद अंगरेजी भाषा में एकाधिक बार किया गया है।

२० **एलिफैण्टा**—बम्बई से ५ मील की दूरी पर कितने ही गुफा मन्दिरों की मालाएँ ह। ये प्रख्यात मन्दिर भारतीय भवन निर्माण कला के अध्ययन की बहुमूल्य सामग्री हैं। ये मन्दिर एक टापू पर हैं, जिस पर पुर्तगालियों के आगमन काल में पत्थर का एक विशाल हाथी बना हुआ था। इसी लिये उन्होंने इस टापू को एलि-फैण्टा कहना शुरु कर दिया। वह हाथी अब बम्बई के विक्टोरिया गार्डेंस के अजायब घर मे रख दिया गया है। इस टापू का प्राचीन नाम गिरिपुर है तथा कुछ इतिहासकारों का मत है कि पिछले गुप्त राजाओं की राजधानी यहीं थी।

बम्बई शहर के पास ही धारा पुरी, (एलिफैण्टा) योगेश्वरी, कन्हेरी, भरोल तथा मगडलेश्वर की गुफाएँ हैं।

२१ **सर् विलियम जोन्स**—(१७४६–१७६४)—सन् १७८३ ई० में उसे कलकत्ता में न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया। वह संस्कृत भाषा का अध्ययन करने वाला प्रथम अंग्रेजी विद्वान था। सन् १७८४ ई० में उसने एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल की स्थापना की, एवम् उक्त संस्था का प्रथम अध्यक्ष चुना गया।

२१ **थामस कोलब्रुक** (१७६५–१८३७,—एक महान गणितज्ञ एवम् नक्षत्रशास्त्री होने के साथ-साथ वह संस्कृत का प्रकाण्ड विद्वान भी था। १८०१ ई० में उसे सदर दीवानी अदालत के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया और चार ही वर्ष पश्चात् वह उक्त अदालत का सदस्य हो गया। सन् १८०७ ई० से १८११ ई० तक वह सुप्रीम कौंशिल का सदस्य रहा और तत्पश्चात् इंग्लैण्ड लौटने के समय अर्थात् सन् १८१४ ई० के अन्त तक बोर्ड आव रिवेन्यू का सदस्य रहा, उक्त पदों पर रहने के अतिरिक्त सन् १८०७ से १८१४ ई० तक वह एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल का अध्यक्ष भी रहा। सन् १८२३ ई० में लन्दन में एशियाटिक सोसा-

पृष्ठ•

इटी की स्थापना में पर्याप्त सहायता पहुँचाई, और उक्त सस्था का डाइरेक्टर भी हो गया।

२५ **हूकर्स**—(विलियम जैक्सन १७८५–१८६५ ई०)—वह एक वनस्पति-शास्त्री तथा लन्दन स्थित क्यू बोटेनिकल गारडेन का डाइरेक्टर था।

२५ **हैक्केल**—सन् १८३४–१९१९ ई०]—वह एक प्रसिद्ध जर्मन जीव शास्त्री था, जिसने सन् १८८२ ई० में अपनी भारत-यात्रा का विवरण लिखा था। वह प्रथम जीव शास्त्री था जिसने जीवों की विभिन्न श्रेणियों के पारस्परिक सम्बन्ध के वशवृक्ष की रचना की थी।

२६ **डेरिक्स**—प्राचीन फारसी मुद्रा, जिस पर फारस के बादशाह दारा की मूर्ति अंकित है।

प्लेटो रचित क्रेटिलस—(रचना काल सन् ४११ ई०) - "चूँकि मैंने अब भी शेर का रूप धारण कर रक्खा है, अतः मुझे भयकातर नहीं होना चाहिए" सम्भवतः यह अभिव्यक्ति व्याघ्र-चर्म में लिपटे गधे की कथा से नहीं बल्कि हरकुलिस से सम्बन्धित है। 'हितोपदेश' की एक कथा के अनुसार जब एक व्यक्ति अपने गधे के चारे का कोई प्रबन्ध नहीं कर पाता, और गधा भूख से मरने की स्थित आ जाता है। तब उस गधे का स्वामी एक उपाय सोचता है, और गधे के ऊपर शेर की खाल डालकर उसे हरी फसलों में हाँक देता है। कुछ दिन तक यही क्रम चलता है, परन्तु एक दिन एक रखवाला भूरे वस्त्रों में स्वयम् को छुपाकर व्याघ्रचर्म में छिपे गधे को मारने का प्रयत्न करता है। गधा उस रखवाले को, भूरे वस्त्रों के कारण गधी समझ कर प्रेमावेश में रेंकने लगता है और मारा जाता है।

२६ **त्रिपिटक**—इसका शाब्दिक अर्थ है, 'तीन पिटारियाँ, बौद्ध धर्म के समूचे उपदेश तथा विचार प्रणाली को गौतमोत्तर कालीन उन्हीं के विद्वान शिष्यों ने जिन ग्रन्थों मे सग्रहीत किया है, उन्हें बौद्ध-साहित्य में पिटक (पिटारी) के नाम से जाना जाता है। ये पिटक संख्या में तीन हैं, (१) सुत्तपिटकः—इसमें सग्रहीत उपदेश स्वयम् गौतमबुद्ध द्वारा कहे हुए माने जाते हैं, (२) विनयपिटक :—इस पिटक में भिक्षुओं एवम् भिक्षुणियों के आचरण व्यवहार से सम्बन्धित सूक्ष्म से सूक्ष्म नियमों एवम् विधानों का सग्रह किया गया है, और (३) अभिधम्मपिटक :—इस सग्रह में पृथक-पृथक विषयों पर शास्त्रार्थों का सकलन किया गया है और भिन्न भिन्न लोकों में जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, शारीरिक गुणों, तत्वों, एवम् अस्तित्व के कारणों पर विचार किया गया है। संख्या में तीन होने के कारण इन्हें त्रिपिटक कहा जाता है।

पृष्ठ

४७ **बॉप(फ्रान्ज)**— १७६१–१८६७ ई०—एक जर्मन शब्द शास्त्रज्ञ था जिसने मैक्स-मूलर द्वारा उल्लिखित ग्रन्थ में, सर्व प्रथम, हिन्द यूरोपीय, भाषा-विज्ञान् के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का विकास किया"।

४८ **डुगल्ड स्टुअर्ट**—वह सन १७८५ से १८१० ई० तक एडिनवर्ग में नैतिक दर्शन (मारल फिलासफी) का प्रोफेसर था।

६१ **सर जॉन मॉलकम**—१७६६–१८३३ ई०—ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सैनिक एवम् कूटनितिक सेवाओं में सर जोन मालकम ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। उसने 'हिस्ट्री आव परशिया' के अतिरिक्त भारतीय ऐतिहासिक विषयों पर भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है।

विलसन— (होरेस हेमैन) १७८६–१८६० ई०—सन् १८०८ से १८३० ई० तक वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा में नियुक्त रहा, इसी अवधि में १८१६ से १८३२ ई० तक कलकत्ता की टकसाल मे परीक्षक के पद पर रहा। पूर्व देशीय भाषाओं का अच्छा ज्ञाता होने के साथ-साथ भाषाविद, इतिहासिक रसायन शास्त्री, अभिनेता, संगीतज्ञ, लेखक और मुद्राशास्त्री आदि के रूपों में भी वह कम महान नहीं था। उसकी सर्वाधिक विख्यात् एवम् लोकप्रिय रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—विलसन द्वारा सम्पादित विष्णुपुराण, ऋग्वेद, का अनुवाद और मिल लिखित 'हिस्ट्री ऑव इण्डिया का सम्पादन इत्यादि।

६५ **केशव चन्द्र सेन**:—१८३८–१८८४ : पाठकों को ज्ञात होगा कि सन् १८२८ ई० में राजा राममोहन राय ने ब्रह्मो समाज की स्थापना की थी, सन् १८६६ ई० में केशवचन्द्र सेन ने एक भिन्न भारतीय ब्रह्मो समाज की स्थापना की। केशवचन्द्र सेन ईसाई धर्म की मिशनरियों के घनिष्ट सम्पर्क में रहे और उन्हीं द्वारा निर्धारित पथों एवम् नियमों के आधार पर भारतीय समाज को सुधारने का प्रयत्न किया।

६५ **संस्कृत के एक अन्य प्रोफेसर**— ई० बी० कौवेल (१८२६–१९०३), जिसे सन् १८६७ ई० में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में संस्कृत का प्रथम प्रोफेसर नियुक्त किया गया। सन् १८५६ से १८६४ ई० तक वह कलकत्ता के प्रेसिडेन्सी कालेज मे इतिहास और राजनैतिक अर्थनीति का प्रोफेसर रहा। साथ ही १८५८ से १८६४ तक कलकत्ता के संस्कृत-कालेज के प्रधानाचार्य के पद पर भी कार्य किया। सन् १८६४ ई० में वह भारत से इग्लैण्ड चला गया।

६६ **कर्नल स्लीमन**—१७८८–१८५६ वह एक ख्यातिप्राप्त सैनिक, कूटनीतिज्ञ एवम् लेखक था। उसने अवध के संयुक्तीकरण का विरोध किया था।

पृष्ठ

६६ **मिल** (जेम्स)—वह विख्यात, ऐतिहासिक ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया' का लेखक था जो सन् १८१८ ई० में प्रकाशित हुई थी। वह बेन्थम एवम् रिकार्डो का सहयोगी तथा जान स्टुअर्ट मिल का पिता था।

६६ **डाक्टर राबर्ट्सन**—(विलियम) १७२१–१७९३ ई० वह स्काटलैण्ड का निवासी, एक प्रसिद्ध इतिहासकार तथा 'डिसक्विजिशन कन्सर्निंग द नालेज ह्विच द ऐशेन्ट्स हैड आव इण्डिया' नामक ग्रन्थ का लेखक था जो सन् १७९१ ई० में प्रकाशित हुई थी।

७० **सर हेनरी मेन**—१८२२–१८८८—सन् १८६२ से १८६९ तक वह सुप्रीम कौंसिल आव इण्डिया का लीगल मेम्बर रहा, तत्पश्चात् १८७८ ई० में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में न्याय-विधान का प्रोफेसर रहा। उसकी 'ऐन्शेन्ट ला' तथा 'विलेज कम्युनिटीज इन द ईस्ट ऐण्ड वेस्ट' नामक पुस्तकें पर्याप्त विख्यात हैं जो क्रमशः १८६१ और १८७१ में प्रकाशीत हुई थीं।

७० **मेगास्थनीज**—एक ग्रीक राज दूत था जो पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य की राज सभा में रहता था (ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी)।

७० **नियरकस**—वह एक ग्रीक एडमिरल था जो मेगास्थनीज से कई वर्ष पूर्व ही प्रसिद्ध यूनानी विजेता सिकन्दर महान के साथ भारत आ गया था।

८० **माउन्ट स्टुअर्ट एलफिन्सटन**—(१७७९–१८५९)–१८१९ से १८२७ ई० तक बम्बई के गवर्नर के पद पर रहा, उसने दो बार भारतके गवर्नर जनरल के पद को ठुकरा दिया। उसी के सम्मान में बम्बई के एलफिन्सटन कालेज की स्थापना हुई थी। इतिहास पर उनका विख्यात ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव इण्डिया' सन् १८४१ में प्रकाशित हुआ था जिसकी विशेषताओं के आधार पर उन्हें एक प्रतिभा सम्पन्न इतिहासकार माना जाता है।

८२ **विशप हेबर**—(१७८३–१८२६) कलकत्ता में विशप था, अपने मिशनरी के कार्यों के दौरान में उसने एकाधिक बार पूरे भारत का भ्रमण किया तथा 'जरनी थ्रू इण्डिया' नामक पुस्तक में उक्त यात्राओं के विवरण एवम् संस्मरण लिखे, उसकी मृत्यु त्रिचनापल्ली में हुई।

८६ **गैलीलिओ**—गैलीलेइ (१५६४–१६४२ ई०) इटली का एक विश्वविख्यात गणितज्ञ एवम् भौतिकशास्त्री था। उसने सर्व प्रथम सूर्य के घूमने से सम्बन्धित पूर्व प्रचलित मत का खण्डन करके प्रतिपादित किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती

पृष्ठ

है और पृथ्वी ही नक्षत्र मण्डल का केन्द्र है, और केवल इस यथार्थ मत के प्रतिपादन के कारण ही उसे मृत्यु दण्ड दिया गया। इटली में प्रयोगात्मक विज्ञान की स्थापना उसी ने की थी।

८६ डारविन—(चार्ल्स) १८०६–१८८२ प्राणियों के क्रमिक विकास के सिद्धान्त से सम्बन्धित उसका क्रान्तिकारी ग्रन्थ 'ओरिजिन आव द स्पीशीज' सन् १८५६ में प्रकाशित हुआ जिसका प्रारम्भ में धर्माचार्यों द्वारा घोर विरोध किया गया था।

६६ भीष्म—शान्तनु एवम् गंगा का पुत्र, जिसने महाभारत के युद्ध में पाण्डवों के विरुद्ध कौरवों का पक्ष लिया था, वे अपने ब्रह्मचर्य, बुद्धिमत्ता, शौर्य एवम् प्रतिज्ञा पालन के लिए विख्यात थे।

६७ शिखण्डी—महाभारत का एक पात्र जो जन्म से नारी था, परन्तु यक्षों द्वारा उसे पुरुष का रूप प्रदान किया गया था।

६८ दान्ते—१२६५-१३२१ : वह यूरोप के विश्वविख्यात कवियों में से एक था 'डिवाइना कमेडिया' उसकी इटेलियन भाषा में प्रथम साहित्यिक रचना थी।

१०२ भारतीय साहित्य का पुनरुत्थान युग—मैक्समूलर का मत था कि ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से ही संस्कृत साहित्य निष्क्रिय हो चला था, और यह स्थिति ईसा पश्चात् तृतीय शताब्दी तक बनी रही, इसी शताब्दी में संस्कृत साहित्य का पुनर्जागरण हुआ। मैक्समूलर के इस सिद्धान्त को अब मान्यता नहीं दी जाती, अधिकांश विद्वान इससे सहमत हैं कि मैक्समूलर के सिद्धान्त के विपरीत संस्कृत भाषा एवम् साहित्य का विकास क्रमिक एवम् अबाध था, इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए देखिए मैक-डानेल कृत 'संस्कृत लिटरेचर', पृ० ३२३, कीथ लिखित 'ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर' पृ० ३६, परन्तु वैदिक साहित्य और उत्तरवर्ती शास्त्रीय संस्कृत के बीच जिन अन्तरों का उल्लेख मैक्समूलर ने किया है, उन्हें आज भी मान्यता दी जाती है।

१०३ दयानन्द—दयानन्द सरस्वती, १८२७-१८८३ ई० : आर्य समाज के संस्थापक थे। वे वेदों को मुख्यतः वैदिक मंत्रों को—दैवी अभिव्यक्ति समझते थे, और एक सुधारक के रूप में उत्तर-वैदिक काल प्रचलित पाखण्डों एवम् अन्धविश्वासों के घोर विरोधी थे।

१०४ कनिष्क—भारत का सर्वाधिक विख्यात कुषाण राजा था। अधिकांश इतिहास-

पृष्ठ

कार ईसा पश्चात् द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्द्ध को उसका जीवन-काल मानते हैं। वह बौद्ध धर्म के साथ-साथ संस्कृत साहित्य का भी प्रेमी एवम् संरक्षक था।

२०५ **इतिहास एवम् आख्यान**—ऐसी कथाएँ एवम् ऐसा वृत्तान्त जिन्हें ऐतिहासिकता के आधार पर लिखा जाता था।

२०५ **पुराण**—अठारह विस्तृत ग्रन्थों की शृंखला, जिनमें पृथ्वी की सृष्टि एवम् अनेक प्राचीन राजवंशों इत्यादि का विवरण दिया गया है।

२०६ **कालिदास**—महान संस्कृत कवि एवम् नाटककार, ईसा पश्चात् पांचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को उसका जीवनकाल माना जाता है।

२०६ **हितोपदेश**—विभिन्न प्रकार की कथाओं का संग्रह जिनमें पशु-पक्षियों के माध्यम से बच्चों को नैतिक शिक्षा दी गई है।

२०६ **भर्तृहरि**—संस्कृत का एक विख्यात कवि एवम् वैयाकरण था जिसकी मृत्यु सन् ६५० ई० में हुई थी। उसने नीति, प्रेम एवम् योग में से प्रत्येक विषय पर सौ-सौ श्लोकों की रचना की थी।

२०६ **ए० हम्बोल्ट**—१७६९-१८५९ ई० : जर्मनी का एक विख्यात प्रकृतिवादी तथा महान विद्वान था जिसने वानस्पतिक भूगोल के निर्माण एवम् विकास में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया था। उसने अपने 'कासमॉस' नामक ग्रन्थ में विश्व का भौतिक विवरण देने का प्रयास किया है।

२०७ **जस्टिनियन**—कुस्तुन्तुनिया का सम्राट (सन् ५२७-५६५ ई०), लिखित एवम् वर्गीकृत रोमन विधान।

२०७ **वराहमिहिर**—एक विख्यात हिन्दू नक्षत्रशास्त्री एवम् 'वृहत संहिता' का लेखक।

१०८ **वर्नाफ** Burnouf—(यूजीन) १८०१-१८५२ ई० : पेरिस की एन्टीक सोसाइटी का संस्थापक। उसने अनुवाद सहित भागवत का सम्पादन किया एवम् 'सद्धर्म पुण्डरिका' नामक बौद्ध ग्रन्थ का अनुवाद किया था। वह जेन्द भाषा का अध्ययन करने वालों एवम् प्राचीन फारसी शिलालेखों को पढ़ने वाला प्रथम व्यक्ति, तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक मैक्समूलर का गुरु था।

१२२ **वाल्ट्स**—एक विख्यात जर्मन संग्रहकर्ता जिसका एक महत्वपूर्ण संकलन सन् १८५९ ई० में प्रकाशित हुआ था।

पृष्ठ

१३८ **कार्डिनल मैनिंग**—एक आंग्लिकन पादरी जो रोमन कैथोलिक चर्च में सम्मिलित हो गया था, वह एक धार्मिक राजनीतिज्ञ एवम् खण्डन प्रिय वक्ता था।

१४० **लासेन**—(क्रिश्चियन) १८००-१८७६ : पूर्वीय भाषाओं का एक जर्मन विद्वान जिसने भारत के प्राचीन वस्तुशिल्प पर एक विस्तृत लेख लिखा है।

१४० **बन्दिहश**—पहलवी में लिखा हुआ पारसियों का एक धर्म ग्रन्थ, यद्यपि इसकी रचना ईसा पश्चात् तृतीय शताब्दी में हुई थी, फिर भी इसमें अति प्राचीन सृष्टि के सिद्धान्तों का विवरण मिलता है और इस प्रकार यह 'जेन्द अवेस्ता' का फटक प्रतीत होता है।

१५७ **यूरिपिडीज**—ईसापूर्व ४८०-४०६—एक विख्यात ग्रीक नाटक कार,

१५७ **अनक्सागोरस**—एक ग्रीक दार्शनिक (ईसापूर्व ४२८); उसने एथेन्स में दर्शन शास्त्र के प्रथम विद्यालय की स्थापना की, उसके शिष्यों में से पेरिक्लीज, यूरिपिडीज एवम्साक्रेटीज विश्वविख्यात हैं।

१५७ **सुकरात**—४६८-३६६ ईसा पूर्व—एथेन्स का एक विख्यात विचारक एवम् दार्शनिक जिसके सिद्धान्त उसके दो शिष्यों प्लेटो एवम् जेनोफान की रचनाओं में सुरक्षित हैं। उस पर नास्तिकता का आरोप लगा कर एथेन्स के न्यायालय द्वारा उसे मृत्युदण्ड दिया गया था। कटु सत्यवादिता एवम् पाखण्डों की कटु आलोचनाओं के कारण ही वह लोक निन्दा का भागी बना था।

१६४ **स्काइलैक्स**—एक फारसी सेनानायक जिसने सर्वप्रथम सिन्ध नदी के मुहाने से फारस तक समुद्र यात्रा की थी।

१६६ **टालेमी**—एक ग्रीक नक्षत्र शास्त्री एवम् भूगोल शास्त्री जिसका जन्म ईसा पश्चात् द्वितीय शताब्दी में हुआ था।

१६६ **प्लिनी**—ईसा पश्चात् द्वितीय तृतीय शताब्दी का एक रोमन लेखक, उसका एक ग्रन्थ 'नेचुरल हिस्ट्री' सैंतीस खण्डों में है और साइक्लोपीडिया की कोटि में रक्खा जा सकता है।

१६६ **एर्रियन**—एक ग्रीक दार्शनिक एवम् इतिहासकार जिसका जन्म ईसा पश्चात् द्वितीय शताब्दी में हुआ था।

१६७ **हेसीकियस**—एलेग्जेण्ड्रिया का एक ग्रीक दार्शनिक जो ईसा पश्चात् छठवीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ था। उसने ब्रह्माण्ड के एक वृत्तान्त तथा साहित्यिक इतिहास के कोश की रचना की थी।

पृष्ठ

१७७ **देवापि**—एक पौराणिक नायक जिसके प्रयत्नों से उसके छोटे भाई के राज्य में बारह वर्षों के लम्बे सूखे के पश्चात् जलवृष्टि हुई थी, कथा के अनुसार इस सूखे का कारण यह था कि बड़े भाई के स्थान पर छोटा भाई राजा बन बैठा था।

१८६ **पेरिक्लियन युग**—ग्रीक इतिहास का सर्वाधिक समृद्ध युग-ईसा पूर्व पाचवीं शताब्दी, इस युग में एथेन्स का सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति पेरिक्लीज था जो एक महान वक्ता, एवम् कुशल राजनीतिज्ञ था, और एथेन्स ग्रीसका सर्वाधिक् शक्तिशाली एवम् समृद्ध नगर-राज्य था।

१९१ **आयोनियन**—ग्रीक जाति की तीन शाखाओं में से एक, शेष दो शाखाएँ थीं डोरियन एवम् एकियन।

१९२ **हेरोडोटस**—ईसा पूर्व ४८४-४२५ : एक ग्रीक इतिहासकार जिसका जन्म हेली-कर्नेस्सस में हुआ था, उसके द्वारा लिखित 'हिस्ट्रीज' के समस्त खण्ड अत्यन्त रोचक हैं, इन ऐतिहासिक ग्रन्थों का अधिकाश भाग व्यक्ति गत जानकारी, वयोवृद्धों द्वारा प्राप्त सूचनाओं एवम् प्राचीन लोककथाओं पर आधारित है।

१९२ **अनेग्जिमेण्डर**—ईसापूर्व ६१०-५४७—एक आयोनियन दार्शनिक था, वह थेल्स का शिष्य भी था और मित्र भी, जिसने आयोनियन मत की स्थापना की थी।

१९२ **एस्किलस**—ईसापूर्व ५२५-४५६ : ग्रीक भाषा के दुःखान्त नाटकों (ट्रेजेडी) जनक एस्काइलस की गणना विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों एवम् विचारकों में की जाती है।

१९२ **पीसीस्ट्रेटस एवम् पालीक्रेटोज**—क्रमशः एथेन्स और सेमस के प्रजापीड़क (टाइरन्ट शब्द के ग्रीक अर्थ में)।

१९३ **सेल्यूकस**—विख्यात विजेता सिकन्दर महान का सेनाध्यक्ष, सिकन्दर की मृत्यु एवम् उसके साम्राज्य के बिखर जाने के पश्चात् उसके द्वारा विजित एशिया क्षेत्रों को सेल्यूकस ने अपने अधिकार में ले लिया और सेल्यूसिडे वंश की स्थापना की जिसने ईसापूर्व ३१२ से ६४ तक सीरिया पर शासन किया।

१९३ **अर्मीनियन**—अरम में बसी हुई सेमिटिक जाति की एक शाखा का वशानुवर्ती नाम, अरम क्षेत्र दजला एवम् फरात नदियों के मुहानों के पास एक दलदली भाग में स्थित था।

१९८ **ताम्रलिप्ति**—इस स्थान को अब तमलुक कहा जाता है, यह स्थान मिदनापुर जिले में हुगली नदी के मुहाने के पास स्थित है।

१९८ **नालन्दा**—यह बिहार में एक बौद्ध चैत्य था, इसी से सम्बन्ध इसी नाम का एक

पृष्ठ

विश्वविद्यालय भी था, कुछ ही वर्ष पूर्व इस बौद्ध बिहार के कुछेक भागों की खुदाई की गई थी जिससे बौद्धों की महायान शाखा के इतिहास के सम्बन्ध में अनेक महत्व पूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हुईं।

१६८ जातकमाला—यह जन्म सम्बन्धी अनेक कथाओं का संग्रह है, इसका रचयिता आर्यसुर था जिसका जन्म सम्भवतः ईसा पश्चात् पाँचवीं शताब्दी में हुआ था।

१६८ दक्षिणी सागर के द्वीप—मलय द्वीप समूह।

१६६ सुइ-शिइ—एक प्राचीन चीनी अध्यापक एवम् उपदेशक।

२११ स्मृति—जो श्लोकों में लिखे गए थे—उदाहरणार्थ मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य तथा अन्याय स्मृतिकारों की रचनाएँ।

२१३ राजेन्द्र लाल मित्र—१८२४ १८६१—एक बंगाली विद्वान एवम् पुरातत्वज्ञ, वह एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल का अध्यक्ष भी था।

२१६ आपस्तम्ब—एक प्रसिद्ध ऋषि और यजुर्वेद के कर्मकाण्डों का टीकाकार, उक्त ऋषि द्वारा लिखित समस्त सूत्र आज भी उपलब्ध है।

२१६ अश्वलायन—ऋग्वेद की विभिन्न शाखाओं (मतों) में से एक का संस्थापक।

२२८ गोखले—एक समृद्ध परिवार में उत्पन्न गोखले जी ने युवावस्था में फारसी एवम् संस्कृत भाषाओं का गहन अध्ययन किया। राजनैतिक रंग मंच पर ख्याति प्राप्त करने के अतिरिक्त वेदान्त में भी विशेष रुचि रखते थे। अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने स्वीकार किया है कि वे अकेले राजनीतिज्ञ थे जिन्हें विशुद्ध रूप मे भारतीय राजनीति का ज्ञाता माना जा सकता था।

२३० बर्कले—(जार्ज) सन १६८४-१७५३ ई० : आयरलैण्ड का एक दार्शनिक जो कट्टर आदर्शवादी था।

२३० ब्रह्म सूत्र—इसकी रचना बद्रायन ने की थी, इसका रचना-काल अनिश्चित है, परन्तु अनुमानतः इसकी रचना ईसा सम्वत् के प्रारम्भ से पहले नहीं हुई होगी। अनेक मतों के दार्शनिकों ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे है, और इन सूत्रों को अपने अर्थ में डालने का प्रयास किया है। ब्रह्मसूत्र के सर्वाधिक विख्यात भाष्यकार हैं शंकर रामानुज, श्रीकंठ एवम् मध्व।

२३० पूर्वी देशों के पवित्र ग्रन्थ—(Sacred books of the East) यह एक संग्रह है जिसमें ५१ पूर्वीय धार्मिक ग्रंथों के अनुवाद संग्रहीत है, इस संग्रह का आयोजन एवम् सम्पादन मैक्समूलर ने अनेक विद्वानों के सहयोग से किया था।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१	२०	प्राच्य	प्राप्य
३०	११	यूजी	यूची
३०	२७	उसको संहिना	उसको न तो संहिता
३१	१०	और असत्	और न असत्
३१	१२	वैयक्तिक को जीवन	वैयक्तिक जीवन को
३२	४,५	अंग ' नहीं रहेंगी।	अंग को उद्वेलित किये बिना न नहीं रहेंगी।
३४	१२	प्रश्न	प्रज्ञा
३५	२६	अज्ञात है	अज्ञात हो जायेगा
३५	२६	संसार के इतिहास का	संसार का इतिहास
३६	८	अनुप्रमाणित	अनुप्राणित
३७	२५	इसमें	हममें
३६	४	हम और आज	हम और आप
४३	२६	सुन्दर	सुदूर
४८	१३	सुकूरात, जैलीलियो,	सुकरात, गैलीलियो
४८	१६	की भी विद्यालय	विद्यालय
४८	४	ईशावाह्य	ईशावास्य
४८	५	भुजिथा	भुजीथा
४८	६	नृणाम	ऋणाम्
४६	४	महान उद्घाटित	महान् तथ्य उद्घाटन
४६	२५	अस्मान्, ममय	आस्मान, समय
५१	१६	सिम्मों पूर्व पर	सिक्कों को पूर्वा०
५७	२७	प्रयाम	प्रयास
५७	२६	दोषारोपरण	दोषारोपण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५६	११,१२	उसके नव'''यूनानी ही है	उसका नव परिचित साथी जो (जो यूनानी ही है)
५६	२८	हैवात्	दैवात्
६३	१६	अध्ययन	अध्यापन
७२	१४	बैठकर पत्तों का	बैठकर देवगण पत्तों का
७२	१७	शपथ उसे	शपथ के बाद उसे
७३	६	दुर्घटना भी	दुर्घटना न भी
८१	२५	आज्ञा	आशा
९०	२१	इहलोल	इहलोक
९३	२४	यह	इस
९७	१०	लाटों	लार्डों
१०१	४	बोध	शोध
१०१	१२	जो कभी और	जो कभी ये और
१०४	८	शामन इमी	शासन में इसी
१०४	१५	पावनों	परवर्ता
१०७	१६	समाहृन	समाहृत
११४	८	जैन	जैव
११४	२१	अन्तिम	नश्वर
११७ टि०	२	शरनाणि	शस्त्राणि
११८	२१	स्वतुओं	वस्तुओं
१२०	१५	जिसमें	जिश्रम
१२२	१०	जगतियों के जीव	जातियों के जीवन
१२८	२०	स्वयं	एवम्
१२७	३	महत्ता को	महत्व का
१२७	११	सराहनीय	सारहीन
१२८	३२	घोषणा	पोषण
१२६	१०	स्वतः	रचना
१२६	११	आकार	आचार
१२६	१७	इतिहासकाल	इतिहासकार
१३२	१०	प्रकाशकों विक्रय	प्रकाशकों के विक्रय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३४	६	कर लीजिये	कह लीजिये
१३६	२०	पामुआ	पाथुआ
१३८	२४	एक अप्रतिकूल	एकदम प्रतिकूल
१३८	१४	परन्तु कभी	परन्तु
१४१	२६	जलप्पावन	जलप्लावन
१४४	१५	वैदिक	दैवी
१४८	५	तो मुझे इसका	तो इसका
१५०	२४	प्रथम न रहा हो	प्रथम रहा हो
१५६	११,२३	गति	शीत
१६२ टि०	२	अपसवाचक	अपत्यवाचक
१६७	५	चाग्रुभीगा	चन्द्रभागा
१६९	७	जीव	जीवन
१७०	१९	स्थिर है व	स्थिर है,
१७१	५	और न गर्मी	और गर्मी
१७१	६	प्रभाव	अभाव
१७१	१६	बदलों	बादलों
१७१	२३	निर्मलता	निर्बलता
१७१	२७	प्रवृत्तिगत	प्रकृतिगत
१७४	३	जेहोगा	जेहोवा
१७५	४	सुणादास	सुदास
१७६	२	शकों	शब्दों
१७६	२६	चक्कर में पड़कर	चक्कर में न पड़कर
१७७	४	धरती और आकाश	धरती और आकाश का
१७७	१३	देवादि	देवापि
१७८	७	के सामने का	के सामने जाने का
१७९	५	हमेशा	हमारे
१७९	२०	उच्चता	उच्चतम
१८०	१६	वेदनुनार	स्थित्यानुसार
१८४	२	कमी	ममी
१८४	२९	टकना	ढकना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८४	५	अर्यमन ये सभी	ये सभी
१८५	४७	संयुक्त का	का
१८५	१०	नाटिकाय	नाटकीय
१८७	३१	उषा	वर्षा
१८८	१५	में हूँ जो	ने जो
१८९	६	यह केवल है	यह केवल नाम है
१८९	१७	प्रवृत्ति	प्रकृति
१८९	२४	नाम नहीं हुए	नाम पर्याप्त नहीं हुए
१९३	१६	हो गया	होगा
१९६	६	सन्निहित	तन्निहित
१९७	७	यज्ञों पर के	यज्ञों के
१९७	टि० १	अनध्ययन	अनध्याय
२००	२	पूर्वाध्यी	पूर्वास्थिर
२००	१८	उपस्थित	उपस्थिति
२०१	३	विस्तर	विस्तार
२०१	४	गद्यात्मक	पद्यात्मक
२०३	२३	समाने	सामने
२०४	९	किस सम्यक्	किस प्रकार सम्यक्
२०५	२०	दृष्टि परे	दृष्टि से परे
२०८	२४	अलग	अलग
२१३	२१	अविदित	अविहित
२१४	२७	यज्ञाविधानो	यज्ञ विधानो
२१५	२६	अनियोता	अनियमितता
२२०	७	उया	गया